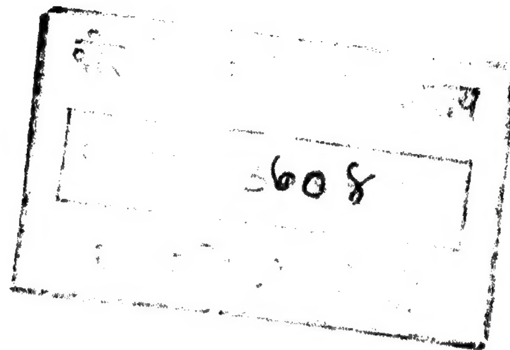
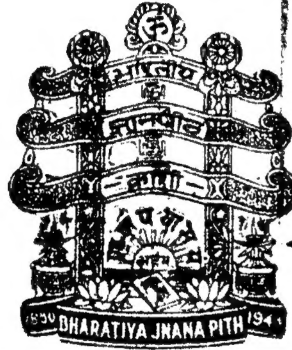


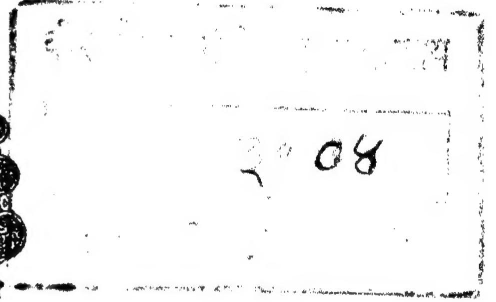
ज्ञान मन्दिर
न्यू सेण्ट्रल जूट मिल्स कम्पनी लिमिटेड,
बजबज, चौबीस परगना
की ओर से
श्री सिद्धचक्रविधान महोत्सव के
सानन्द सम्पन्न होने के उपलक्ष में
सादर भेंट

ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला [प्राकृत ग्रन्थाङ्क–१०]

पञ्चसंग्रहः

[संस्कृतटीका-प्राकृतवृत्ति-हिन्दीभाषानुवादसहितः]





—सम्पादक—

पण्डित हीरालाल जैन, सिद्धान्तशास्त्री

भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

प्रथम आवृत्ति
११०० प्रति

भाद्रपद, वीर नि० २४८७
वि० सं० २०१७
अगस्त १९६०

मूल्य
पन्द्रह रुपये

स्व० पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवीकी पवित्र स्मृतिमें तत्सुपुत्र साहू शान्तिप्रसादजी द्वारा

संस्थापित

भारतीय ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन-ग्रन्थमाला

प्राकृत ग्रन्थाङ्क १०

इस ग्रन्थमालामें प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड, तामिल आदि प्राचीन भाषाओंमें उपलब्ध आगमिक, दार्शनिक, पौराणिक, साहित्यिक और ऐतिहासिक आदि विविध-विषयक जैन साहित्यका अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन और उसका मूल और यथासम्भव अनुवाद आदिके साथ प्रकाशन होगा। जैन भण्डारोंकी सूचियाँ, शिलालेख-संग्रह, विशिष्ट विद्वानोंके अध्ययन-ग्रन्थ और लोकहितकारी जैन-साहित्य ग्रन्थ भी इसी ग्रन्थमालामें प्रकाशित होंगे।

ग्रन्थमाला सम्पादक
डॉ. हीरालाल जैन,
एम० ए०, डी० लिट्०
डॉ. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये,
एम० ए०, डी० लिट्०

प्रकाशक
मन्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ,
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी

मुद्रक—बाबूलाल जैन फागुल्ल, सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी

स्थापनाब्द
फाल्गुन कृष्ण ९
वीर नि० २४७०

विक्रम सं० २०००
१८ फरवरी सन् १९४४



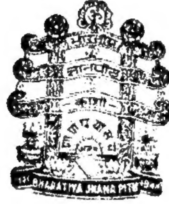
स्वर्गीय मातेश्वरी मूर्तिदेवी मातृ शान्तिप्रसाद जैन

JNĀNAPĪṬHA MŪRTIDEVĪ JAINA GRANTHAMĀLĀ
PRAKRIT GRNTHA, No. 10

PANCASANGRAHA

SANSKRIT ṬĪKĀ, PRĀKRIT VṚITTI AND

HINDI TRANSLATION



EDITOR

Pandit **HIRALAL JAIN** Siddhantashastri

Published by

BHĀRATĪYA JNĀNAPĪṬHA, KĀSHĪ

First Edition
1100 Copies

BHĀDRAPAD, VIRA SAMVAT 2487
V. S. 2017
AUGUST 1960

Price
Rs. 15/-

BHĀRATĪYA JÑĀNAPĪṬHA Kāshi

FOUNDED BY

SĀHU SHĀNTIPRASĀD JAIN

IN MEMORY OF HIS LATE BENEVOLENT MOTHER

SHRĪ MŪRTIDEVĪ

BHĀRATĪYA JNĀNAPĪTHA MŪRTIDEVĪ
JAIN GRANTHAMĀLĀ

PRAKRIT GRANTHA No. 10

IN THIS GRANTHAMĀLĀ CRITICALLY EDITED JAIN ĀGAMIC, PHILOSOPHICAL, PAURANIC, LITERARY, HISTORICAL AND OTHER ORIGINAL TEXTS AVAILABLE IN PRAKRIT, SANSKRIT, APABHRANSHA, HINDI, KANNADA, TAMIL ETC., WILL BE PUBLISHED IN THEIR RESPECTIVE LANGUAGES WITH THEIR TRANSLATIONS IN MODERN LANGUAGES

AND

CATALOGUES OF JAIN BHANDARAS, INSCRIPTIONS, STUDIES OF COMPETENT SCHOLARS & POPULAR JAIN LITERATURE WILL ALSO BE PUBLISHED.

General Editors
Dr. Hiralal Jain, M. A., D. Litt.
Dr. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.

Publisher
Secy., Bharatiya Jnanapitha,
Durgakund Road, Varanasi

Founded on
Phalguna krishna 9.
Vira Sam. 2470

Vikrama Samvat 2000
18 Febr. 1944.

प्रधान सम्पादकोंका वक्तव्य

कर्म और कर्मफलका चिन्तन मानव जीवनकी एक प्राचीनतम प्रवृत्ति है। प्रत्येक व्यक्ति यह देखना और जानना चाहता है कि वह जो कुछ करता है उसका क्या फल होता है। इसी अनुभवके आधारपर वह यह भी निश्चित करता है कि किस फलकी प्राप्तिके लिए उसे कौन-सा काम करना चाहिए। इस प्रकार मानवीय सभ्यताका समस्त ऐतिहासिक, सामाजिक व धार्मिक चिन्तन किसी-न-किसी प्रकार कर्म और कर्मफलको अपना विषय बनाता चला आ रहा है।

कर्म व कर्मफल सम्बन्धी चिन्तनकी दृष्टिसे संसारके समस्त दर्शनोंको दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—एक वे दर्शन हैं जो कर्मफल सम्बन्धी कारण-कार्य परम्पराको इस जीवन-भर तक चलनेवाली ही मानते हैं। वे यह विश्वास नहीं करते कि इस देहके विनष्ट हो जानेपर उसके कार्योंकी कोई परम्परा आगे चलती है। ऐसी मान्यता रखनेवाले दर्शनोंको भौतिकवादी कहा जाता है, क्योंकि उसके अनुसार जीवन सम्बन्धी समस्त प्रवृत्तियाँ पञ्चभूतोंके मेलसे प्राणीके गर्भ या जन्म-कालसे प्रारम्भ होती हैं और आयुके अन्तमें शरीरके विनष्ट होकर पञ्चभूतोंमें मिल जानेपर उसकी समस्त प्रवृत्तियोंका अवसान हो जाता है।

इसके विपरीत दूसरे प्रकारके वे दर्शन हैं जो मानते हैं कि पञ्चभूतात्मक शरीरके भीतर एक अन्य तत्त्व, जीव व आत्मा, विद्यमान है जो अनादि और अनन्त है। उसकी अनादि-कालीन सांसारिक यात्राके बीच किसी विशेष भौतिक शरीरको धारण करना और उसे त्यागना एक अवान्तर घटनामात्र है। आत्मा ही अपने भौतिक शरीरके साधनसे नाना प्रकारकी मानसिक, वाचिक व कायिक क्रियाओं द्वारा नित्य नये संस्कार उत्पन्न करता, उसके फलोंको भोगता और उन्हींके अनुसार एक योनिको छोड़ दूसरी योनिमें प्रवेश करता रहता है, जब तक कि वह विशेष क्रियाओं द्वारा अपनेको शुद्ध कर इस जन्म-मरण रूप संसारसे मुक्त होकर सिद्ध नहीं हो जाता। ऐसी ही मुक्ति व सिद्धि प्राप्त करना मानव-जीवनका परम उद्देश्य होना चाहिए और इसी उद्देश्यकी पूर्तिके लिए आचार्योंने धर्मका उपदेश दिया है। इस प्रकारकी मान्यताओंको स्वीकार करनेवाले दर्शन अध्यात्मवादी कहलाते हैं।

जैन-दर्शन अध्यात्मवादी है और कर्म-सिद्धान्त उसका प्राण है। जैन कर्म-सिद्धान्तमें यह चिन्तन बड़ी गम्भीरता, सूक्ष्मता और विस्तारसे किया गया है कि विश्वके मूल तत्त्व क्या हैं और उनमें किस प्रकारके विपरिवर्तनों द्वारा प्रकृति और जीवनके नाना रूपोंकी विचित्रता उत्पन्न होती है। जैन मान्यतानुसार विश्वके मूल तत्त्व दो हैं—जीव और अजीव अथवा चेतन और जड़। निर्जीव अवस्थामें पृथ्वी, जल, अग्नि व वायु ये सब एक ही जड़ तत्त्वके रूपान्तर हैं, जिसे जैन-दर्शनमें पुद्गल कहा गया है। आकाश और काल भी जड़ तत्त्व हैं, किन्तु वे उपर्युक्त पृथ्वी आदिके समान मूर्तिमान् नहीं अमूर्त्त हैं। जीव व आत्मा इन सबसे पृथक् तत्त्व है जिसका लक्षण है चेतना। वह अपनी सत्ताका भी अनुभव करता है और अपने आस-पासके पर पदार्थोंका भी ज्ञान रखता है। उसकी इन्हीं दो वृत्तियोंको जैन-सिद्धान्तमें दर्शन और ज्ञानरूप उपयोग कहा गया है। दैहिकावस्थामें यह जीव अपनी रागद्वेषात्मक मन-वचन-कायकी प्रवृत्तियों द्वारा सूक्ष्मतम पुद्गल परमाणुओंको ग्रहण करता है और उनके द्वारा नाना प्रकारके आभ्यन्तर संस्कारोंको उत्पन्न करता है। जिन सूक्ष्म परमाणुओंको जीव ग्रहण करता है उन्हें ही जैन सिद्धान्तमें कर्म कहा गया है। उनके आत्म-प्रदेशोंमें आ मिलनेकी प्रक्रियाका नाम आस्रव है, और इस मेलके द्वारा जो शक्तियाँ व आत्म-स्वरूपकी विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं उनका नाम बन्ध है। कर्म-बन्धकी इसी प्रक्रियाको विधिवत् समझाना जैन कर्म-सिद्धान्तका विषय है।

जैन-साहित्यमें कर्म-सिद्धान्तका सबसे प्राचीन प्रतिपादन पूर्वोमें किया गया था। जैन-धर्मके अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीरने जो उपदेश दिया उसको उनके गणधरों व साक्षात् शिष्योंने बारह अंगोंमें विभक्त किया। इन्हें ही द्वादशांग श्रुत या जैनागम कहा जाता है। बारहवें श्रुतांगका नाम दृष्टिवाद है और उसीके भीतर विद्यमान चौदह खण्डोंका नाम 'पूर्व' है। वे पूर्व इस कारण कहलाये कि भगवान् महावीरने उन्हींका सर्वप्रथम उपदेश दिया था। नाना उल्लेखोंपरसे यह भी अनुमान किया जाता है कि उनमें भगवान् महावीरसे भी पूर्वके तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तोंका समावेश किया गया था, और इसीलिए वे पूर्व कहलाये। दुर्भाग्यसे वे पूर्व नामक ग्रन्थ कालक्रमसे विनष्ट हो गये। तथापि जैन-समाजके दिगम्बर और श्वेताम्बर ये दोनों सम्प्रदाय इस सम्बन्धमें एकमत हैं कि उक्त १४ पूर्वोमें दूसरा पूर्व आग्रायणीय नामक था और उसीके भीतर कर्म-सिद्धान्तका सूक्ष्म विवेचन किया गया था। उसीके आधारसे पश्चात्कालमें दिगम्बर सम्प्रदायके क्रमशः षट्खण्डागम व उनकी धवला टीका, कषायप्राभृत और उसकी चूर्णि व जयधवला टीका, गोम्मटसार व उसकी टीकाएँ तथा प्राकृत व संस्कृत पञ्चसंग्रह नामक ग्रन्थोंकी रचना हुई, तथा श्वेताम्बर सम्प्रदायमें भी कर्मप्रकृति, पञ्चसंग्रह तथा उनके कर्म-ग्रन्थोंका निर्माण हुआ।

प्रस्तुत पञ्चसंग्रह नामक ग्रन्थ कर्म-सिद्धान्तकी उक्त दिगम्बर परम्पराकी एक विशिष्ट रचना है, जो हाल ही प्रकाशमें आई है। उसके पाँच प्रकरणोंके नाम हैं—जीवसमास, प्रकृति-समुत्कीर्तन, कर्मस्तव, शतक और सत्तरी। इनमेंसे प्रथम तीन अधिकारोंके नाम तो उनके विषयको सूचित करनेवाले हैं, किन्तु शतक और सत्तरी विषयको नहीं, किन्तु विषयको प्रतिपादन करनेवाली मूल सौ और सत्तर गाथाओंको देखकर रख दिये गये हैं। यथार्थतः ये नाम मूल ग्रन्थमें पाये भी नहीं जाते। शतककी प्रथम मूलगाथामें कहा गया है कि यह बन्ध-समास प्रकरण संक्षेप रूपसे कर्मप्रवाद नामक श्रुतसागरका निस्यन्दमात्र वर्णन किया गया है। इसी प्रकार सत्तरीकी प्रथम मूलगाथामें कर्ताने कहा है कि मैं यहाँ बन्धोदय व सत्त्व प्रकृति-स्थानोंको दृष्टिवादके निस्यन्द रूप संक्षेपसे कहता हूँ तथा ७१ वीं मूलगाथामें कहा है कि मैंने उक्त विषयका प्रतिपादन उस दृष्टिवादके आधारसे किया है जो दुर्गमनीय, निपुण, परमार्थ, रुचिर और बहुभङ्गी युक्त है।

श्वेताम्बर पञ्चसंग्रहमें भी अन्तिम दो प्रकरणोंके नाम ये ही शतक और सत्तरी पाये जाते हैं। उसके प्रथम तीन प्रकरणोंके नाम सत्वकर्मप्राभृत, कर्मप्रकृति और कषायप्राभृत ध्यान देने योग्य हैं। दिगम्बर परम्परामें कषायप्राभृत गुणधर आचार्यकृत गाथात्मक रचना है और उसमें रागद्वेषात्मक बन्धहेतुओंका ही प्ररूपण किया गया है। षट्खण्डागमकी धवला टीकाके अनुसार दृष्टिवादके द्वितीय पूर्व आग्रायणीयके पाँचवें अधिकारका नाम च्यवनलब्धि था और उसके २० पाहुड़ोंमेंसे चतुर्थ पाहुड़का नाम था कर्म-प्रकृति। इसी कर्म-प्रकृति पाहुड़के अन्तर्गत कृति, वेदना आदि २४ अधिकार थे जिनका संक्षेप परिचय षट्खंडागम व उसकी धवला टीकामें कराया गया है और उसे संतकम्मपाहुड़ भी कहा गया है। इस प्रकार जहाँ तक कर्म-सिद्धान्तका सम्बन्ध है, न केवल विषयकी दृष्टिसे किन्तु अपने प्राचीनतम ग्रन्थोंके नामों तकमें दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायोंके बीच कोई विशेष भेद नहीं पाया जाता।

प्रस्तुत पञ्चसंग्रहके पाँचों अधिकारोंमें मूल गाथाओंकी संख्या ४४५ तथा भाष्यगाथाओंकी संख्या ८६४ कुल १३०९ दिखाई देती है। प्रथम दो अधिकारोंमें भाष्यगाथाएँ नहीं हैं, तथा दूसरे प्रकरण प्रकृति-समुत्कीर्तनमें गाथाएँ केवल १० ही हैं, किन्तु कर्म प्रकृतियोंको गिनानेवाला बहुत-सा अंश प्राकृत गद्यमें है, जो षट्खंडागमके प्रथम खंड जीवट्ठाणकी प्रकृति-समुत्कीर्तन नामक प्रथम चूलिकासे प्रायः जैसेका-तैसा उद्धृत किया गया है और अधिकारका नाम भी वही है। समस्त रचना गोम्मटसारसे भी खूब मेल खाती है। गोम्मटसारका भी दूसरा नाम पञ्चसंग्रह है। वहाँ भी जीवकाण्डकी प्रथम गाथामें **'जीवस्स परूवणं वोच्छं'** रूपसे अधिकारके विषयका निर्देश किया गया है जो इस संग्रहमें भी जैसाका तैसा पाया जाता है। उसी प्रकार कर्मकाण्डके आदिमें **'पयडिसमुक्कित्तणं वोच्छं'** रूपसे जैसी अधिकारकी सूचना की गई है ठीक वैसी ही यहाँपर पाई जाती है। गोम्मटसारका तीसरा अधिकार 'बंधुदयसत्तजुत्तं ओघादेसे **थवं** वोच्छं' इस

प्रकार कर्मस्तव अधिकारकी सूचनासे प्रारंभ होता है और यहाँ 'बंधोदयसंतजुयं वोच्छामि थवं णिसामेह' इस प्रतिज्ञा वाक्यके साथ। चतुर्थ अधिकार कर्मकाण्डकी ७८५ वीं गाथामें **'पयडीणं पच्चयं** वोच्छं'के प्रतिज्ञा-वाक्यसे प्रारम्भ होता है, और यहाँ 'जं पच्चइओ बंधो हवइ'। पाँचवाँ प्रकरण दोनोंमें उक्त प्रकार व्यवस्थित रीतिसे मेल नहीं खाता। गोम्मटसारकी कुल गाथा संख्या १७०५ है, जिनमेंकी बहुत-सी, विशेषतः प्रस्तुत पञ्चसंग्रहके आदिके दो-तीन भागोंमें क्रमबद्ध जैसीकी तैसी पाई जाती हैं। यही कारण है कि इसके संस्कृत टीकाकार सुमतिकीर्तिने अपनी पुष्पिकाओंमें इसे गोम्मटसार व लघुगोम्मटसार सिद्धांतके नामसे उल्लिखित किया है। जो भी हो किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि गोम्मटसार और प्रस्तुत पञ्चसंग्रहमें असाधारण मेल है। बीस प्ररूपणाओं द्वारा जीव समास निरूपण इन दोनोंमें समान है।

गोम्मटसारके कर्ता नेमिचंद्र सिद्धांत-चक्रवर्ती और उसका रचना-काल १०वीं शतीके सम्बन्धमें कोई सन्देह नहीं। किन्तु प्रस्तुत पञ्चसंग्रहके कर्ता और उनके रचनाकालका कोई निश्चय नहीं पाया जाता। प्रस्तुत ग्रंथकी भूमिकामें सम्पादकने कल्पना की है कि इसकी एक गाथा धवला टीकामें भी पाई जाती है, इसलिए इसकी रचना उससे पूर्वकालकी होनी चाहिए, तथा कर्मप्रकृतिके कर्ता शिवशर्म ही श्वेताम्बर पञ्चसंग्रह अंतर्गत शतकके रचयिता भी माने जाते हैं, अतः उसका रचनाकाल इसकी पूर्वावधि कहा जा सकता है, और इस प्रकार इसकी रचना विक्रमकी ५वीं और ८वीं शतीके मध्यवर्ती कालमें हुई है। किन्तु पूर्वोक्त समस्त ग्रन्थ-परम्पराके प्रकाशमें यह कल्पना निर्णायक नहीं मानी जा सकती। विषयकी दृष्टिसे सम्पादकने हमारा ध्यान इसकी कुछ गाथाओंकी ओर आकर्षित किया है। इसके प्रथम अधिकारकी गाथा १०२-१०४ में द्रव्यवेदोंकी विपरीतताका उल्लेख किया गया है, जबकि धवलाकारने स्पष्ट कहा है कि वेद अन्तर्मुहूर्तक नहीं होते, क्योंकि जन्मसे लेकर मरण पर्यन्त एक ही वेदका उदय पाया जाता है। यही बात अमितगतिने अपने संस्कृत पञ्चसंग्रहकी गाथा १९१ में कही है। उसी प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थके प्रथम प्रकरण १९३ की गाथामें सम्यग्दृष्टि जीवकी छह अधस्तन पृथिवियों, ज्योतिषी, वाणव्यंतर और भवनवासी देवों तथा समस्त स्त्री पर्यायोंके अतिरिक्त बारह मिथ्यावादोंमें भी उत्पत्तिका निषेध किया गया है। किन्तु धवला और गोम्मटसारमें एक ही प्रकारसे उक्त निरूपण किया गया है जिसमें बारह मिथ्यावादका कोई उल्लेख नहीं है। यथार्थतः ये दोनों प्रकरण उक्त रचनाको धवलासे पूर्वकी नहीं, किन्तु उससे पश्चात्कालीन इंगित कर रहे हैं। धवलाकारने अपने पूर्ववर्ती सिद्धान्त ग्रन्थोंका यत्र-तत्र स्पष्ट उल्लेख किया है। यदि यह पञ्चसंग्रह उनके सम्मुख होता तो कोई कारण नहीं कि वे उसका उल्लेख न करते, विशेषतः बीस प्ररूपणाओंके प्रसंगमें जहाँ उन्हें शंका-समाधान रूपमें कहना पड़ा है कि उनके निर्देश सूत्रोंमें नहीं हैं। अन्य किन्हीं रचनाओंमें भी इस ग्रन्थका उल्लेख प्रकाशमें नहीं आया। संस्कृत पञ्चसंग्रहके कर्ता अमितगतिके सम्मुख कोई पूर्व-रचित पञ्चसंग्रह अवश्य था, जिसके अन्तिम दो प्रकरणोंके नाम शतक और सत्तरी थे। यह बात माने बिना उनके द्वारा स्वीकार किये गये इन नामोंकी सार्थकता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि वहाँ स्वयं इन प्रकरणोंमें सौ और सत्तर पद्योंसे अधिक पाये जाते हैं। सम्भव है प्रस्तुत पञ्चसंग्रहका मूलगाथा भाग ही उनके सम्मुख रहा हो। यदि यह बात ठीक हो तो इसके मूलरचनाकी उत्तरावधि वि० सं० १०७३ सिद्ध होती है, क्योंकि यही उस संस्कृत पञ्चसंग्रहकी रचनाका काल है। किन्तु इन दोनों रचनाओंमें जो अनेक भेद पाये जाते हैं, जिनका उल्लेख प्रस्तुत ग्रन्थके सम्पादकने अपनी भूमिकामें किया है, उन्हें देखते हुए यह बात भी सर्वथा सन्देहके परे नहीं कही जा सकती। इस प्रकार इस रचनाका काल-निर्णय अभी भी विशेष अध्ययनकी अपेक्षा रखता है। हो सकता है कि मूलतः ये पाँचों प्रकरण पृथक् स्वतन्त्र गाथा-संग्रह थे, जिन्हें एकत्र कर व अन्य कुछ गाथाएँ जोड़कर भाष्यकारने पञ्चसंग्रह नामसे प्रगट किया हो। इस सम्बन्धमें यह भी विचारणीय है कि जब पूर्वों व पाहुड़ोंकी परम्परामें षट्खण्डागम व धवला टीकाके काल तक कर्मसिद्धान्तका विवेचन बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्ध विधान इन चार अधिकारों द्वारा ही किया जाता रहा, तब यह पाँच अधिकारोंकी परम्परा कब कहाँसे चल पड़ी।

पञ्चसंग्रहका यह सर्व-प्रथम प्रकाशन है और उसमें उस समस्त साहित्यका समावेश कर दिया गया है जो मूल संग्रहके आश्रयसे निर्मित हुआ है। इसमें मूल और भाष्य गाथाओंके अतिरिक्त १७वीं शतीमें सुमतिकीर्ति द्वारा रचित टीका भी है, एक प्राकृत वृत्ति भी है तथा श्रीपालसुत डड्ढकृत संस्कृत पञ्चसंग्रह भी है। मूलका पाठ हिन्दी अनुवाद, पादटिप्पण तथा गाथानुक्रमणी व भूमिका परिश्रमसे तैयार किये गये हैं, जिसके लिए हम इसके सम्पादक पं० हीरालाल शास्त्रीको हृदयसे धन्यवाद देते हैं। इस प्रकाशन-के लिए ज्ञानपीठके अधिकारी अभिनन्दनीय हैं। इस ग्रन्थके द्वारा जैन कर्म-सिद्धान्तके अध्ययनको और भी अधिक गति मिलेगी, ऐसी आशा है।

हीरालाल जैन,
आ० ने० उपाध्ये
प्रधान सम्पादक

शोलापुर
१५-६-६०

सम्पादकीय वक्तव्य

पन्द्रह वर्षसे भी अधिक हुए, जब मुझे प्राकृत पञ्चसंग्रहकी मूल प्रति ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन ब्यावरसे प्राप्त हुई और तभी मैंने उसकी प्रतिलिपि कर ली। उसके पश्चात् अन्य कार्योंमें व्यस्त रहनेसे इच्छा रहनेपर भी मैं उसका अनुवाद प्रारम्भ नहीं कर सका। दिनाङ्क ८–३–५३ को अनुवाद करना प्रारम्भ किया, पर वह भी लगातार चालू नहीं रह सका और बीच-बीचमें व्यवधान पड़ता रहा। अन्तमें सन् १९५७ के दिसम्बरमें वह पूरा किया जा सका और उसके पश्चात् वह प्रकाशनार्थ भारतीय ज्ञानपीठ काशीको सौंप दिया गया। सम्पादक-मण्डलकी स्वीकृति मिल जानेपर ग्रन्थ प्रेसमें दे दिया गया। इसी समय पञ्चसंग्रहकी अधूरी संस्कृत टीका हस्तगत हुई और उसके प्रकाशनार्थ भी सम्पादक-मण्डलको लिखा गया। उसके भी प्रकाशनकी स्वीकृति मिलनेपर मूल और अनुवादके साथ नवमें फार्मसे उसका छपना प्रारम्भ कर दिया गया। इसी बीच प्राकृतवृत्तिकी प्रति आमेरके भण्डारसे और डड्ढाकृत संस्कृत पञ्चसंग्रहकी प्रति ईडरके भण्डारसे प्राप्त हुई। दोनोंकी उपयोगिता समझकर उनके भी प्रकाशनार्थ सम्पादक-मण्डलने स्वीकृति दे दी और अनुवादके अन्तमें दोनोंको मुद्रित करनेका निर्णय किया गया। फलस्वरूप १८ मासमें यह सम्पूर्ण ग्रन्थ मुद्रित हो सका है। इस प्रकार पूरे पन्द्रह वर्षके पश्चात् पञ्चसंग्रहके सानुवाद-प्रकाशनकी भावना पूर्ण हुई। इसके लिए मैं भारतीय ज्ञानपीठके संस्थापक, संचालक और सम्पादक-मण्डलका आभारी हूँ।

ग्रंथके सम्पादनमें पहले मूलगाथा दी गई है, उसके नीचे संस्कृत टीका (जहाँसे वह उपलब्ध हुई) और उसके नीचे हिन्दी अनुवाद दिया गया है। अमितगतिकृत मुद्रित मूल-संस्कृत पञ्चसंग्रहके जो श्लोक मूल गाथाके छायानुवाद रूप हैं, उन्हें गाथारम्भमें रोमन अङ्कोंके द्वारा टिप्पण-अङ्क देकर टिप्पणीमें सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। दूसरे ग्रन्थोंमें पायी जानेवाली या समता रखनेवाली गाथाओंके ऊपर हिन्दी अङ्कोंमें टिप्पण-अङ्क देकर उसके नीचे टिप्पणीमें स्थान दिया गया है। तदनन्तर प्रतियोंमें प्राप्त होनेवाले पाठ-भेदोंको (+) इत्यादि प्रकारके चिह्न-विशेष देकर टिप्पणीमें स्थान दिया गया है। इन तीनों प्रकारकी टिप्पणियोंमेंसे प्रथम प्रकारकी टिप्पणीको ग्रन्थारम्भसे लेकर ग्रन्थ-समाप्ति तक चालू रहनेके कारण प्रथम स्थान देना उचित समझा गया है।

संस्कृत टीका-गत जो पद्य जिस ग्रन्थके रहे हैं, उनकी सूचना टिप्पणीमें यथास्थान कर दी गई है। डड्ढाकृत संस्कृत पञ्चसंग्रहमें जो टिप्पणियाँ दी गई हैं, वे सब आदर्श प्रतिके हासियेपर लिखी हुई प्राप्त हुई हैं। प्रतिकी प्राचीनता, लेखनकी समता और अर्थ-बोधकी सरलता आदि कई बातें ऐसी हैं जो हमें यह कहनेके लिए प्रेरित करती हैं कि इन टिप्पणियोंको स्वयं ग्रन्थकार श्री डड्ढाने ही लिखा है।

पञ्चसंग्रह जैसे प्राचीन एवं दुर्गम ग्रन्थके अनुवादका काम कितना कठिन रहा है, यह उसके अभ्यासियोंसे छिपा न रहेगा। मैंने शक्ति-भर पूरी सावधानी रखी है, फिर भी यदि कहीं कोई चूक रह गई हो, तो विद्वान् पाठकोंसे निवेदन है कि वे उसका सुधार कर लेवें और उससे मुझे सूचित करें।

किसी भी ग्रन्थकी प्रस्तावना लिखनेका कार्य अनुवादसे अधिक कठिन होता है। फिर जिसके कर्त्ता आदिका पता न हो, और दि० श्वे० दोनों सम्प्रदायोंमें मान्य रहा हो, तथा जिसपर दोनों सम्प्रदायके आचार्योंने स्वतन्त्र चूर्णि और टीका-टिप्पण आदि लिखे हों, उसकी प्रस्तावना लिखनेका कार्य तो और भी अधिक गुरुतर एवं समय-साध्य होता है। उसके लिए पर्याप्त समय और पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री अपेक्षित है। मेरे लिए समय और साधन दोनोंकी कमी रही है, इसलिए चाहते हुए भी मैं उन सब बातोंपर प्रकाश नहीं डाल सका हूँ, जिनपर कि उसकी आवश्यकता थी। फिर भी कुछ महत्त्वपूर्ण बातोंकी मैंने प्रस्तावनामें चर्चा की है और आशा करता हूँ कि इस विषयके अधिकारी विद्वान् अपेक्षित सभी मुख्य बातोंपर अनुसन्धान करेंगे और उसे

पाठकोंके सामने रखेंगे। खास तौरसे वे 'पञ्चसंग्रहकार कौन हैं, उनका समय क्या रहा,' इस महत्त्वपूर्ण प्रश्नके समाधानके लिए अपनी अनुसन्धान-प्रवृत्तिको आगे बढ़ावें, ऐसा मेरा नम्र निवेदन है। प्रस्तावनाके लिए ग्रन्थको और आगे रोकना मैंने उचित नहीं समझा और इसलिए जैसी भी सम्भव हो सकी है, वैसी लिख-कर उसे पाठकोंके सम्मुख उपस्थित करना ही उचित समझा है।

प्रतियोंकी प्राप्तिके लिए मैं श्री ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन ब्यावर, दि० जैन पंचायती मन्दिर, खजूर मस्जिद दिल्ली, दि० जैनशास्त्र-भण्डार ईडर और श्रीमहावीर-शास्त्र-भण्डार जयपुरके संचा-लकों और व्यवस्थापकोंका आभारी हूँ, जिन्होंने कि अपने-अपने भण्डारोंसे अलभ्य प्राचीन प्रतियाँ प्रस्तुत संस्करणके लिए भेजी हैं। पं० परमानन्दजी शास्त्रीने भी अपनी हस्तलिखित मूल प्रति और प्राकृतवृत्ति मिलानके लिए दी, इसलिए मैं उनका भी आभारी हूँ।

ग्रन्थके अधिकार-विभाजनमें श्री पं० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्त-शास्त्रीने समय-समयपर समुचित परामर्श दिया और संस्कृत टीकाके भी साथमें प्रकाशनार्थ प्रेरणा दी, इसके लिए मैं उनका भी आभारी हूँ। ग्रन्थ-गत अनेक संदिग्ध पाठोंके निर्णय करनेमें तथा अनुवाद-सम्बन्धी कितनी ही गुत्थियोंके सुलझानेमें श्री० पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीका सदैवकी भाँति पूर्ण साहाय्य प्राप्त हुआ है, इसलिए मैं उनका भी बहुत आभारी हूँ। सिद्धान्त ग्रन्थोंके गहरे अभ्यासी श्री० ब्र० रतनचन्द्रजी नेमिचन्द्रजी सहारनपुरसे भी समय-समयपर समुचित सूचनाएँ मिलती रही हैं, और श्री० पं० महादेवजी चतुर्वेदी, व्याकरणाचार्य काशीसे अनेक संदिग्ध पाठोंके संशोधनमें भरपूर सहयोग मिला है; एतदर्थ मैं उनका भी आभारी हूँ।

ग्रन्थ-मुद्रणके समय प्रूफ़-संशोधनार्थ मुझे भारतीय ज्ञानपीठ काशीमें तीन बार लम्बे समय तक ठहरना पड़ा। उस समय मेरी सुख-सुविधा एवं मुद्रण आदिकी समुचित व्यवस्था करनेमें ज्ञानपीठके व्यवस्थापक और उनके स्टाफके समस्त सदस्योंका जो प्रेममय व्यवहार रहा है, उसके लिए मैं किन शब्दोंमें अपनी कृतज्ञता व्यक्त करूँ। सन्मति-मुद्रणालयके कम्पोजीटर्स और कर्मचारियों तकका मेरे साथ मधुर व्यवहार रहा है, इसके लिए मैं उन सबका आभारी हूँ।

श्रावक-शिरोमणि श्रीमान् साहू शान्तिप्रसादजी द्वारा संस्थापित एवं सौ० श्री रमारानी द्वारा संचालित यह भारतीय ज्ञानपीठ अपने पवित्र सदुद्देश्योंकी पूर्तिमें उत्तरोत्तर अग्रेसर रहे, यही अन्तिम मङ्गल-कामना है।

भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
२९-४-६०

—हीरालाल शास्त्री
साढ़ूमल (झांसी)

प्रस्तावना

मूलग्रन्थ प्रति-परिचय

आ यह प्रति श्री ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन ब्यावरकी है। प्राकृत पञ्चसंग्रहकी जितनी भी प्रतियाँ हमें मिल सकीं, उनमें यह सबसे प्राचीन है और अत्यन्त शुद्ध भी है। हमने इसीको आधार बनाकर पञ्चसंग्रहकी प्रतिलिपि की, अतः यह हमारे लिए आदर्श-प्रति रही है।

इस आदर्श-प्रतिका आकार १३ × ५ इंच है। पत्र-संख्या ७१ है। पत्रके प्रत्येक पृष्ठपर पंक्ति-संख्या १० है और प्रत्येक पंक्तिमें अक्षर-संख्या लगभग ५० के है। इस प्रकार पञ्चसंग्रहकी समस्त गाथाओं, अंक-संदृष्टियों और गद्यांशोंका श्लोक-प्रमाण लगभग ढाई हजार है।

प्रतिके प्रथम पत्रके ऊपरी पृष्ठपर 'पंचसंग्रह ग्रंथ, दिगम्बर जैन मन्दिर भोजगढ़, राज सवाई जैपुर' लिखा है। प्रतिके अन्तमें लेखक-प्रशस्ति इस प्रकार पाई जाती है—

"संवत् १५३७ वर्षे आषाढ़ सुदि ५ श्रीमूलसंघे नंद्याम्नाये बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारकश्रीपद्मनन्दिदेवास्तत्पट्टे भट्टारकश्रीशुभचन्द्रदेवास्तत्पट्टे भट्टारकश्रीजिनचन्द्रदेवास्तच्छिष्यमुनिश्रीभुवनकीर्त्तिस्तदाम्नाये खंडेलवालान्वये राउकागोत्रे साधु थेल्हा तद्भार्या थेल्हसिरी, तत्पुत्रास्त्रयो धीरा दानपूजातत्पराः साधु नापा, द्वितीय माणा, तृतीय षेता। नापा-भार्या गोगल, तत्पुत्र दासा। एतेषां मध्ये साधु नापाख्येन इदं ग्रन्थं लिखाप्य बाई गूजरिजोगु दत्तं विद्वद्भिः पठ्यमानं चिरं नंदतु ॥०॥श्री॥"

उक्त प्रशस्तिसे सिद्ध है कि यह प्रति ४८० वर्ष प्राचीन है। इसे खंडेलवाल-वंशीय एवं रांवका-गोत्रीय नापासाहुने लिखवाकर किसी ब्रह्मचारिणी बाई गूजरिजोगुके पठनार्थ प्रदान किया है। नापासाहुने अपने जन्मसे किस नगर या ग्रामको पवित्र किया, इस बातका पता उक्त प्रशस्तिसे नहीं लगता है। संभव है कि प्रशस्तिमें दी गई भट्टारक-परम्पराकी विशेष छान-बीन करनेपर नापासाहुकी जन्म-भूमि आदिका कुछ पता लग जावे।

ब यह प्रति भी श्री ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवनकी है। उपलब्ध प्रतियोंमें प्राचीनताकी दृष्टिसे इसका दूसरा स्थान है और यह भी पूर्व प्रतिके समान शुद्ध है। हाँ, प्राकृत भाषा-सम्बन्धी अनेक पाठ-भेद इसमें पाये जाते हैं, जिन्हें हमने यथास्थान टिप्पणमें ब संकेतके साथ दिया है। दोनों प्रतियोंमें एक मौलिक अन्तर है। शतक-प्रकरणकी गाथा नं० ६ आदर्शप्रतिमें नहीं है, जबकि वह इस प्रतिमें तथा इसके अतिरिक्त उपलब्ध अन्य अनेक प्रतियोंमें पाई जाती है।

इस प्रतिका आकार लेना हम भूल गये। पत्र-संख्या १०६ है। पत्रके प्रत्येक पृष्ठपर पंक्ति-संख्या १० है और प्रत्येक पंक्तिमें अक्षर-संख्या ३४-३५ के लगभग है। इस प्रतिमें ग्रन्थ-समाप्तिकी सूचना करते हुए निम्न गद्य-सन्दर्भ भी पाया जाता है—

"इति पंचसंग्रहः समाप्तः ॥ श्री ॥ ★ ॥ वासपुधत्तं त्रयाणामुपरि नवानां मध्यं ४–५–६–७–८–९॥ श्री क्वचित्समाप्तौ चेति दृश्यते ॥७।८॥ अंतःकोडाकोडिसंज्ञा सागरोपमैककोट्युपरि कोटीकोटीमध्यं। अन्तःकोडाकोडिसंज्ञा गोमटसारटीकायां समयूणकोडाकोडिप्पहुदि समयाहियकोडि त्ति॥"

इस गद्य-सन्दर्भमें किसी पाठकने तीन बातोंकी जानकारी दी है—पहली बातमें वर्षपृथक्त्वका प्रमाण बतलाया है कि तीन वर्षसे ऊपर और नौ वर्षसे नीचेके मध्यवर्ती कालको वर्षपृथक्त्व कहते हैं। दूसरी बात 'इति' शब्दके सम्बन्धमें बतलाई है कि इति शब्दका प्रयोग कहीं 'समाप्ति'के अर्थमें भी देखा जाता है। तीसरी बात जो बतलाई गई है, वह एक सैद्धान्तिक मत-भेदको व्यक्त करती है। एक मतके अनुसार एक सागरोपम कोटि वर्षसे ऊपर और एक सागरोपम कोटाकोटि वर्षसे नीचेके कालको 'अन्तःकोडाकोडी' कहते हैं। किन्तु गोम्मटसारकी टीकामें एक समयाधिक कोटिवर्षसे लेकर एक समय-कम कोटाकोटिवर्ष तकके कालको अन्तःकोडाकोडी कहा गया है।

इसके पश्चात् लेखकने अपनी प्रशस्ति इस प्रकार दी है—

"॥श्री॥ संवत् १५४८ वर्षे आसो सुदि ३ शनौ सागवाडाशुभस्थाने श्री आदिनाथ चैत्यालये श्री मूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ० श्री विजयकीर्त्ति तच्छिष्य आ० श्री अभयचन्द्रदेवाः तच्छिष्य मु० महीभूषणेन कर्मक्षयार्थं स्वयमेव लिखितं ॥छ॥ शुभं भवतु ॥"

॥ श्री ॥ श्री ॥ श्री ॥ श्री ॥ श्री ॥ श्री ॥ श्री ॥

इस प्रशस्तिमें लेखकने प्रायः सभी आवश्यक बातोंकी जानकारी दे दी है। तदनुसार यह प्रति आजसे ४६९ वर्ष पूर्वकी लिखी हुई है। इसके लेखक मुनि महीभूषणने सागवाड़ाके श्री आदिनाथ चैत्यालयमें बैठकर कर्म-क्षयके लिए स्वयं ही अपने हाथसे इसे लिखा है। इस दृष्टिसे इस प्रतिका महत्त्व बहुत अधिक है कि वह एक मुनिके हाथसे लिखी हुई है और उस समय—जब कि जीवराज पापड़ीलाल जैसे सम्पन्न गृहस्थ सहस्रों जैन मूर्त्तियोंके निर्माण और प्रतिष्ठापनमें लग रहे थे, तब एक साधु कर्म-सिद्धान्तके एक प्राचीन ग्रन्थको लिखकर कर्म-क्षयके लिए अपनी आत्म-साधनामें संलग्न थे। आज भी यह अनुकरणीय है।

उक्त प्रशस्तिके पश्चात् भिन्न वर्णकी स्याही और बारीक कलमसे लिखा है—

"मुनिश्रीरविभूषणस्तच्छिष्य ब्रह्मगणजीष्णोरिदं पुस्तकं ॥"

तत्पश्चात् भिन्न कलमसे 'ब्र० वछराज' लिखा है। तदनन्तर इसके नीचे अन्य स्याही और अन्य कलमसे लिखा है—

"इदं पुराणं आचार्य श्री रामकीर्त्तिको छै"

ऊपरके इन उल्लेखोंसे पता चलता है कि मुनि महीभूषणके पश्चात् उक्त प्रति मुनि श्री रविभूषणके शिष्य ब्रह्मगण जिष्णुके पास रही है। तदनन्तर ब्र० वच्छराजजीके अधिकारमें रही है, जो कि अपना नाम तक भी शुद्ध नहीं लिख सकते थे। उनके पश्चात् यह प्रति 'श्री रामकीर्ति' के पास रही है। उनके ज्ञान और भावनाका अनुमान इस जरा-सी पंक्तिसे ही हो जाता है कि वे पंचसंग्रह जैसे कर्म-सिद्धान्तके ग्रन्थको एक पुराण ही समझते हैं और इसपर अपना अधिकार बतलानेके लिए स्वयं ही अपने आपको "आचार्यश्री" बतलाते हुए "रामकीर्त्तिको छै" लिख रहे हैं। ये आचार्य नहीं, किन्तु कोई ऐसे भट्टारक प्रतीत होते हैं, जिन्हें उक्त पंक्तिके प्रारम्भिक 'इदं' पदका 'अस्ति' क्रियाके साथ सम्बन्ध जोड़ने और पद-विभक्तिको शुद्ध लिखने-का भी संस्कृत ज्ञान नहीं था।

उपरि-निर्दिष्ट दोनों प्रतियोंके अतिरिक्त हमें जयपुर-शास्त्र भण्डारकी दूसरी दो और प्रतियाँ भी श्री कस्तूरचन्द्रजी काशलीवालकी कृपासे प्राप्त हुईं, जो कि ऐलक सरस्वती भवनकी प्रतियोंके बादकी लिखी हुई हैं। इनमें प्रायः वे ही पाठ उपलब्ध हुए, जो कि ऊपरकी दोनों प्रतियोंमें पाये जाते हैं। किन्तु अपेक्षाकृत ये दोनों प्रतियाँ कुछ स्थलोंपर अशुद्ध लिखी दृष्टि-गोचर हुईं, अतएव उनके साथ प्रेस-कापीका मिलान करनेपर भी उनके पाठ-भेद देना हमने आवश्यक नहीं समझा और इसीलिए उन प्रतियोंका कोई परिचय भी नहीं दिया जा रहा है।

संस्कृत टीका प्रतिका परिचय

द यह प्रति श्रीदि० जैन पंचायती मन्दिर खजूर मस्जिद दिल्लीके प्राचीन शास्त्र-भण्डारकी है। यद्यपि यह प्रति अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण और खण्डित है, तथापि उक्त शास्त्रभण्डारके संरक्षकोंने उसका जीर्णोद्धार करके उसे पढ़ने और प्रतिलिपि करनेके योग्य बना दिया है। वर्तमान प्रतिमें प्रारम्भके दो पत्र तथा १८१ और १९४ का पत्र तो बिलकुल ही नहीं हैं, १८२ वाँ पत्र आधा है और २४–२५वाँ पत्र खण्डित एवं गलित है तथा बीचके कितने ही पत्रोंमें पानी लग जानेके कारण स्याही फैल गई है। इस प्रतिके अन्तमें पत्र-संख्या यद्यपि २०१ दी हुई है तथापि उसकी प्रतिलिपि करते समय ज्ञात हुआ कि प्रारम्भसे लेकर ५४वें पत्रके उत्तरार्धकी १३वीं पंक्ति तक तो पञ्चसंग्रहकी केवल मूल गाथाएँ ही लिखी गई हैं, टीकाका प्रारम्भ तो इस पत्रके उत्तरार्धकी १३वीं पंक्तिके 'खीयंति ॥३३॥ च्छ्वासाः ४ प्रत्येकशरीरं'से होता है। इस स्थलको देखते

हुए यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि इस प्रतिके लेखकको भी प्रस्तुत टीका प्रारम्भसे नहीं प्राप्त हुई है, प्रत्युत मूल पञ्चसंग्रह और उसकी संस्कृत टीकाकी खण्डित प्रतियाँ ही प्राप्त हुई हैं और लेखकने उसकी पूर्वापर छान-बीन किये बिना ही प्रतिलिपि करते हुए एक ही सिलसिलेसे पत्रोंपर अङ्क-संख्या डाल दी है।

पत्र ५४के जिस स्थलसे टीकाका 'प्रत्येकशरीरं' अंश प्रारम्भ होता है, वह यह सूचित करता है, कि इस प्रतिके लेखकके सामने प्रस्तुत टीकाका प्रारम्भिक अंश नहीं रहा है। गहरी छान-बीनके बाद ज्ञात हुआ कि टीकाका जो अंश उपलब्ध हो रहा है, वह पञ्चसंग्रहके तीसरे कर्मस्तवकी ४० वीं गाथाके चतुर्थ चरणका टीकांश है। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकला कि पञ्चसंग्रहके समग्र प्रथम, द्वितीय प्रकरणोंकी, तथा तृतीय प्रकरणके प्रारम्भसे लेकर ४० गाथाओंकी टीका अनुपलब्ध है। फिर भी यह उचित समझा गया कि जहाँसे भी टीका उपलब्ध है, वहाँसे ही मुद्रित कर देना चाहिए। अन्यथा कालान्तरमें यह अवशिष्ट अंश भी नष्ट हो जावेगा।

उपलब्ध प्रतिका आकार ८½ × ४¾ इञ्च है। पत्र-संख्या २०१ है। प्रत्येक पत्रमें पंक्तिसं० पत्र ५५ तक १६ और आगे १५ है। प्रत्येक पंक्तिमें अक्षर-संख्या ५०–५२ है। यदि प्रारम्भकी अप्राप्त टीकाके पत्रोंकी संख्या ५४ ही मान ली जाय तो प्रस्तुत टीका १० हजार श्लोक प्रमाण सिद्ध होती है। इसमेंसे यदि मूल ग्रन्थकी गाथाओंका लगभग दो हजार प्रमाण कम कर दिया जावे, तो टीका परिमाण आठ हजार श्लोक-प्रमाण ठहरता है। प्रस्तुत प्रतिके अन्तमें निम्न पुष्पिका पाई जाती है—

"सं० १७११ वर्षे शाके १५७६ प्रवर्तमाने आश्विन सुदि ९ सोमवासरे श्रीपट्टणानगरे चतुर्मासि कृता। श्रेयोऽर्थं कल्याणमस्तु।"

प्रतिके इस लेखनकालसे ज्ञात होता है कि यह टीका-प्रति टीका-रचनाके ठीक ९१ वर्षके बाद लिखी गई है। यद्यपि लेखक या लिखानेवालेका इसमें कोई उल्लेख नहीं है तथापि 'चतुर्मासि' कृता पदसे यह अवश्य ज्ञात होता है कि किसी अच्छे ज्ञानी साधु, भट्टारक या ब्रह्मचारीने पटना नगरमें किये हुए चौमासेमें इसे लिखा है। इस प्रतिके अक्षर अत्यन्त सुन्दर हैं और प्रायः सभी संदृष्टियोंकी रेखाएँ लाल स्याहीसे खींची गई हैं।

इस टीका-प्रतिको देखते हुए ऐसा स्पष्ट ज्ञात होता है कि इस प्रतिके लिखे जानेके पश्चात् किसी विद्वान्‌ने उसे पढ़ा है और संशोधन भी किया है जो कि हासियेपर भिन्न स्याही और भिन्न कलमसे अंकित है।

प्राकृतवृत्ति-परिचय

संस्कृत-टीकाकी प्रशस्तिके पश्चात् परिशिष्ट रूपमें जो प्राकृत वृत्ति-सहित मूल पंचसंग्रह मुद्रित (पृ० ५४७ई०) किया गया है, उसकी दो प्रतियाँ हमें उपलब्ध हुईं—एक श्री कस्तूरचन्द्रजी काशलीवालकी कृपासे जयपुर शास्त्र-भण्डारकी और दूसरी पं० परमानन्दजी शास्त्रीकी कृपासे—जिसपर कि ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन बम्बईकी मुहर लगी हुई है। इन दोनोंमें पहली बहुत प्राचीन है और दूसरी एक दम अर्वाचीन। वस्तुतः इसे नवीन ही कहना चाहिए, क्योंकि यह १५-२० वर्ष पूर्वकी ही लिखी हुई है और बहुत ही अशुद्ध है। इस प्रतिके लेखकने जिस प्राचीन प्रति परसे उसकी प्रतिलिपि की, वह सम्भवतः प्राचीन लिपिको ठीक पढ़ नहीं सका और इसीलिए उसकी प्रत्येक पंक्ति अशुद्धियोंसे भरी हुई है।

जयपुर-शास्त्र-भण्डारकी जो प्रति प्राप्त हुई, उसके आधारपर ही प्राकृत-वृत्तिकी प्रेस कापी की गई है। प्रतिलिपि करते हुए हमें यह अनुभव हुआ कि जहाँ एक ओर वह प्रति उपरिनिर्दिष्ट समस्त प्रतियोंमें सर्वाधिक प्राचीन है, वहाँपर उसकी लिखावट भी अति दुरूह है। इसके लिखनेमें—खासकर नहीं पढ़े जा सकनेवाले सन्दिग्ध पाठोंके शुद्ध रूपकी कल्पना करनेमें हमें पर्याप्त परिश्रम करना पड़ा है, तथापि कितने ही स्थल संदिग्ध ही रह गये और उनके स्थानपर या तो [ ] इस प्रकारके खड़े कोष्ठकके भीतर कल्पित पाठ लिखा गया, अथवा (?) ऐसे गोल कोष्ठके भीतर प्रश्नवाचक चिह्न देकर छोड़ देना पड़ा। इस प्रतिका आकार १२ × ४½ इंच है और पत्र संख्या ९८ है। वेष्टन नं० १००४ है।

प्रतिके अन्तमें जो लेखक-प्रशस्ति पाई जाती हैं, वह इस प्रकार है—

"संवत् १५२६ वर्षे कातिक सुदि ५ श्रीमूलसंघे सरस्वती गच्छे बलात्कारगणे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ० श्रीपद्मनन्दिस्तत्पट्टे भ० श्रीशुभचन्द्रदेवास्तत्पट्टे भ० श्रीजिनचन्द्रदेव भ० श्रीपद्मनन्दिसिक्ष (शिष्य) मु० मदनकीर्त्तिस्तच्छिष्य ब्र० नरसिंघ तस्योपदेशात् खण्डेलवालान्वये बाकुल्या वालगोत्रे सं पचाइण भार्या केलू तयो त्र जैता भार्या जैतश्री तयोः पुत्र जिणदास सं० पचाइणाख्येन इदं शास्त्रं लिखापितम् ।"

इस प्रशस्तिसे स्पष्ट है कि इस प्रतिको ब्र० नरसिंहके उपदेशसे खण्डेलवाल वंशीय और बाकलीवाल-गोत्रीय संघी या संघपति पचाइणने लिखवाया ।

प्राकृतवृत्तिके पश्चात् (पृ० ६६३ ई०) श्रीडड्ढाकृत संस्कृत पञ्चसंग्रह मुद्रित किया गया है । इसकी एक मात्र प्रति ईडरके शास्त्र-भण्डारसे प्राप्त हुई है जिसका वेष्टन नं० २१ है । इसका आकार १२ × ५ इञ्च है । पत्र-संख्या ९५ है । प्रति-पृष्ठ पंक्ति-संख्या १० और प्रति-पंक्ति अक्षर-संख्या ३५-३६ है । प्रति साधारणतः शुद्ध है, किन्तु पडिमात्रा और गुजराती टाइपकी अक्षर-बनावट होनेसे पढ़नेमें दुर्गम है । कागज बाँसका और पतला है । प्रतिके अन्तमें लेखन-काल नहीं दिया है, तथापि वह लिखावट आदिकी दृष्टिसे, ३०० वर्षके लगभग प्राचीन अवश्य है ।

पञ्चसंग्रह-परिचय

समस्त जैन वाङ्मयमें पंचसंग्रहके नामसे उपलब्ध या उल्लिखित ग्रन्थोंकी तालिका इस प्रकार है—

(१) **दि० प्राकृतपञ्चसंग्रह**—उपलब्ध सर्व पञ्चसंग्रहोंमें यह सबसे प्राचीन दि० परम्पराका ग्रन्थ है । मूल प्रकरणोंके समान उनके संग्रह करनेवाले और उनपर भाष्य-गाथाएँ लिखनेवाले इस ग्रन्थकारका नाम और समय अभी तक अज्ञात है । पर इतना तो निश्चय पूर्वक कहा ही जा सकता है कि श्वेताम्बराचार्य श्री चन्द्रर्षिमहत्तरके द्वारा रचे गये पंचसंग्रहसे यह प्राचीन है । मूलप्रकरणोंके साथ इसकी गाथा-संख्या १३२४ है । गद्यभाग लगभग ५०० श्लोक प्रमाण है । यह प्रस्तुत ग्रन्थ पहली बार प्रकाशित हो रहा है ।

(२) **श्वे० प्राकृत पञ्चसंग्रह**—कर्मसिद्धान्तकी जिन मान्यताओंमें दिगम्बर-श्वेताम्बर आचार्योंका मतभेद रहा है, उनमेंसे श्वे० परम्पराके अनुसार मन्तव्योंको प्रकट करते हुए प्राचीन शतक आदि पाँच ग्रन्थोंका संक्षेप कर स्वतन्त्ररूपसे इस ग्रन्थकी रचना की गई है । इसमें शतक आदि मूलग्रन्थोंकी गाथाएँ नहीं हैं । समस्त गाथा-संख्या १००५ है । रचना कुछ क्लिष्ट होनेसे ग्रन्थकारने इस पर स्वोपज्ञ वृत्ति भी लिखी है । जिसका प्रमाण आठ हजार श्लोक है । इसपर मलयगिरिकी संस्कृत टीका भी है । यह ग्रंथ उक्त दोनों टीकाओंके साथ मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर डभोइ (गुजरात) से सन् १९३८ में प्रकाशित हुआ है । श्वे० मान्यतासे इसका रचनाकाल विक्रमकी सातवीं शताब्दी है ।

(३) **दि० संस्कृत पञ्चसंग्रह** (प्रथम) दि० प्रा० पञ्चसंग्रहको आधार बनाकर उसे यथासम्भव पल्लवित करते हुए आ० अमितगतिने इसकी संस्कृत श्लोकोंमें रचना की है । इसके पाँचों प्रकरणोंकी श्लोक-संख्या १४५६ है । लगभग १००० श्लोक-प्रमाण गद्य-भाग है । इसका रचना-काल वि० सं० १०७३ है । यह मूल रूपमें सर्व-प्रथम माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बईसे सन् १९२७ में प्रकाशित हुआ और पीछे पं० वंशीधरजी शास्त्रीके अनुवादके साथ सोलापुरसे प्रकाशित हुआ है ।

(४) **दि० सं० पञ्चसंग्रह** (द्वितीय)—इसकी रचना भी दि० प्रा० पञ्चसंग्रहको आधार बनाकर की गई है । इसमें अमितगतिके सं० पञ्चसंग्रहकी अपेक्षा अनेक विशेषताएँ हैं जिनका दिग्दर्शन आगे कराया जायगा । इसके रचयिता श्रीपालसुत श्री डड्ढा हैं, जो एक जैन गृहस्थ हैं । इसकी समस्त श्लोक-संख्या १२४३ है और गद्य-भाग लगभग ७०० श्लोक प्रमाण है । इसका रचनाकाल अनुमानतः विक्रमकी सत्तरहवीं शताब्दी है । इसकी एकमात्र प्रति ईडरके भण्डारसे प्राप्त हुई । यह पहली बार इसी ग्रन्थके साथ परिशिष्ट रूपमें प्रकाशित हो रहा है ।

(५) **दि० प्रा० पञ्चसंग्रह टीका**—दि० प्राकृत पञ्चसंग्रहपर यह एकमात्र संस्कृत टीका उपलब्ध हुई है, वह भी अपूर्ण। इस प्रतिका विशेष परिचय प्रति-परिचयमें दिया जा चुका है। टीका बहुत सरल है; मूलके भावको उत्तम रीतिसे प्रकट करती है। टीकाकारने अर्थको स्पष्ट करनेके लिए मूल प्राकृत या संस्कृत पञ्चसंग्रहमें दी गई संदृष्टियोंके अतिरिक्त अनेकों और भी संदृष्टियाँ लिखी हैं। इस टीकाके रचयिता श्री सुमतिकीर्त्ति हैं, जो सम्भवतः भट्टारक थे। इस टीकाकी रचना वि० सं० १६२० के भादों सुदी १० को हुई है।

(६) **दि० प्राकृत पञ्चसंग्रह मूल और प्राकृत वृत्ति**—प्रा० पञ्चसंग्रहके मूल आधार जो पाँच मूल ग्रन्थ हैं, उनके ऊपर श्री **पद्मनन्दिने** प्राकृत वृत्तिकी रचना की है, जिसकी शैली प्राचीन चूर्णियोंके समान है। यह मूल और वृत्ति दोनों ही अपनी एक खास महत्ता रखती है, यह आगे बताया जायगा। इसके मूल प्रकरणोंकी गाथा-संख्या ४१८ है और प्राकृतवृत्तिका परिमाण लगभग ४००० श्लोक है। ये दोनों ही प्रथम बार इसी ग्रन्थके साथ परिशिष्टमें प्रकाशित हो रहे हैं। प्राकृतवृत्तिका रचनाकाल भी अभी तक अज्ञात ही है।

इनके अतिरिक्त और भी अनेक पंचसंग्रहोंका उल्लेख मिलता है। उनमेंसे गोम्मटसार जीवकांड-कर्मकाण्डको भी पञ्चसंग्रह कहा जाता है; उनमें भी उक्त ग्रन्थोंके समान बन्धक, बन्धव्य, आदि पाँचों विषयोंका प्रतिपादन किया गया है। दि० प्राकृत पञ्चसंग्रहके संस्कृत टीकाकार तो इसी कारण इतने अधिक भ्रमित हुए हैं कि उन्होंने प्रत्येक प्रकरणकी समाप्ति करते हुए "इति श्रीपञ्चसंग्रहापरनाम लघुगोम्मटसार टीकायां" लिखा है और टीकाके अन्तमें भी "इति श्री लघुगोम्मटसार टीका समाप्ता" लिखा है। श्री हरि दामोदर वेलंकरने अपने श्री जिनरत्न कोशमें 'पञ्चसंग्रह दीपक" नामके एक और भी ग्रन्थका उल्लेख किया है। इसके रचयिता श्री इन्द्रवामदेव हैं। उन्होंने इसे गोम्मटसारका पद्यानुवाद बतलाया है और उसके पाँचों प्रकरणोंकी श्लोक-संख्या क्रमशः ८२५ + १४१ + १२५ + १८७ + २२० दी है, जिनका योग १४९८ होता है। यह अभी तक मेरे देखनेमें नहीं आई, इसलिए इसके विषयमें इससे अधिक और कुछ नहीं कहा जा सकता है।

उक्त जिनरत्नकोशमें हरिभद्रसूरि-द्वारा बनाये गये एक और पञ्चसंग्रहका उल्लेख किया गया है। पर हरिभद्रसूरि-रचित ग्रन्थोंकी जितनी भी सूचियाँ मेरे देखनेमें आई हैं, उनमेंसे किसीमें भी मैंने इस ग्रन्थका नाम नहीं देखा। इसके प्रकाशमें आनेपर ही उसके विषयमें कुछ विशेष जाना जा सकेगा।

उपर्युक्त विवेचनसे इतना तो स्पष्ट है कि पञ्चसंग्रहके आधारभूत बन्ध, बन्धक आदि पाँचों द्वार जैन दर्शनके लक्ष्यभूत मुख्य विषय हैं और इसीलिए दोनों सम्प्रदायके आविर्भाव होनेके पहलेसे ही जैन आचार्योंने उनपर प्रकरण-ग्रन्थोंकी रचना की और उनके आधारपर दोनों ही सम्प्रदायोंके आचार्योंने 'पञ्चसंग्रह' यही नाम देकर उनपर तदाधारसे स्वतन्त्र ग्रन्थोंकी रचनाएँ की और अनेक टीका-टिप्पणियों और चूर्णियोंको लिखा।

जैन वाङ्मयमें पञ्चसंग्रह नामके अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनमेंसे कुछ प्राकृतमें और कुछ संस्कृतमें रचे गये हैं। इनमेंसे कुछ दिगम्बराचार्योंके द्वारा रचे गये हैं और कुछ श्वेताम्बराचार्योंके द्वारा। यहाँ एक बात खास तौरसे ज्ञातव्य है और वह यह कि इन दोनों सम्प्रदायोंके द्वारा रचे गये या संकलन किये गये पंचसंग्रहोंमें जिन पाँच ग्रंथों या प्रकरणोंका संग्रह है, उनमेंसे एकाधको छोड़कर प्रायः सभी ग्रन्थों या मूल प्रकरणोंके रचयिताओंके नामादि अभी तक भी अज्ञात हैं और इसीसे उन मूल ग्रन्थोंकी प्राचीनता प्रमाणित होती है। मूलग्रन्थोंके अध्ययन करनेपर ऐसा ज्ञात होता है कि उनकी रचना उस समय हुई है, जबकि जैन-परम्परा अक्षुण्ण थी और उसमें दिगम्बर-श्वेताम्बर जैसे भेद उत्पन्न नहीं हुए थे। कालान्तरमें जब इन दोनों भेदोंने जैन-परम्परामें अपना स्थान दृढ़ कर लिया, तब पूर्व-परम्परासे चले आये श्रुतको उन्होंने अपनी-अपनी मान्यताओंके अनुरूप निबद्ध करना प्रारम्भ किया। संस्कृत-ग्रन्थोंमें जैसे तत्त्वार्थसूत्र अपनी-अपनी मान्यता-गत पाठ-भेदोंके साथ दोनों सम्प्रदायोंमें सम्मानित है और दोनों ही सम्प्रदायोंके आचार्योंने उसपर टीका-टिप्पण और भाष्यादि लिखे हैं, ठीक उसी प्रकार प्राकृत ग्रन्थोंमें हमें एकमात्र पंचसंग्रह ही

ऐसा ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध हुआ है, जिसके मूल-प्रकरण दोनों सम्प्रदायोंमें थोड़ेसे पाठ-भेदोंके साथ समानरूपसे सम्मान्य हैं और दोनों ही सम्प्रदायके आचार्योंने उसपर प्राकृत भाषामें भाष्य-गाथाएँ और चूर्णियाँ, तथा संस्कृत भाषामें टीका और वृत्ति आदि रची हैं।

दोनों सम्प्रदायोंके इन पञ्चसंग्रहोंमें निबद्ध, संकलित या संगृहीत वे पाँच ग्रन्थ या प्रकरण कौनसे हैं, पाठकोंको यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है, अतः सर्वप्रथम उन प्रकरणोंका परिचय दिया जाता है। दि० पञ्चसंग्रहके पाँचों प्रकरणोंके नाम दो प्रकारसे मिलते हैं, जो इस प्रकार हैं—

प्रथम प्रकार	द्वितीय प्रकार
१ जीवसमास	१ बन्धक
२ प्रकृतिसमुत्कीर्त्तन	२ बध्यमान
३ बन्धस्तव	३ बन्धस्वामित्व
४ शतक	४ बन्ध-कारण
५ सप्ततिका	५ बन्ध-भेद

श्वे० पञ्चसंग्रहके पाँचों प्रकरणोंके नाम दो प्रकारसे मिलते हैं, जो कि इस प्रकार हैं—

प्रथम प्रकार	द्वितीय प्रकार
१ सत्कर्मप्राभृत	१ बन्धक
२ कर्मप्रकृति	२ बन्धव्य
३ कषायप्राभृत	३ बन्ध-हेतु
४ शतक	४ बन्ध-विधि
५ सप्ततिका	५ बन्ध-लक्षण

दि० परम्पराके पञ्चसंग्रहके प्रथम प्रकारवाले पाँचों प्रकरण संग्रहकारके बहुत पहलेसे स्वतन्त्र ग्रन्थके रूपमें चले आ रहे थे। संग्रहकारने देखा कि उनकी रचना संक्षिप्त या सूत्रात्मक है, तो उसने पूर्व-परम्परागत ग्रन्थोंके नामोंको और उनकी गाथाओंको ज्यों-का-त्यों सुरक्षित रखकर और उन गाथाओंको मूलगाथाका रूप देकर उनपर भाष्य-गाथाओंकी रचना की। दूसरे प्रकारके नाम मिलते हैं अमितगतिके पञ्चसंग्रहमें, जिन्होंने पूर्वोक्त प्राचीन प्राकृत पञ्चसंग्रहका संस्कृत भाषामें कुछ पल्लवित पद्यानुवाद किया है। परन्तु उन्होंने भी प्रत्येक प्रकरणके अन्तमें नाम वे ही प्राचीन दिये हैं। द्वितीय प्रकारके नामोंका तो उल्लेख उन्होंने ग्रन्थके प्रारम्भमें किया है। परन्तु अर्थकी दृष्टिसे द्वितीय प्रकारके नामोंकी संगति प्रथम प्रकारके नामोंके साथ बैठ जाती है। यथा—

१ बन्धक नाम कर्मके बाँधनेवालेका है, जीवसमासमें कर्म-बंध करनेवाले जीवोंका ही चौदह मार्गणा और गुणस्थानोंके द्वारा वर्णन किया गया है।

२. बध्यमान नाम बंधनेवाले कर्मोंका है; प्रकृतिसमुत्कीर्त्तन नामक द्वितीय अधिकारमें उन्हीं कर्मोंकी मूलप्रकृतियों और उत्तर प्रकृतियोंका वर्णन किया गया है।

३. बन्ध-स्वामित्व और बन्धस्तव एकार्थक ही हैं।

४. शतक यह नाम वस्तुतः गुण-कृत नहीं, अपितु संख्याकृत है अर्थात् इस प्रकरणकी मूल प्राचीन-गाथाएँ १०० ही हैं, इसलिए इसे शतक कहते हैं और इसमें कर्मबन्धके कारण आदिका ही वर्णन है, अतः ये दोनों नाम भी परस्परमें संगत बैठ जाते हैं।

५. सप्ततिका यह नाम भी संख्याकृत है, क्योंकि इस प्रकरणकी मूल-गाथाएँ भी ७० ही हैं और उनमें कर्मबन्धके योग, उपयोग, लेश्या आदिकी अपेक्षा भेदों या भंगोंका वर्णन किया गया है।

इस प्रकारसे दि० परम्पराके पञ्चसंग्रहोंमें पाये जानेवाले दोनों प्रकारके नामोंमें कोई मौलिक अन्तर या भेद नहीं है।

किन्तु श्वे० पञ्चसंग्रहकी स्थिति कुछ भिन्न है। उसके रचयिताने स्वयं ही दोनों प्रकारके नाम दिये हैं। जिनमें प्रथम प्रकारके नामोंका उल्लेख करते हुए कहा है कि यतः इस ग्रन्थमें शतक आदि पाँच ग्रन्थ यथा-स्थान संक्षिप्त करके संग्रह किये गये हैं, अतः इस ग्रन्थका नाम पञ्चसंग्रह है। अथवा इसमें बन्धक आदि पाँच अधिकार वर्णन किये गये हैं, इसलिए भी इसका पंचसंग्रह यह नाम यथार्थ या सार्थक है[1]।

प्राकृत और संस्कृत पञ्चसंग्रहकी तुलना

आ० अमितगतिने अपने संस्कृत पञ्चसंग्रहकी रचना यद्यपि प्राकृत पञ्चसंग्रहके आधारपर ही की है, तथापि उनकी रचनामें अनेक विशेषताएँ या विभिन्नताएँ हैं, जिनका विश्लेषण हम निम्नप्रकारसे कर सकते हैं—

(१) मौलिक मत-भेद या विशेष मान्यताओंका निरूपण
(२) पल्लवित वैशिष्टय
(३) व्युत्क्रम या आगे-पीछे वर्णन
(४) स्खलन या विषयका छोड़ देना
(५) शैली-भेद
(६) कुछ विशिष्ट ग्रन्थ या ग्रन्थकारोंके उद्धरण-उल्लेख आदि

१. मौलिक मत-भेद या विशेष मान्यताओंका निरूपण

१. प्रा० पञ्चसंग्रहके प्रथम प्रकरणमें वेदमार्गणाके भीतर द्रव्य और भाववेदकी जीवोंके सदृशता और विसदृशता वर्णन करनेवाली दो गाथाएँ इस प्रकार हैं—

तिव्वेद एव सव्वे वि जीवा दिट्ठा हु दव्वभावादो।
ते चेव हु विवरीया संभवंति जहाकमं सव्वे ॥१०२॥
इत्थी पुरिस णउंसय वेया खलु दव्व-भावदो होंति।
ते चेव य विवरीया हवंति सव्वे जहाकमसो ॥१०४॥

दोनों गाथाएँ अर्थकी दृष्टिसे प्रायः समान हैं, इसलिए अमितगतिने दूसरी गाथाके आधारपर केवल एक श्लोक रचा है—

स्त्रीपुन्नपुंसका जीवाः सदृशाः द्रव्य-भावतः।
जायन्ते विसदृक्षाश्च कर्मपाकनियन्त्रिताः ॥१९२॥

ऊपरकी दोनों गाथाओंका और इस श्लोकका अर्थ एक ही है कि जीव कर्मोदयसे द्रव्य और भाववेद-की अपेक्षा स्त्री, पुरुष और नपुंसकरूपमें कभी सदृश भी होते हैं और कभी विसदृश भी होते हैं। किन्तु सं० पञ्चसंग्रहकारके सम्मुख संभवतः अन्य मान्यता भी उपस्थित थी और इसलिए प्रा० पञ्चसंग्रहमें उसके नहीं होते हुए भी उन्होंने उसे यहाँ स्थान दिया, जो कि इस प्रकार है—

नान्तर्मौहूर्त्तिका वेदास्ततः सन्ति कषायवत्।
आजन्ममृत्युतस्तेषामुदयो दृश्यते यतः ॥१९१॥

कषायोंके उदयके समान वेदोंका उदय अन्तर्मुहूर्त्तमात्र कालावस्थायी नहीं है; क्योंकि जन्मसे लेकर मरण-पर्यन्त एक जीवके एक ही वेदका उदय देखा जाता है।

---

१. सयगाइ पंच गंथा जहारिहं जेण एत्थ संखित्ता।
दाराणि पंच अहवा तेण जहत्थाभिहाणमिणं ॥
(श्वे० पंचसं० द्वा० १ गा० २)

२. पञ्चसंग्रहके प्रथम प्रकरणमें गुणस्थानोंकी प्ररूपणाके पश्चात् जीवसमासोंका निरूपण करते हुए अमितगति कहते हैं—

चतुर्दशसु पञ्चाद्यः पर्याप्तस्तत्र वर्तते ।
एतच्छास्त्रमतेनाद्ये गुणस्थानद्वयेऽपरे ॥३६॥
पूर्णः पञ्चेन्द्रियः संज्ञी चतुर्दशसु वर्तते ।
सिद्धान्तमततो मिथ्यादृष्टौ सर्वे गुणे परे ॥३७॥

अर्थात् इस शास्त्रके मतसे आदिके दो गुणस्थानोंमें सभी जीवसमास होते हैं। किन्तु सिद्धान्तके मतसे केवल मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें ही सर्वजीवसमास होते हैं।

३. दूसरे प्रकृतिसमुत्कीर्त्तन नामके प्रकरणमें प्रा० पञ्चसंग्रहकारने बन्धयोग्य प्रकृतियोंकी संख्या १२० और उदय-योग्य प्रकृतियोंकी संख्या १२२ बतलाई है और यह मान्यता दि० और श्वे० सभी कर्म-विषयक ग्रन्थोंके अनुरूप ही है। पर इस स्थलपर सं० पञ्चसंग्रहकार उक्त मान्यतानुसार बन्ध और उदयके योग्य प्रकृतियोंकी संख्या बतलानेके अनन्तर लिखते हैं—

मतेनापरसूरीणां सर्वाः प्रकृतयोऽङ्गिनाम् ।
बन्धोदयौ प्रपद्यन्ते स्वहेतुं प्राप्य सर्वदा ॥

कुछ आचार्योंके मतसे सभी अर्थात् १४८ प्रकृतियाँ ही अपने-अपने निमित्तको पाकर बन्ध और उदयको प्राप्त होती हैं।

४. सं० पञ्चसंग्रहके चौथे प्रकरणमें स्थितिबन्धका वर्णन करते हुए श्लोकाङ्क २०८ के नीचे एक गद्य-भाग इस प्रकारका मुद्रित है—

"**पञ्चसंग्रहाभिप्रायेणेदं; सिद्धान्ताभिप्रायेण** पुनरायुषोऽप्याबाधो नास्ति; स्थितिः कर्मनिषेचनम्"।

प्रयत्न करनेपर भी मैं इस पंक्तिके द्वारा सूचित किये गये पंचसंग्रह और सिद्धान्तके अभिप्राय-भेदको नहीं समझ सका। यहाँ प्रकरण यह है कि आयुकर्मके सिवाय शेष सात कर्मोंका जो स्थितिबन्ध हुआ है, उसमेंसे उनका आबाधा काल घटाकर जो स्थितिबन्ध शेष रहता है, उतना उनका कर्म-निषेककाल होता है। किन्तु आयुकर्मका जितना स्थितिबन्ध होता है, उतना ही कर्म-निषेककाल होता है। (देखो प्रा० पंचसंग्रह प्रकरण चौथेकी गा० ३९५)। इसी गाथाके आधारपर जो श्लोक इस स्थलपर अमितगतिने दिया है, वह भी गाथाके छायानुवाद रूप ही है। वह गाथा और श्लोक इस प्रकार हैं—

गाथा—आबाधूणट्ठिदी कम्मणिसेओ होइ सत्तकम्माणं ।
ठिदिमेव णिया सव्वा कम्मणिसेओ य आउस्स ॥३९५॥

श्लोक—आबाधो नास्ति सप्तानां स्थितिः कर्मनिषेचनम् ।
कर्मणामायुषो वाच्यि स्थितिरेव निजा पुनः ॥२०८॥

गाथाके अनुसार ही श्लोकका अर्थ भी है, फिर यह विचारणीय बात है कि इसी श्लोकके नीचे मत-भेदकी सूचक उपर्युक्त पंक्ति दी हुई है। माणिकचन्द-ग्रन्थमालासे प्रकाशित पञ्चसंग्रहमें जो उक्त श्लोक मुद्रित है उसपर गौर करनेसे पाठककी दृष्टि उसके प्रथम चरण और उसपर दी गई टिप्पणीकी ओर जानेपर इस समस्याका समाधान सहजमें हो जाता है। प्रथम चरण इस प्रकार मुद्रित है—

"आबाधो नास्ति सप्तानां"

ज्ञात होता है कि इसके सम्पादकको आदर्श प्रतिमें भी ऐसा ही पाठ उपलब्ध हुआ और इसीलिए इसके नीचेकी पंक्तिको प्रमाण मानकर उन्होंने भी एक टिप्पणी इसपर दे दी, जो इस प्रकार है—

"अपरसिद्धान्ताभिप्रायेण सप्तकर्मणामाबाधो नास्ति। तर्हि किमस्ति? कर्मनिषेचनम्। × × × पञ्चसंग्रहाभिप्रायेण सप्तानां कर्मणामाबाधाऽस्ति, आयुष्कर्मणोऽपि ज्ञातव्यम्।"

इस टिप्पणीके देनेमें सम्पादक-महोदयको उक्त श्लोकके नीचे दी गई उक्त पंक्ति ही प्रेरक हुई है और उस पंक्तिको उन्होंने सं० पञ्चसंग्रहके रचयिता आ० अमितगतिकी ही लिखी समझ ली है। पर वास्तविक स्थिति इसके प्रतिकूल है। यथार्थमें यह पंक्ति किसी पुराने पाठकने उक्त अशुद्ध पाठको शुद्ध मान करके और उस पाठपर चिह्न लगाकर टिप्पणीके तौरपर प्रतिके हासियेपर लिखी होगी। कालान्तरमें उस प्रतिकी प्रतिलिपि करनेवाले लेखकने उसे मूलका अंश समझकर उसे उक्त श्लोकके पश्चात् ही लिख दिया। इस प्रकार मूलपाठ 'आबाधो नास्ति' इस पदकी (आबाधा + ऊना + अस्ति) सन्धिको नहीं समझ सकनेके कारण जैसी भूल पुराने पाठकसे हो गई थी, ठीक वैसी ही भूल अशुद्ध पाठ और उक्त पंक्तिके सामने होनेपर इसके सम्पादकसे भी हो गई है और उसीके फलस्वरूप उन्होंने भी उक्त भ्रमोत्पादक टिप्पणी दे दी है।

इस सारे कथनका निष्कर्ष यह है कि इस स्थलपर उक्त पंक्ति न तो सं० पञ्चसंग्रहका अंग है और न उसे वहाँपर होना चाहिए। फिर उसके आधारपर दी गई टिप्पणीकी व्यर्थता तो स्वतः सिद्ध हो जाती है। पञ्चसंग्रहादि कर्मग्रन्थ और सिद्धान्तग्रन्थ सभी उक्त विषयमें एक मत हैं।

२. पल्लवित वैशिष्ट्य

प्रा० पञ्चसंग्रहके प्रथम प्रकरणमें ज्ञान मार्गणाके भीतर अवधिज्ञानका वर्णन केवल दो गाथाओंमें किया गया है। पर अमितगतिने उसे पर्याप्त पल्लवित किया है और षट्खण्डागम तथा धवला टीकाके आधारसे चार श्लोकोंके द्वारा कितनी ही नवीन बातोंकी सूचना की है। जैसे—तीर्थङ्कर, देव और नारकियोंके अवधिज्ञान सर्वाङ्गसे उत्पन्न होता है, किन्तु शेष जीवोंके यदि वे मिथ्यादृष्टि हैं तो नाभिके नीचे सरट, मर्कट, काक, खर आदि अशुभ चिह्नोंसे प्रकट होता है और यदि वे सम्यग्दृष्टि हैं, जो नाभिके ऊपर शंख, पद्म, श्रीवत्स आदि शुभ चिह्नोंसे उत्पन्न होता है। (देखो सं० पञ्चसंग्रह, प्रथम प्रकरण, श्लोक २२३–२२५)

इसी प्रकारका पल्लवित वैशिष्ट्य संस्कृत पञ्चसंग्रहमें अनेक स्थलोंपर दृष्टिगोचर होता है, जिसकी तालिका इस प्रकार है—

प्रथम जीवसमास प्रकरणमें अनन्तके नौ भेद (श्लोक ६–७), ग्यारह प्रतिमाएँ (श्लो० २९–३२), वर्ग, वर्गणा और स्पर्धक (श्लो० ४५–४६), गुणस्थानोंमें औदार्यकादि भाव (श्लो० ५२–५८), गुणस्थानोंमें जीवोंकी संख्या आदि (श्लो० ५९–९१), चतुर्गतिनिगोद (श्लो० १११), स्थावरकायिक जीवोंके आकार (श्लो० १५४) त्रसनालीके बाहिर त्रसोंकी उपस्थिति (श्लो० ११६) तैजस्कायिक और वायुकायिक आदि जीवोंकी विक्रिया आदि (श्लो० १८१–१८५), द्रव्य-भाववेदकी अपेक्षा नौ भेद (श्लो० १९३–१९४), तीनों वेदवालोंके चिह्न-विशेष (श्लो० १९५–१९८), मति, श्रुत अवधिज्ञानके भेद-प्रभेद (श्लो० २१४–२२६), कषाय, नोकषाय और क्षायोपशमिकचारित्र (श्लो० २३४–२३७), द्रव्य-भावलेश्याओंका वर्णन (श्लो० २५४–२६३), पञ्च लब्धियोंका विस्तृत स्वरूप (श्लो० २८६ से २८९ तक तथा इनके मध्यवर्ती विस्तृत गद्यभाग) और तीन सौ तिरेसठ पाखण्डवादियोंका विस्तृत विवेचन (श्लो० ३०९–३१६ तथा इनके बीचका गद्य भाग) किया गया है।

प्रा० पंचसंग्रहमें चारों संज्ञाओंका केवल स्वरूप ही कहा गया है। किन्तु अमितगतिने प्रकरणोपयोगी होनेसे स्वरूपके साथ ही यह भी बतलाया है कि किस गुणस्थान तक कौन-सी संज्ञा होती है। (देखो सं० पञ्चसंग्रह प्रक० १, श्लो० ३४५–३४७)

प्रा० पञ्चसंग्रहके दूसरे प्रकरणमें उद्वेलना-प्रकृतियोंकी केवल संख्या ही गिनाई गई है। किन्तु सं० पञ्चसंग्रहकारने साथमें उद्वेलनाका लक्षण भी दे दिया है, जो कि प्रकरणको देखते हुए बहुत उपयोगी है।

प्रा० पञ्चसंग्रहके तीसरे प्रकरणमें चूलिकाधिकारके भीतर नौ प्रश्नोंका उत्तर प्रकृतियोंके नाममात्र गिनाकर दिया गया है। किन्तु सं० पञ्चसंग्रहकारने इस स्थलपर गद्य और पद्य भागके द्वारा प्रत्येक प्रश्नका सहेतुक विस्तृत वर्णन किया है, जो कि अभ्यासी व्यक्तिके लिए अत्युपयोगी है।

सं० पञ्चसंग्रहके चौथे प्रकरणमें अमितगतिने जिन विशिष्ट विषयोंकी चर्चा की है उनका संस्कृत-टीकाकारने यथास्थान निर्देश कर उन श्लोकोंको भी अधिकांशमें उद्धृत कर दिया है। इसके लिए देखिए— गा० १०२,१०३–१०४,१४०,१७८–१७९,२१५,२२६,२८८,३०४,३६३–३९४,३९५,४६६,४८९,४९५, ५०२,५१४–५१५ और ५१६–५१९की संस्कृतटीका और हिन्दी अनुवाद।

इसी चौथे प्रकरणमें स्थितिबन्धका उपसंहार करते हुए आयुर्बन्ध-सम्बन्धी अन्य कितनी ही बातोंका वर्णन सं० पञ्चसंग्रहकारने किया है। (इसके लिए देखिए श्लो० २५८–२६०)

प्रा० पञ्चसंग्रहकी गा० ४६६ में शेष प्रकृतियोंके उत्कृष्ट अनुभागबन्धके स्वामियोंका वर्णन किया गया है। गाथा-पठित 'शेष' पदसे कितनी और कौन-सी प्रकृतियाँ प्रकृतमें ग्राह्य हैं, इसका भी उहापोह अमितगतिने श्लो० २९० से २९२ तक किया है, जिसकी चर्चा उक्त गाथाके विशेषार्थमें इन श्लोकोंके उद्धरणके साथ कर दी गई है।

प्रा० पञ्चसंग्रहके पाँचवें प्रकरणमें समुद्घातगत केवलीको अपर्याप्त मानकर नामकर्मके बीस प्रकृतिक आदि उदयस्थानोंका वर्णन नहीं किया गया है। किन्तु अमितगतिने (पृष्ठ १७९ पर) **'उदये विंशतिः'** श्लोकको आदि लेकर **'अत्रैकत्रिंशतं स्थानं'** श्लोक तक समुद्घातगत केवलीके सर्व उदयस्थानोंका वर्णन किया है। (देखो, प्रकरण ५, श्लोक ५७४ से ५८३ तक)

३. व्युत्क्रम वर्णन

प्रा० पञ्चसंग्रहकारने प्रथम प्रकरणका आरम्भ करते हुए जिन बीस प्ररूपणाओंके कथनकी प्रतिज्ञा की है, उनका वर्णन भी उन्होंने अपने उसी क्रमसे किया है। तदनुसार सं० पञ्चसंग्रहकारको भी इसी क्रमसे वर्णन करना चाहिए था। गो० जीवकाण्डमें भी इसी क्रमको अपनाया गया है। किन्तु अमितगतिने ऐसा नहीं किया। उन्होंने बीस प्ररूपणाओंकी संख्या गिनाते हुए ग्रन्थके आरम्भमें (श्लो० नं० ११ में) प्राणोंको पर्याप्तियोंसे पूर्व और संज्ञाको प्राणोंके पश्चात् न गिनाकर उपयोगके पश्चात् गिनाया और उन संज्ञाओंका वर्णन भी क्रम-प्राप्त पाँचवें स्थानपर न करके अपने क्रमके अनुसार बीसवें स्थानपर किया है। इस क्रम-भंगका क्या कारण या रहस्य रहा है; वे ही जानें।

प्राकृत पञ्चसंग्रहके प्रथम प्रकरणकी अन्तिम (२००-२०६) सात गाथाओंमें वर्णित विषयका वर्णन भी संस्कृत पञ्चसंग्रहकारको प्रकरणके अन्तमें ही करना चाहिए था। पर उन्होंने वैसा न करके गाथाङ्क २०० का विषय श्लोकाङ्क ३२७ में, गा० २०१ का श्लो० ३०१ में, गा० २०२ का श्लो० २९४ में, गा० २०३ का श्लो० २९५ में, गा० २०४ का श्लो० २९६ में और गा० २०५ का श्लो० ३३९ में किया है।

प्रा० पञ्चसंग्रहके प्रथम प्रकरणमें लेश्याओंका समग्र वर्णन क्रम-प्राप्त लेश्या मार्गणामें न करके कितनी ही बातोंका वर्णन बीसों प्ररूपणाओंका वर्णन कर देनेके बाद प्रकरणका उपसंहार करते हुए किया है। प्रा० पञ्चसंग्रहकारका यह क्रम-भङ्ग कुछ खटकता-सा है। सं० पञ्चसंग्रहकारको भी सम्भवतः यह बात खटकी और उन्होंने उक्त दोनों स्थलोंका वर्णन एक ही क्रम-प्राप्त स्थान लेश्यामार्गणाके भीतर कर दिया। अतएव मूलग्रन्थको देखते हुए यह व्युत्क्रम-वर्णन भी अमितगतिकी बुद्धिमत्ताका सूचक हो गया है। (देखो प्रा० पञ्चसंग्रह गा० १४२-१५३ तथा १८३-१९२ और सं० पञ्चसंग्रह श्लो० २५३-२८२)

प्रा० पञ्चसंग्रहके इसी प्रथम प्रकरणमें कौन-सा संयम किस गुणस्थानमें या किस गुणस्थान तक होता है, इस बातका वर्णन गा० १९५ में किया गया है। अमितगतिको यह क्रम-भङ्ग भी खटका और उन्होंने इस विषयका वर्णन भी संयममार्गणामें यथास्थान ही कर दिया।

प्रा० पञ्चसंग्रहके तीसरे प्रकरणकी गा० ४४ में वर्णित विषयको उदीरणा वर्णन करनेके प्रारम्भमें न कहकर अन्तमें किया है। (देखो सं० पञ्चसंग्रह ३, ६०)

प्रा० पञ्चसंग्रहके चौथे प्रकरणमें मार्गणा, जीवसमास और गुणस्थानोंमें योग, उपयोग और प्रत्यय आदिका वर्णन जिस क्रमसे किया गया है, सं० पञ्च संग्रहकारने उस क्रममें भी कुछ परिवर्त्तन करके विषयका संदृष्टियोंके साथ विस्तृत गद्य भागके द्वारा वर्णन किया है। दोनोंके वर्णन-क्रमका अन्तर इस प्रकार है—

प्राकृत पञ्चसंग्रह	संस्कृत पञ्चसंग्रह
१ मार्गणाओंमें जीवसमास	१ मार्गणाओंमें जीवसमास
२ जीवसमासोंमें उपयोग	२ ,, गुणस्थान
३ मार्गणाओंमें ,,	३ ,, उपयोग
४ जीवसमासोंमें योग	४ ,, योग
५ मार्गणाओंमें ,,	५ जीवसमासोंमें उपयोग
६ ,, गुणस्थान	६ ,, योग
७ गुणस्थानोंमें उपयोग	७ गुणस्थानोंमें उपयोग
८ ,, योग	८ ,, योग
९ ,, प्रत्यय	९ ,, प्रत्यय
१० मार्गणाओंमें प्रत्यय	१० मार्गणाओंमें प्रत्यय

इस प्रकार पाठक देखेंगे कि प्रारम्भके छह वर्णनोंके क्रममें कुछ अन्तर है, शेष चार वर्णन समान हैं।

४. स्खलन या विषयका छोड़ देना

प्रा० पञ्चसंग्रहके प्रथम प्रकरणमें मिथ्यात्व गुणस्थानका स्वरूप बतलाते हुए उसके भेदादिका भी वर्णन दो गाथाओंके द्वारा किया गया है। किन्तु सं० पञ्चसंग्रहकारने उसे छोड़ दिया है। इसी प्रकार प्रथम प्रकरणकी गा० १२, २८-२९, १२८, १३५-१३६, १४२-१४३, १६२-१६६, १८३-१८४ और २०६ वीं गाथामें वर्णित विषयोंकी भी अमितगतिने कोई चर्चा नहीं की है।

प्रा० पञ्चसंग्रहके चौथे प्रकरणमें गाथाङ्क ३२५ के द्वारा यह सूचना की गई है कि ओघकी अपेक्षा बतलाया गया बन्ध-प्रकृतियोंका स्वामित्व आदेशकी अपेक्षा भी जान लेना चाहिए। मूलगाथाकी इस सूचनाके अनुसार भाष्यगाथाकारने गा० ३२६ से लगाकर गा० ३८९ तक उक्त वर्णन किया है। पर अमितगतिने इतने लम्बे सारेके-सारे प्रकरणको ही छोड़ दिया हैं, शायद उन्होंने इस स्थलपर अपने पाठकोंको इसके कथनकी आवश्यकताका ही अनुभव नहीं किया। किन्तु ग्रन्थ-समाप्तिके पश्चात् उन्हें अपनी यह बात खटकी और उन्होंने तब निम्न मंगल एवं प्रतिज्ञा-श्लोकके साथ उसकी रचना की। वह श्लोक इस प्रकार है—

नत्वा जिनेश्वरं वीरं बन्धस्वामित्वसूदनम्।
वक्ष्याम्योघविशेषाभ्यां बन्धस्वामित्वसम्भवम् ॥१॥

(सं० पञ्चसं० पृ० २२६)

प्रा० पञ्चसंग्रहके पाँचवें प्रकरणमें गतिमार्गणाके भीतर नामकर्मके उदयस्थानोंको कहकर गा० १९१ से लेकर २०७ गाथा तक इन्द्रियादि शेष तेरह मार्गणाओंमें भी नामकर्मके उदयस्थानोंका निरूपण किया गया है। किन्तु अमितगतिने इस सर्व वर्णनको छोड़ दिया है। सम्भवतः सुगम होनेसे उन्होंने यह वर्णन अनावश्यक समझा।

इसी प्रकरणमें गा० ४३२ से लगाकर ४७१ तककी गाथाओंके विषयको भी कोई वर्णन नहीं किया है, केवल निम्नलिखित एक श्लोक द्वारा उसे आगमानुसार जान लेनेकी सूचना भर कर दी है। वह श्लोक इस प्रकार है—

सर्वासु मार्गणास्वेवं सत्संख्याद्यष्टकेऽपि च ।
बन्धादित्रितयं नाम्नो योजनीयं यथागमम् ॥

(सं० पञ्चसं० ५,३७)

इसी पाँचवें प्रकरणके अन्तमें गा० ५०१ से लगाकर ५०४ तककी जो चार मूलगाथाएँ हैं, उनका वर्णन भी सं० पञ्चसंग्रहकारने नहीं किया है ।

५. शैली-भेद

प्रा० पञ्चसंग्रहके चौथे प्रकरणमें गाथाङ्क १०५ से लगाकर गा० २०३ तक जो गुणस्थानोंमें बन्ध-प्रत्ययोंके भङ्गोंका वर्णन किया गया है, उसका अधिकांश वर्णन गद्य या पद्यमें न करके अमितगतिने अङ्कसंदृष्टियोंके द्वारा ही प्रकट किया है । (इसके लिए देखिए—सं० पञ्चसंग्रहके पृ० ९२ से ११० तक दी गईं संदृष्टियाँ ।)

६. कुछ विशिष्ट ग्रन्थ या ग्रन्थकारादिके उल्लेख

अमितगतिने सं० पञ्चसंग्रहमें कुछ श्लोक 'अपरेऽप्येवमाहुः' इत्यादि कहकर उद्धृत किये हैं; जिनसे ज्ञात होता है कि उनके सामने संस्कृत भाषामें रचित कोई कर्म-विषयक ग्रन्थ रहा है । ऐसे कुछ उल्लेखोंका निर्देश यहाँ किया जाता है—

१. तीसरे प्रकरणमें पाँचवें श्लोकके पश्चात् 'तदुक्तम्' कहकर निम्न श्लोक दिया है—

परस्परं प्रदेशानां प्रवेशो जीव-कर्मणोः ।
एकत्वकारको बन्धो रुक्म-काञ्चनयोरिव ॥६॥

मेरे उपर्युक्त अनुमानकी पुष्टि खास तौरसे इस श्लोकसे होती है; क्योंकि इसी अर्थका प्रतिपादन करने-वाली गाथा प्रा० पञ्चसंग्रहके इसी तीसरे प्रकरणमें दूसरे नम्बरपर इस प्रकार पाई जाती है—

कंचण-रुप्पदव्वाणं एयत्तं जेम अणुपवेसो त्ति ।
अण्णोण्णपवेसाणं तह बन्धं जीव-कम्माणं ॥२॥

२. चौथे प्रकरणमें बन्ध-प्रत्ययोंका निरूपण करनेके पश्चात् अमितगति लिखते हैं—

''इति प्रधानप्रत्ययनिर्देशः । अपरेऽप्येवमाहुः—और इसके पश्चात् ३२२ से ३२५ तकके निम्न चार श्लोक दिये हैं—

मिथ्यात्वस्योदये यान्ति षोडश प्रथमे गुणे ।
संयोजनोदये बन्धं सासने पञ्चविंशतिः ॥
कषायाणां द्वितीयानामुदये मिश्रते दश ।
स्वीक्रियन्ते तृतीयानां चतस्रो देशसंयते ॥
सयोगे योगतः सातं शेषः स्वे स्वे गुणे पुनः ।
विमुच्याहारकद्वन्द्वतीर्थकृत्त्वे कषायतः ॥
षष्टिः पञ्चाधिका बन्धं प्रकृतीनां प्रपद्यते ।

३. पाँचवें प्रकरणमें पृ० २२२ पर उपशमश्रेणीमें नोकषायोंके उपशमनका प्ररूपण करते हुए 'शान्तः षण्ढः' इस तिरपनवें श्लोकके पश्चात् 'उक्तं च' कहकर निम्न-लिखित दो श्लोक पाये जाते हैं—

पार्यते नोदयो दातुं यत्तत् शान्तं निगद्यते ।
संक्रमोदययोर्यत्र तन्निधत्तं मनीषिभिः ॥५४॥
शक्यते संक्रमे पाके यदुत्कर्षापकर्षयोः ।
चतुर्षु कर्म नो दातुं भण्यते तन्निकाचितम् ॥५५॥

इन श्लोकोंमें उपशम, निधत्ति और निकाचित करणका स्वरूप बतलाया गया है ।

दोनों प्राकृत पञ्चसंग्रहोंमें प्राचीन कौन ?

दि० और श्वे० प्राकृत पञ्चसंग्रहमेंसे प्राचीन कौन है, यह एक प्रश्न दोनोंके सामने आनेपर उपस्थित होता है। इस प्रश्नके पूर्व हमें दोनोंके पाँचों अधिकारोंके नाम जानना आवश्यक है। दि० प्रा० पञ्चसंग्रहके पाँच प्रकरण इस प्रकार हैं—

१—जीवसमास, २—प्रकृतिसमुत्कीर्तन, ३—बन्धस्तव, ४—शतक और ५—सप्ततिका।

श्वे० प्रा० पञ्चसंग्रहके ५ संग्रह या प्रकरणोंके बारेमें ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं ग्रन्थकार ही किसी एक निश्चयपर नहीं है और इसीलिए वे ग्रन्थ प्रारम्भ करते हुए लिखते हैं:—

सयगाई पंच गंथा जहारिहं जेण एत्थ संखित्ता।
दाराणि पंच अहवा तेण जहत्थाभिहाणमिणं ॥२॥

इस गाथाका भाव यह है कि यतः इस ग्रन्थमें शतक आदि पाँच प्राचीन ग्रन्थ यथास्थान यथायोग्य संक्षेप करके संगृहीत हैं, इसलिए इसका 'पञ्चसंग्रह' यह नाम सार्थक है। अथवा इसमें बन्धक आदि पाँच द्वार वर्णन किये गये हैं। इसलिए इसका 'पञ्चसंग्रह' यह नाम सार्थक है।

ग्रन्थकारके कथनानुसार दोनों प्रकारके वे पाँच प्रकरण इस प्रकार हैं—

प्रथम प्रकार	द्वितीय प्रकार
१—शतक	१—बन्धक द्वार
२—सप्ततिका	२—बन्धव्य द्वार
३—कषायप्राभृत	३—बन्धहेतु द्वार
४—सत्कर्मप्राभृत	४—बन्धविधि द्वार
५—कर्मप्रकृति	५—बन्धलक्षण द्वार

दि० प्रा० पञ्चसंग्रहके जिन पाँच प्रकरणोंके नाम ऊपर बतलाये हैं उनके साथ जब हम श्वे० पञ्च-संग्रहोक्त पाँचों अधिकारोंका ऊपरी तौरपर या मोटे रूपसे मिलान करते हैं तो शतक और सप्ततिका यह दो नाम तो ज्यों-के-त्यों मिलते हैं। शेष तीन नहीं। किन्तु जब हम वर्णित-अर्थ या विषयकी दृष्टिसे उनका गहराईसे मिलान करते हैं तो दिगम्बरोंका जीवसमास श्वेताम्बरोंका बन्धक द्वार है और दिगम्बरोंका प्रकृति-समुत्कीर्तन अधिकार श्वेताम्बरोंका बन्धव्यद्वार है। इस प्रकार दो और द्वारोंका समन्वय या मिलान हो जाता है। केवल एक द्वार 'बन्धलक्षण' शेष रहता है। सो उसका स्थान दिगम्बरोंका 'बन्धस्तव' ले लेता है। इस प्रकार दोनोंके भीतर एकरूपता स्थापित हो जाती है।

दोनों प्रा० पञ्चसंग्रहोंका तुलनात्मक अध्ययन करनेपर ज्ञात होता है कि दि० प्रा० पञ्चसंग्रहके भीतर यतः संग्रहकारने अपनेसे पूर्व परम्परागत पाँच प्रकरणोंका संग्रह किया है और यद्यपि उनपर भाष्य गाथाएँ स्वतन्त्र रूपसे रची हैं तथापि पूर्वाचार्योंकी कृतिको प्रसिद्ध रखने और स्वयं प्रसिद्धिके व्यामोहमें न पड़नेके कारण उनके नाम ज्यों-के-त्यों रख दिये हैं। दि० प्रा० पञ्चसंग्रहकारने प्रत्येक प्रकरणके प्रारम्भमें मंगलाचरण किया है। यहाँतक कि जहाँ सारा प्रकृतिसमुत्कीर्तनाधिकार गद्यरूपमें है वहाँ भी उन्होंने पद्यमें ही मंगलाचरण किया है। पर श्वे० पञ्चसंग्रहकार चन्द्रर्षिने ऐसा नहीं किया। इसका कारण क्या रहा, यह वे ही जानें। पर दोनोंके मिलानसे एक बात तो सहजमें ही हृदयपर अंकित होती है वह है दि० प्रा० पञ्च-संग्रहके प्राचीनत्वकी। दि० पञ्चसंग्रहकारने श्वे० पञ्चसंग्रहकारके समान ऐसी कोई प्रतिज्ञा नहीं की है कि मैं पञ्चसंग्रहकी रचना करता हूँ, जब कि चन्द्रर्षिने मंगलाचरणके उत्तरार्धमें ही 'वोच्छामि पंचसंगहं' कहकर पञ्चसंग्रहके कथनकी प्रतिज्ञा की है। इस एक ही बातसे यह सिद्ध है कि उनके सामने दि० प्रा० पञ्चसंग्रह विद्यमान था और उसमें भी प्रायः वे ही शतक, सित्तरी आदि प्राचीन ग्रन्थ संगृहीत थे जिनका कि संग्रह चन्द्रर्षिने किया है। पर दि० पञ्चसंग्रहकी कितनी ही बातोंको वे अपनी श्वे० मान्यताके विरुद्ध देखते थे और इस कारण उससे वे सन्तुष्ट नहीं थे। फलस्वरूप उन्हें एक स्वतन्त्र पञ्चसंग्रह रचनेकी प्रेरणा प्राप्त हुई और

मतभेदवाले मन्तव्योंको श्वेताम्बर आगमानुमोदित या स्वगुरु-प्रतिपादित ढंगसे उन्हें यथास्थान निबद्ध करते हुए एक स्वतन्त्र पञ्चसंग्रह निर्माण किया।

चन्द्रर्षिने जिन शतक आदि पांच प्राचीन ग्रन्थोंको अपने पञ्चसंग्रहमें यथास्थान संक्षेपसे निबद्ध कर संगृहीत किया है उनमेंसे सौभाग्यसे चार प्रकरण स्वतन्त्र रूपसे आज हमारे सामने विद्यमान हैं और वे चारों ही अपनी टीका-चूर्णि आदिके साथ प्रकाशित हो चुके हैं। उनमेंसे कषायपाहुड दिगम्बरोंकी ओरसे और कर्मप्रकृति श्वेताम्बरोंकी ओरसे प्रकाशमें आये हैं, और दोनों सम्प्रदाय एक-एकको अपने-अपने सम्प्रदायका ग्रन्थ समझते हैं। शतक और सप्ततिका दोनों सम्प्रदायोंके भण्डारोंमें मिली हैं और दोनों ही सम्प्रदायोंके आचार्योंने उनके विवादग्रस्त विषयोंका अपनी-अपनी मान्यताओंके अनुसार मूल पाठ रखकर चूर्णि, टीका और भाष्य गाथाओंसे उन्हें समृद्ध किया है। केवल एक सत्कर्मप्राभृत ही ऐसा शेष रहता है जिसकी स्वतन्त्र रचना अभी-तक भी प्राप्त नहीं हुई है। श्वे० परम्परामें तो इसका केवल नाम ही उपलब्ध है। किन्तु दि० परम्पराके प्रसिद्ध ग्रन्थ षट्खण्डागमकी धवला टीकामें अनेक बार 'संतकम्मपाहुड'का उल्लेख आया है और उसके अनेकों उद्धरण भी मिलते हैं। श्वे० प्रा० पञ्चसंग्रहके कर्त्ता चन्द्रर्षि और धवला टीकाके कर्त्ता वीरसेनके सम्मुख यह सत्कर्मप्राभृत था। यह बात दोनोंके उल्लेखोंसे भलीभाँति सिद्ध है।

दूसरी बात जो सबसे अधिक विचारणीय है वह है शतकादि प्राचीन ग्रन्थोंके संक्षेपीकरण की। जब हम शतक आदि प्राचीन ग्रन्थोंकी गाथा-संख्याको सामने रखकर श्वे० पञ्चसंग्रहके उक्त प्रकरणकी गाथा-संख्याका मिलान करते हैं तो संक्षेपीकरणकी कोई भी बात सिद्ध नहीं होती। यह बात नीचे दी जानेवाली तालिकासे स्पष्ट है:—

दि० प्राचीन शतक गाथा	१००	श्वे० पञ्चसंग्रह शतक और सप्ततिका	
प्राचीन सप्ततिका गाथा	७०	सम्मिलित गाथा-संख्या	१५६
	१७०	परिशिष्ट गाथा	११
			१६७

प्राचीन शतक और सप्ततिकाकी गाथाओंका योग १७० होता है। श्वे० पञ्चसंग्रहमें दोनों प्रकरणों-को सम्मिलित रूपमें ही रचा गया है। पृथक्-पृथक् नहीं। तो भी उनकी गाथा-संख्या मय परिशिष्टके १६७ होती है। इस प्रकार कुल तीन गाथाओंका संक्षेपीकरण प्राप्त होता है। यहां इन गाथाओंके संक्षेपीकरणमें यह बात भी खास तौरसे ध्यान देनेके योग्य है कि प्राचीन शतक आदि ग्रन्थोंमें मंगलाचरण एवं अन्तिम उपसंहार आदि पाया जाता है। तब चन्द्रर्षिने वह कुछ भी नहीं किया। शतक प्रकरणमें ऐसी मंगलादिकी प्रारम्भिक गाथाएँ दो हैं और उपसंहारात्मक गाथाएँ तीन हैं। इसी प्रकार सप्ततिकामें भी प्रारम्भिक गाथा एक और उपसंहारात्मक गाथाएँ तीन हैं। इन पांच और चार—९ गाथाओंको छोड़ देना ही संक्षेपीकरण माना जाय तो बात दूसरी है।

अब लीजिए प्राचीन कम्मपयडी (कर्मप्रकृति) के संक्षेपीकरणकी बात। सो उसकी भी जांच कर लीजिए। दोनोंके प्रकरणोंकी गाथा-संख्या इस प्रकार है :—

प्राचीन कर्मप्रकृति गाथा-संख्या		श्वे० पञ्चसंग्रहान्तर्गत कर्मप्रकृति,	गाथा-संख्या	
बन्धनकरण	१०२	,,	,,	११२
संक्रमकरण	१११	,,	,,	११९
उद्वर्त्तना०	१०	,,	,,	२०
उदीरणा०	८९	,,	,,	८६
उपशमना०	७१	,,	,,	१०२
निधत्ति	३	,,	,,	३
	३८६			४४५

इस मिलानसे यह स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है कि प्राचीन कर्मप्रकृतिके किसी भी प्रकरणकी गाथाओं-का संक्षेपीकरण नहीं हुआ है, प्रत्युत वृद्धिकरण ही हुआ है। यहाँ यह बात खास तौरसे विचारणीय है कि जब प्राचीन कर्मप्रकृतिमें उदय और सत्ता नामके दो अधिकार पृथक् पाये जाते हैं और जिनके कि गाथा संख्या ३२ और ५७ है, उन्हें श्वे० पञ्चसंग्रहकारने क्यों छोड़ दिया? यदि इन दोनों समूचे प्रकरणोंको छोड़ देना ही उनका संक्षेपीकरण माना जाय तो बात दूसरी है।

श्वे० पञ्चसंग्रहके अधिकारोंकी स्थिति भी बड़ी विलक्षण है। ग्रन्थकारने ग्रन्थके प्रारम्भमें जैसी प्रतिज्ञा की है उसके अनुसार शतक आदि प्राचीन पाँच ग्रन्थोंके संक्षेपीकरणवाले पाँच ही अधिकार स्पष्ट या पृथक् रूपसे इस पञ्चसंग्रहमें होने चाहिए थे। सो उनमेंसे केवल दो ही अधिकार मिलते हैं—एक कर्मप्रकृति-संग्रहके नामसे और दूसरा सप्ततिका संग्रहके नामसे। जिनका इस प्रकार विश्लेषण किया जा सकता है कि कर्मप्रकृति संग्रहमें कर्मप्रकृतिके अतिरिक्त कषायप्राभृत और सत्कर्मप्राभृतका भी संक्षेपीकरण कर लिया गया है और सप्ततिका-संग्रहमें सप्ततिका और शतकका संक्षेप किया गया है। परन्तु सप्ततिका-संग्रहमें दोनों ग्रन्थोंका संक्षेप कोई अर्थ नहीं रखता, क्योंकि ऊपर बतलाया जा चुका है कि मूल रूपसे मात्र तीन गाथाओंका ही अन्तर है। इस प्रकार शतक एवं सप्ततिकाके दो प्रकरणोंके स्वतन्त्र दो अधिकार न बना कर एकमें संग्रह करना कोई खास महत्त्व नहीं रखता है।

रह जाती है कर्मप्रकृति-संग्रहमें कषायप्राभृत आदि प्राचीन तीन ग्रन्थोंके संक्षेपीकरणकी बात। सो ग्रन्थके प्रारम्भमें की गयी प्रतिज्ञाके अनुसार उत्तम तो यही होता कि ग्रन्थकार कर्मप्रकृति, कषायप्राभृत और सत्कर्मप्राभृतके संक्षेप करनेवाले तीन ही प्रकरण पृथक् निर्माण करते और सप्ततिका शतकवाले दो प्रकरण स्वतन्त्र रचते। तो इन पाँच ग्रन्थोंके संक्षेपीकरणके रूपसे 'पंचसंग्रह' यह नाम सार्थक होता। जैसा कि दि० पंचसंग्रहकारने किया है कि प्राचीन पाँच ग्रन्थोंको संग्रह करके और उनके कठिन या संक्षिप्त स्थलोंके स्पष्टी-करणार्थ भाष्य-गाथाएँ रचकर प्राचीन नामोंको ही अधिकारोंका नाम देकर 'पंचसंग्रह' नामको चरितार्थ किया है और स्वयं अपने नाम-ख्यातिके प्रलोभनसे इतने दूर रहे हैं कि कहीं भी उन्होंने अपने नामका उल्लेख करना तो दूर रहा, संकेत तक भी नहीं किया है। अस्तु।

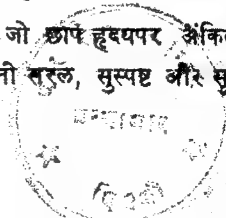
थोड़ी देरके लिए उक्त पाँच ग्रन्थोंका संग्रह दो ही प्रकरणोंमें मानकर सन्तोष कर लिया जाय और ग्रन्थकारकी इच्छाको ही प्रधानता दे दी जाय, पर यह जाँच करना तो शेष ही रह जाता है कि कर्मप्रकृति आदि तीन ग्रन्थोंका उन्होंने कर्मप्रकृति-संग्रहमें क्या संक्षेपीकरण किया। जहाँ तक कर्मप्रकृतिके प्रकरणोंका सम्बन्ध है हम ऊपर बतला आये हैं कि वह कुछ महत्त्व नहीं रखता।

रह जाती है कर्मप्रकृतिवाले संग्रहमें कषायप्राभृत और सत्कर्मप्राभृतके संक्षेपीकरणकी बात। सो जाँच करनेपर वैसा कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता।

दुर्भाग्यसे आज हमारे सामने सत्कर्मप्राभृत—जैसा कि आचार्योंके उल्लेखों आदिसे सिद्ध होता है—मूल गाथाओंके रूपमें उपस्थित नहीं है। या यह कहना अधिक उचित होगा कि उपलब्ध नहीं है। इसलिए उसके विषयमें कुछ नहीं कहा जा सकता कि चन्द्रर्षिने अपने पञ्चसंग्रहमें उसका क्या कितना संक्षेपीकरण किया है। पर सौभाग्यसे कषायप्राभृत आज उपलब्ध ही नहीं, अपितु मूल रूपमें अपनी चूर्णि और उसकी टीका अनुवाद आदिके साथ प्रकाशित भी हो चुका है। उसको सामने रखकर जब हम पंचसंग्रहके इस कर्मप्रकृति-संग्रहवाले प्रकरणकी छानबीन करते हैं तो संक्षेपीकरणके नामपर हमें निराश ही होना पड़ता है।

यहाँ एक विशेष बात यह ज्ञातव्य है कि जहाँ दि० पञ्चसंग्रहमें पूर्व-परम्परागत प्रकरणोंकी गाथाओंको संकलित करके उनके दुरूह अर्थवाली संक्षिप्त गाथाओंके ऊपर ही अपनी भाष्य-गाथाएँ रची हैं, वहाँ चन्द्रर्षिने स्वतन्त्र रूपसे गाथाओंकी रचना करके अपने पञ्चसंग्रहका निर्माण किया है।

दि० श्वे० पञ्चसंग्रहोंके ऊपर एक दृष्टि डालनेपर सहजमें ही जो छाप हृदयपर अंकित होती है वह उनके सरल और कठिन रचे जानेकी। दि० पञ्चसंग्रहकी रचना जितनी सरल, सुस्पष्ट और सुगम है, श्वे०



पञ्चसंग्रहकी रचना उतनी ही क्लिष्ट, कठिन और दुर्गम है। जिन्होंने प्राचीन और अर्वाचीन ग्रन्थोंकी रचनाओंका मौलिक रूपसे गहराईके साथ अध्ययन किया है वे इस बातसे सहमत हैं, कि सर्वप्रथम जिन ग्रन्थोंकी रचना की गयी वह अत्यन्त सरल शैलीकी रही है। पीछे-पीछे उनमें प्रौढ़ता एवं दुर्गमता आई है। इस विषयमें कुछ ग्रन्थ अपवाद भी हैं, पर उनका उद्देश्य दूसरा था। कसायपाहुड़, सप्ततिका आदि जैसे प्रकरणोंकी रचना सर्वसाधारणको दृष्टिमें रखकर नहीं की गयी है। प्रत्युत उच्चारणाचार्य्य या व्याख्यानाचार्योंको दृष्टिमें रखकर की गयी है। दूसरे ये ग्रन्थ उस विस्तीर्ण पूर्व साहित्यके संक्षिप्त बिन्दु रूपमें रचे गये हैं जिसे कि 'श्रुतसागर' कहा जाता है। अतः कसायपाहुड़ आदि जैसे ग्रन्थ वस्तुतः एक संकेतात्मक बीजपद रूपसे रचे गये ऐसे ग्रन्थ हैं जिन्हें आचार्य अपने प्रधान शिष्योंको पढ़ाकर और कण्ठस्थ कराकर उस पर उनके द्वारा सूचित या उनमें निबद्ध या निहित रहस्यका व्याख्यान देकर अपने शिष्योंको उनका यथार्थ अर्थबोध कराते थे। ये ग्रन्थ अभ्यासियों एवं जिज्ञासुओंके लिए एक प्रकारके नोट्स थे, जिनके आधारपर वे गुरु-प्रदत्त ज्ञानका अवधारण कर लेते थे। इसलिए इस प्रकारके ग्रन्थोंको छोड़कर सर्वसाधारणके लिए जो रचनाएँ हमारे महर्षिगण करते रहे हैं वे अत्यन्त सरल भाषामें रची गयी हैं। इसे हम इस प्रकार भी विभाजन करके कह सकते हैं कि उस कालमें दो प्रकारकी रचना-शैलियाँ रही हैं। एक सूत्र-शैली, दूसरी भाष्य-शैली। कसायपाहुड़, संतकम्मपाहुड़, सित्तरी आदि सूत्र-शैलीकी रचनाएँ हैं। इनके अर्थका मौखिक अवधारण जब असम्भव-सा दिखने लगा तब मौखिक भाष्य-शैलीके स्थानपर लेखन रूप भाष्य-शैली प्रतिष्ठित हुई। उस समय उन सूत्ररूप मूल गाथाओंपर भाष्य-गाथाओंकी रचना की गयी। जब उतनेसे काम चलता दिखाई नहीं दिया, तब उनपर चूर्णियोंके लिखे जानेका क्रम अपनाया गया। यह बात हमें कसायपाहुड़, सित्तरी आदिकी मूल-गाथाओं, भाष्य-गाथाओं और उनपर लिखी गयी चूर्णियों आदिके देखनेसे सहजमें ही समझमें आ जाती है।

श्वे० पञ्चसंग्रहकी रचना करते हुए चन्द्रर्षिके सम्मुख कम्मपयडी, कसायपाहुड़, संतकम्मपाहुड़, सतक और सित्तरी आदि ग्रन्थ तो थे ही, पर दि० प्रा० पञ्चसंग्रह भी था और उसके नामके आधारपर ही उन्होंने अपने ग्रन्थका पञ्चसंग्रह—यह नाम रखा। साथ ही यह प्रयत्न भी किया कि दि० पञ्चसंग्रहमें जो ग्रन्थ संग्रह करनेसे रह गये हैं उन सबका भी संग्रह इस नवीन रचे जानेवाले संग्रहमें कर दिया जाय। फलस्वरूप उन्होंने उन सबका संग्रह अपने पञ्चसंग्रहमें करना चाहा। पर उनके इस पञ्चसंग्रहमें उनके ही शब्दोंके अनुसार संग्रह तो नहीं हुआ है, हाँ, संक्षेपीकरण कहा जा सकता है। और प्रकरण-विभाजनकी दृष्टिसे हम उसे पञ्चसंग्रह न कहकर सप्त-संग्रह या अष्ट-संग्रह जरूर कह सकते हैं। अन्यथा उन्हें चाहिए यह था कि जैसे बन्धक आदि पाँच द्वारोंका स्वतन्त्र निर्माण कर "दाराणि पंच अहवा" रूप प्रतिज्ञाका निर्वाह किया है उसी प्रकार सतक, सित्तरी, संतकम्मपाहुड़, कम्मपयडी और कसायपाहुड़, इन पाँचों ग्रन्थोंके संग्रह या संक्षेपीकरण रूपसे पाँच ही संग्रह स्वतन्त्र बनाने थे और तभी ग्रन्थारम्भकी पहली और दूसरी गाथामें की हुई प्रतिज्ञाका भली-भाँति निर्वाह हो जाता। पर उन्होंने ऐसा न करके ऊपर बतलाये गये क्रमानुसार सात ही प्रकरण या द्वार रूपमें अपने पञ्चसंग्रहकी रचना की। ऐसा उन्होंने क्यों किया और संग्रह-संख्याकी विसंगति क्यों की, यह एक ऐसा प्रश्न है, जो कि ग्रन्थके किसी भी गहरे अभ्यासी और अन्वेषकके हृदयमें उठे विना नहीं रहता और सम्भवतः यही या इसी प्रकारका प्रश्न स्वयं चन्द्रर्षिके भी मनमें उठा है और उसका उन्होंने यह लिखकर स्वयंका और शंकालुओंका समाधान किया है कि ग्रन्थकर्त्ता अपनी रचना किस ढंगसे करे या कौन-सी बात पहले और कौन-सी पीछे कहे इसके लिए वह स्वतन्त्र होता है। स्वयं ग्रन्थकार ग्रन्थारम्भकी तीसरी गाथाकी स्वोपज्ञवृत्तिमें शंका उठाते हुए कहते हैं:—

"अत्र कश्चिदाह—कोऽयं द्वारोपन्यासे क्रमः ?
यतः कर्तुरधीनत्वात् सर्वासां क्रियाणां" इत्यादि

आश्चर्यकी बात तो यह है कि यदि प्रतिज्ञात पाँच द्वारोंमेंसे किसी द्वारको आगे-पीछे कहते तब तो ग्रन्थाकारकी इच्छाको प्रधानता दी जा सकती थी, पर वैसा न करके ग्रन्थकारने प्रतिज्ञात पाँचों द्वारोंमेंसे कोई

भी द्वार पहले न कहकर योगोपयोग नामक एक और ही नये द्वारकी कल्पना ही नहीं की, सृष्टि भी कर डाली और उसकी पुष्टिमें इसी पहले द्वारको तीसरी गाथाकी स्वोपज्ञ वृत्तिमें लिखा है, "यतः बन्धक जीवका परिज्ञान योग, उपयोगको जाने विना नहीं हो सकता, अतः उनका वर्णन पहले किया जाता है।

इससे भी अधिक लक्ष्य देनेकी बात और देखिए—प्रतिज्ञात प्रथम द्वारको रचनामें दूसरा, प्रतिज्ञात द्वितीय द्वारको रचनामें तीसरा, प्रतिज्ञात तृतीय द्वारको रचनामें चौथा और प्रतिज्ञात चतुर्थ द्वारको रचनामें पाँचवाँ स्थान देकर कर्मप्रकृति और सप्ततिका संग्रह वाले दो नये ही द्वार बनाये। प्रतिज्ञात 'बन्धलक्षणद्वार' कहाँ गया? यदि कहा जाये कि इसका समावेश कर्मप्रकृति और सप्ततिका-संग्रहमें कर दिया गया है तो भी यह बात विचारणीय रहती है कि उन दो संग्रहोंको पृथक्-पृथक् क्यों रचा? एक हीमें क्यों नहीं रचा जिससे कि ग्रन्थके पाँच ही द्वार बने रहते।

इस सब स्थितिको देखते हुए कोई भी पाठक निस्संकोच इस निष्कर्षपर पहुँचेगा कि वास्तवमें ग्रन्थकार चन्द्रर्षि अपने संग्रहके नामकरणमें अटपटा गये हैं। किये गये विभागोंके अनुसार उन्हें षट्संग्रह या सप्तसंग्रह आदि किसी अन्य ही नामको रखना था। अथवा वे अधिकारोंका विभाजन ठीक तौरसे नहीं कर सके। यदि ऐसा नहीं है तो मैं पूछता हूँ कि जब शतक और सप्ततिका यह दो ग्रन्थ स्वतन्त्र थे और दोनोंका विषय भी चौथे और पाँचवें द्वारके रूपमें भिन्न-भिन्न था तो फिर दोनोंका एक ही अधिकारमें संग्रह क्यों किया गया? इस प्रकार बहुत छानबीन और ऊहापोह करनेपर भी हम किसी समुचित समाधानपर नहीं पहुँच सके। यदि अन्य कोई विद्वान् मेरे प्रश्नका समुचित समाधान करेंगे, तो मैं उनका आभारी होऊँगा।

दि० श्वे० पञ्चसंग्रह-गत कुछ विशिष्ट मत-भेद

दि० पञ्चसंग्रह और चन्द्रर्षि महत्तरके पञ्चसंग्रहमें जो मत-भेद है उनमेसे कुछकी तालिका इस प्रकार है:—

१—दि० ग्रन्थकारोंने देवायु और नारकायुकी जघन्य स्थिति १० हजार वर्षकी और तीर्थंकरप्रकृतिकी अन्तःकोटाकोटि सागरोपमकी बतलाई है। किन्तु चन्द्रर्षिने तीर्थंकरप्रकृतिकी उक्त स्थिति-सम्बन्धी मान्यताके विरुद्ध अपने पञ्चसंग्रहमें लिखा है—

सुर-नारयाऊआणं दसवाससहस्स लघु सतित्थाणं। (५, ४६)

अर्थात् देव और नारकायुके समान वे तीर्थंकर प्रकृतिकी भी जघन्य स्थिति १० हजार वर्षकी बतलाते हैं। ग्रन्थकारकी इस मान्यतापर संस्कृत टीकाकार मलयगिरि आपत्ति करते हुए लिखते हैं—**"इह सूत्रकृता कस्याप्याचार्यस्य मतान्तरेण तीर्थकरनाम्नो दशवर्षसहस्रप्रमाणा जघन्या स्थितिरुक्ता, अन्यथा कर्मप्रकृत्यादिषु जघन्या स्थितिस्तीर्थकरनाम्नोऽन्तःसागरोपमकोटिकोटिप्रमाणैवोच्यते—केवलमुत्कृष्टान्तःसागरोपमकोटीकोट्याः सा संख्येयगुणहीना द्रष्टव्या। तथा चोक्तं कर्मप्रकृतिचूर्णौ—"आहारग-तित्थयरनामाणं उक्कोसओ ठिइबंधो अंतोकोडाकोडी भणिओ। तओ उक्कोसाओ ठिइबंधाओ जहन्नओ ठिइबंधो संखेज्जगुणहीणो, सो वि जहन्नओ अंतोकोडाकोडी चेव।"**

शतकचूर्णावप्युक्तं—आहारगसरीर-आहारगअंगोवंग-तित्थयरणामाणं जहण्णो ठिइबंधो अंतोसागरोवमकोडाकोडीओ, अंतोमुहुत्तमाबाहा, उक्कोसाओ संखेजगुणहीणो जहण्णो ठिइबंधो त्ति।

(पञ्चसंग्रह स्वो० वृ० पृष्ठ २२५।१)

२—इसी प्रकार श्वे० पञ्चसंग्रहकारने आहारक-द्विककी जघन्य स्थिति भी कर्मप्रकृति आदि प्राचीन कर्मग्रन्थोंसे भिन्न बतलाई है। यथा—

"आहारग विग्घावरणाणं किंचूणं।" (५, ४७)

स्वयं ही इसकी व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं—**"आहारकशरीरं तदंगोपांगं विघ्नं पंचप्रकारमन्तरायं आवरणं पंचप्रकारं ज्ञानावरणं तत्सहचरितं दर्शनावरणचतुष्कमेतासां षोडशानां प्रकृतीनां किञ्चिदूनं मुहूर्तं जघन्या स्थितिः, इति गाथार्थः।"**

अर्थात् ज्ञानावरण आदि प्रकृतियोंके समान आहारकशरीर और आहारकअंगोपांगकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त होती है।

चन्द्रर्षिके इस कथनपर आपत्ति करते हुए मलयगिरि लिखते हैं—**"अत्राप्याहारकद्विकस्य जघन्या स्थितिरन्तर्मुहूर्तप्रमाणोक्ता मतान्तरेण, अन्यथा सान्तःसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणा द्रष्टव्या, कर्मप्रकृत्यादिषु तथाभिधानात्।"**

यतः मलयगिरि कर्मप्रकृतिके भी टीकाकार हैं और अन्य कर्मग्रन्थकारोंके मतोंसे भी परिचित हैं। अतः मूल पञ्चसंग्रहकारके मतके विरुद्ध होते हुए भी 'मतान्तरेण' कहकर उनकी रक्षाका प्रयत्न कर रहे हैं। जब कि मूलमें मतान्तरका कोई संकेत नहीं है।

३—निद्रादिपञ्चककी जघन्य स्थिति भी श्वे० पञ्चसंग्रहकारने पूर्ववर्ती कार्मिक ग्रन्थोंसे भिन्न ही बतलाई है। यथा—

"सेसाणुक्कोसाओ मिच्छत्तठिईए जं लद्धं।" (५, ४८)

इसको वे स्वयं व्याख्या करते हैं—

शेषाणां शेषप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धात् मिथ्यात्वोत्कृष्टस्थित्या यल्लब्धं सा जघन्या स्थितिरिति। एवं च निद्रापञ्चके त्रयः सप्त भागाः ७।३—इत्यादि।

(श्वे० पञ्चसंग्रह पृ० २२६।१)

इस कथनपर आपत्ति करते हुए मलयगिरि कहते हैं—

इदं च किल निद्रापञ्चकादारभ्य सर्वासां प्रकृतीनां जघन्यस्थितिपरिमाणमाचार्येण मतान्तरमधिकृत्योक्तमवसेयं, कर्मप्रकृत्यादावन्यथा तस्याभिधानात्। कर्मप्रकृतौ तु—

वग्गुक्कोस ठिईणं मिच्छत्तुक्कोसगेणजं लद्धं।
सेसाणं तु जहन्नो पल्लासंखेज्जगेणूणो॥

सागरोपमस्य त्रयः सप्तभागाः, ते पल्यासंख्येयभागहीना निद्रापञ्चकासातवेदनीययोर्जघन्या स्थितिः।

४—द्वीन्द्रियादि जीवोंकी उत्कृष्ट स्थितिके विषयमें श्वे० पञ्चसंग्रहकार कर्मप्रकृति आदिकी पुरानी मान्यतासे विरुद्ध निरूपण करते हैं—

पणवीसा पन्नासा सय दससयताडिया इगिंदिठिई।
विगलासण्णीण कमा जायइ जेट्ठोव इयरा वा॥ (४, ५५)

अर्थात् एकेन्द्रियोंके जघन्य या उत्कृष्ट स्थितिबन्धको २५,५०,१०० और १००० से गुणित करनेपर क्रमशः द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवोंका जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है। पर उसकी यह मान्यता पुरातन कार्मिकोंके विरुद्ध है। इसलिए मलयगिरिको भी उक्त गाथाका अर्थ करते हुए लिखना पड़ा—

कर्मप्रकृतिकारादयः पुनरेवमाहुः—एकेन्द्रियाणामुत्कृष्टः स्थितिबन्धः पञ्चविंशत्या गुणितो द्वीन्द्रियाणामुत्कृष्टः स्थितिबन्धो भवति। पञ्चाशता गुणितस्त्रीन्द्रियाणामुत्कृष्टः स्थितिबन्धः, शतेन गुणितश्चतुरिन्द्रियाणां, सहस्रेण गुणितोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणाम्। एष एवानन्तरोक्तद्वीन्द्रियादीनामात्मीय-आत्मीय उत्कृष्टस्थितिबन्धः पल्योपमसंख्येयभागहीनो जघन्यः स्थितिबन्धो वेदितव्य इति। तत्त्वं पुनरतिशयज्ञानिनो विदन्ति।"
(पृष्ठ २२१।२)

५—श्वे० पञ्चसंग्रहके चतुर्थ द्वारकी १८वीं गाथाकी स्वोपज्ञवृत्तिमें चतुरिन्द्रियादि-जीवोंके बन्ध-हेतुओंका प्रतिपादन करते हुए चन्द्रर्षिने तीनों वेद बतलाये हैं। किन्तु यह बात कर्मप्रकृति एवं दि० कर्मग्रन्थोंके विरुद्ध है। अतः मलयगिरि इस सम्बन्धमें लिखते हैं—

"इह संज्ञिपञ्चेन्द्रियव्यतिरिक्ताः शेषाः सर्वेऽपि संसारिणो जीवाः परमार्थतो नपुंसकाः। केवलम-संज्ञिपञ्चेन्द्रियाः स्त्री-पुंलिङ्गाकारमात्रमधिकृत्य स्त्रीवेदे [पुरुषवेदे] च प्राप्यन्ते, इति तत्र त्रयो वेदाः परि-गृहीताः। चतुरिन्द्रियादीनां पुम्बीजस्त्रीपुंलिङ्गाकारमात्रमपि न विद्यते, तत इह नपुंसकवेद एव द्रष्टव्यः।"
(श्वे० पञ्चसं० वृ० पृ० १८३।२)

इन सब उल्लेखोंको देखते हुए यह सम्भव है कि चन्द्रर्षि महत्तरने अपनी इन मान्यताओंको प्रतिष्ठित करनेके लिए ही स्वतन्त्र रूपसे अपने पञ्चसंग्रहकी रचना की और मूलमें जिन बातोंका निर्देश नहीं किया जा सका उनके स्पष्टीकरणार्थ उसपर उन्होंने स्वोपज्ञ वृत्ति लिखी।

प्राकृत पञ्चसंग्रहके कुछ महत्त्वपूर्ण पाठ

सम्यग्दृष्टि जीव मरकर कहाँ-कहाँ उत्पन्न नहीं होता, इस प्रश्नके उत्तरमें एक ही गाथाके तीन रूप तीन ग्रन्थोंमें पाये जाते हैं। यथा—

१—छसु हेट्ठिमासु पुढवीसु जोइस-वण-भवण-सव्व-इत्थीसु।
वारस मिच्छावादे सम्माइट्ठिस्स णत्थि उववादो॥ (प्रा० पञ्चसंग्रह १, १९३)

२—छसु हेट्ठिमासु पुढवीसु जोइस-वण-भवण-सव्व-इत्थीसु।
णेदेसु समुप्पज्जइ सम्माइट्ठी दु जो जीवो॥ (धवला पुस्तक १, पृष्ठ २०९)

३—हेट्ठिमछप्पुढवीणं जोइसि-वण-भवण-सव्व-इत्थीणं।
पुण्णिदरे ण हि सम्मो, ण सासणो णारयापुण्णे॥ (गो० जीव० गाथा १२७)

उक्त तीनों ही गाथाओंमें पूर्वार्द्धके प्रायः एक रहते हुए भी उत्तरार्धमें पाठ-भेद है। जिनमेंसे संख्या १ और २ की गाथाओंमें स्पष्टरूपसे एक ही बात बतलाई गयी है कि सम्यग्दृष्टि जीव मरकर कहाँ-कहाँ उत्पन्न नहीं होता। फिर भी धवलाकी गाथाके पाठसे सम्यक्त्वीके एकेन्द्रियादि असंज्ञी पञ्चेन्द्रियान्त तिर्यञ्चोंमें उत्पादका निषेध-परक कोई पद नहीं है। यह एक कमी उस गाथामें रह गयी है, या पाई जाती है। पर यह गाथा धवलाकारने अपने कथनकी पुष्टिमें उद्धृत किया है।

गो० जीवकाण्डकी गाथा उसके कर्त्ता द्वारा रची गयी है। यद्यपि उसका आधार पहली या दूसरी गाथा ही रही है। फिर भी उन्होंने उसे अपने ढंगसे वर्णन करते हुए स्वतन्त्र रूपसे ही रचा है और इसीलिए उत्तरार्धमें खासकर 'ण सासणो णारयापुण्णे' यह पद जोड़ा है। इस विशेषताके प्रतिपादन करनेपर भी उसके तीन चरणोंमें जो बात कही गयी है उससे सम्यक्त्वी जीवके एकेन्द्रियादि जीवोंमें उत्पन्न होनेका निषेध नहीं होता। यह एक कमी उसमें भी रह गयी है।

पर प्राकृत पञ्चसंग्रहका जो पाठ है वह अपने अर्थको सामस्त्यरूपसे प्रकट करता है और उसके 'वारस मिच्छावादे' पदके द्वारा उन सब तिर्यंचोंका निषेध कर दिया गया है जिनमें कि बद्धायुष्क भी सम्यग्दृष्टि जीव मरकर उत्पन्न नहीं होता है। इस दृष्टिसे प्रा० पञ्चसंग्रहकी इस गाथाका यह पाठ बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। आचार्य अमितगतिने प्राकृत पञ्चसंग्रहका ही संस्कृत रूपान्तर किया है। उन्होंने उक्त गाथाका जो रूपान्तर किया है, वह इस प्रकार है—

निकायत्रितये पूर्वे श्वभ्रभूमिषु षट्स्वधः।
वनितासु समस्तासु सम्यग्दृष्टिर्न जायते॥ (सं० पञ्चसंग्रह १, २१७)

इस श्लोकको देखते हुए ऐसा ज्ञात होता है कि उनके सामने प्रा० पञ्चसंग्रहवाला पाठ न रहकर धवलावाला पाठ रहा है। अन्यथा यह सम्भव नहीं था कि वे इतनी बड़ी बात यों ही छोड़ जाते।

दि० श्वे० शतकगत पाठभेद

१—श्वे० शतकमें 'तेरस चउसु' आदि १३ वें नम्बरकी गाथा न दि० मूल शतकमें है और न प्राकृत सभाष्य शतकमें ही।

२—दि० श्वे० मूल शतकोंमें जहाँ कहीं पाठ-भेद हैं वह पाठ-भेद प्रायः सर्वत्र सभाष्य शतकसे समता रखता है, मूल शतकसे नहीं।

३—श्वे० शतकमें 'बंधट्ठाणा चउरो' इत्यादि गाथा गाथांक २६ के बाद मुद्रित तो है पर उसपर अंक-संख्या नहीं दी, जिससे ज्ञात होता है कि वह मूल-बाह्य करार दी गयी है। दि० शतकमें यह गाथा नहीं पाई जाती।

४—दि० शतककी गाथा 'अट्ठविह सत्त छबंधगा'का उत्तरार्ध श्वे० शतककी गाथा-संख्या २७से मिलता है। किन्तु सभाष्य शतकमें उसके स्थानपर नया ही पाठ है।

५—श्वे० शतकमें पाई जानेवाली गाथा-संख्या ३८ और ३९ का सभाष्य शतकमें पता भी नहीं है।

६—श्वे० शतकमें संख्या ५२, ५३ पर जो गाथाएँ पाई जाती हैं उनके स्थानपर दिगम्बर शतक और सभाष्य शतकमें तदर्थ-सूचक अन्य ही गाथाएँ पाई जाती हैं।

७—श्वे० शतकमें गाथांक ५३ के बाद जो 'बारस अंतमुहुत्ता' आदि गाथा दी है और जिसपर चूर्णि भी मुद्रित है; आश्चर्य है कि उसे मूल गाथामें क्यों नहीं गिना गया? दि० शतकमें वह मूलरूपसे ही दी है और सभाष्य शतकमें भी।

८—श्वे० शतकमें संख्या ७२, ७३ पर पाई जानेवाली दोनों गाथाएँ दि० शतकसे समता रखती हैं, पर सभाष्य दि० शतकसे नहीं। वहाँ दोनों गाथाएँ अर्थ-साम्य रखते हुए भी पाठ-भेदसे युक्त हैं। यह भी एक विचारणीय बात है। (देखो गाथा ७०, ७१ मूल)

९—श्वे० शतककी गाथा संख्या ८० दिगम्बर शतककी इसी गाथासे समता रखती है पर सभाष्य शतकमें २० के स्थानपर मिश्रको मिलाकर सर्वघातिया २१ प्रकृतियाँ बतलाई गयी हैं। यह पाठभेद भी उल्लेखनीय है कि प्राकृतवृत्तिमें मिश्रको क्यों नहीं गिनाया गया।

१०—श्वे० शतकमें गाथा ८१ में देशघाती प्रकृतियाँ २५ ही बतलाई हैं, यही बात दि० मूल शतकमें भी है। पर सभाष्य शतकमें अन्तर स्पष्ट है। वहाँ पर २६ देशघातियाँ प्रकृतियाँ बतलाई गयी हैं। यह भी अन्तर महत्त्वपूर्ण है।

दिगम्बर और श्वेताम्बर सप्ततिकागत पाठभेद

१—गाथांक ७ दिगम्बर श्वे० दोनों सप्ततिकाओंमें समान है, पर सभाष्य सप्ततिकामें उसके स्थानपर 'णव छक्कं' आदि नवीन ही गाथा पायी जाती है।

२—गाथांक ८के विषयमें दोनों समान हैं। किन्तु सभाष्य सप्ततिकामें उसके स्थानपर नवीन गाथा है।

३—गा० ९ की दिगम्बर श्वे० मूल सप्ततिकासे सभाष्य सप्ततिकामें अर्द्ध-समता और अर्द्ध-विषमता है।

४—गा० १० (गोदेसु सत्त भंगा) सभाष्य सप्ततिका और दि० मूल सप्ततिकामें है। पर श्वेताम्बर सप्ततिकामें वह नहीं पायी जाती है।

५—गा० १५ दि० श्वे० सप्ततिकामें समान है। पर सभाष्य सप्ततिकामें भिन्न है।

६—श्वे० सप्ततिकाके हिन्दी अनुवाद एवं सम्पादक 'दस बावीसे' इत्यादि गाथा १५को तथा 'चत्तारि' आदि णव बंधएसु इत्यादि गा० १६ को मूल गाथा स्वीकार करते हुए भी उन्हें सभाष्य सप्ततिकामें मूल गाथा माननेसे क्यों इनकार करते हैं? यह विचारणीय है।

७—गाथा १७ का उत्तरार्ध दि० श्वे० सप्ततिकामें समान है। पर सभाष्य सप्ततिकामें भिन्न है।

८—'एक्कं च दोणि व तिण्णि' इत्यादि गाथांक १८ न श्वे० सप्ततिकामें है और न सभाष्य सप्ततिकामें। इसके स्थानपर श्वे० सप्ततिकामें 'एतो चउबंधादि' इत्यादि गाथा पाई जाती है। पर सभाष्य सप्ततिकामें तत्स्थानीय कोई भी गाथा नहीं पायी जाती।

९—श्वे० सचूर्णि सप्ततिकामें मुद्रित गा० २६, २७ न दि० सप्ततिकामें ही पाई जाती है और न सभाष्य सप्ततिकामें। यह बात विचारणीय है।

१०—दि० सप्ततिकामें गा० २९ 'तेरस णव चदु पण्णं' यह न तो श्वे० सप्ततिकामें पाई जाती है और न सभाष्य सप्ततिकामें ही। मेरे मतसे इसे मूल गाथा होनी चाहिए।

११—'सत्तेव अपज्जत्ता' इत्यादि ३५ संख्यावाली गाथाके पश्चात् श्वे० और दि० सप्ततिकामें 'णाणंतराय तिविहमवि' इत्यादि तीन गाथाएँ पाई जाती हैं किन्तु वे सभाष्य सप्ततिकामें नहीं। उनके स्थानपर अन्य ही तीन गाथाएँ पाई जाती हैं। जिनके आद्य चरण इस प्रकार हैं—

णाणावरणे विग्घे (३३) णव छक्कं चत्तारि य (३४) और उवरयबन्धे संते (३५)।

१२—श्वे० सचूर्णि सप्ततिकामें गा० ४५ के बाद 'बारस पण सट्ठसया' इत्यादि गाथा अन्तर्भाष्य गाथाके रूपमें दी है। साथमें उसकी चूर्णि भी दी है। यही गाथा दि० सप्ततिकामें भी सवृत्ति पाई जाती है। फिर इसे मूल गाथा क्यों नहीं माना जाय ?

१३—गा० ४५ दि० सप्ततिका और सभाष्य सप्ततिकामें पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध व्युत्क्रमको लिये हुए है। पर ध्यान देनेकी बात यह है कि वह श्वे० सचूर्णि सप्ततिकाके साथ दि० सप्ततिकामें एक-सी पाई जाती है।

सत्कर्मप्राभृत

संतकम्मपाहुड या सत्कर्मप्राभृत क्या वस्तु है यह प्रश्न अद्यावधि विचारणीय बना हुआ है। श्वे० ग्रन्थकारों और चूर्णिकारोंने इनके नामका उल्लेख मात्र ही किया है। पर दि० ग्रन्थकारोंमेंसे धवला और जयधवलाकारने बीसों बार संतकम्मपाहुडका उल्लेख किया है और अनेकों स्थलोंपर कसायपाहुड आदिके अभिप्रायोंसे उसकी विभिन्नताका भी निर्देश किया है। जिससे ज्ञात होता है कि धवला और जयधवलादिके रचे जानेके समय तक यह ग्रन्थ उपलब्ध था और सैद्धान्तिक-परम्परामें अपना विशिष्ट स्थान रखता था।

यहाँ हम कुछ अवतरण दे रहे हैं जिनसे सिद्ध है कि संतकम्मपाहुडका उपदेश कसायपाहुडके उपदेशसे कितने ही विषयोंमें भिन्न रहा है—

१—धवला पुस्तक १ पृ० २१७ पर नवम गुणस्थानमें सत्त्वसे व्युच्छिन्न होनेवाली १६ और ८ प्रकृतियोंके मत-भेदका उल्लेख आया है। धवलाकार कहते हैं कि संतकम्मपाहुडके उपदेशानुसार पहले सोलह प्रकृतियोंकी सत्त्व-व्युच्छित्ति होती है और पीछे आठ प्रकृतियोंकी। पर कसायपाहुडका उपदेश है कि पहले आठ प्रकृतियोंकी व्युच्छित्ति होती है, पीछे सोलहकी। इस बातकी शंकाका उद्भावन करते हुए धवलाकार कहते हैं—

"एसो संतकम्मपाहुडउवएसो। कसायपाहुड उवएसो पुण" इत्यादि

(धवला पुस्तक १, पृ० २१७)

२—पुनः शिष्य पूछता है कि इन दोनोंमेंसे किसे प्रमाण माना जाय ? संतकम्मपाहुड और कसायपाहुड इन दोनोंको ही सूत्र रूपसे प्रामाणिक नहीं माना जा सकता है, इन दोनोंमेंसे कोई एक ही सूत्र रूपसे या जिनोक्त वचनरूपसे प्रमाण माना जा सकता है ?

आयरियकहियाणं संतकम्म-कसायपाहुडाणं कथं सुत्तत्तणमिदि चे ण··· इत्यादि

(धवला पुस्तक १, पृ० २२१)

अन्तमें धवलाकार समाधान करते हुए लिखते हैं कि आज वर्तमानकालमें केवली या श्रुतकेवली नहीं हैं जिनसे कि उक्त मत-भेदमेंसे किसी एकको सच्चाई या सूत्रताका निर्णय किया जा सके। दोनों ही ग्रन्थ वीतराग आचार्योंके द्वारा प्रणीत हैं, अतः दोनोंका ही संग्रह करना चाहिए।

धवलाकारके इस निर्णयसे दो बातें स्पष्ट रूपसे सिद्ध होती हैं—एक तो उनके सामने संतकम्मपाहुडके या उसके उपदेशके प्राप्त होनेकी और दूसरी बात सिद्ध होती है उसकी प्रामाणिकताकी।

३—एत्थ एदेसिं चउण्हमुवक्कमाणं जहा संतकम्मपयडिपाहुडे परूविदं, तहा परूवेयव्वं। जहा महाबंधे परूविदं, तहा परूवणा एत्थ किण्ण कीरदे ? ण, तस्स पढमसमयबन्धम्मि चेव वावारादो।

(धवला क पत्र १२६७)

४—संतकम्मपाहुडके विषयमें स्वयं ही शंका उठाते हुए धवलाकार लिखते हैं—

"पुणो एदेसिं चउण्हं पि बन्धणोवक्कमाणं अत्थो जहा संतकम्मपाहुडम्मि उत्तो तहा वत्तव्वो ? संतकम्मपाहुडमिदि णाम कदमं ? महाकम्मपयडिपाहुडस्स चउवीस-अणिओगद्दारेसु चउत्थ-छट्ठम-सत्तमणि-योगद्दाराणि दव्व-काल-भाव-विहाणणामधेयाणि। पुणो तहा महाकम्मपयडिपाहुडस्स पंचमो पयडिणामा-हियारो। तत्थ चत्तारि अणियोगद्दाराणि अट्ठकम्माणं पयडि-ट्ठिदि-अणुभाग-पदेससत्ताणि परूविय सूचि-दुत्तरपयडिट्ठिदिअणुभागपदेससत्तादो। एदाणि संतकम्मपाहुडं णाम।

(धवला पुस्तक १५, पंजिका पृ० १८, परि०)

५—इसी बातको स्पष्ट करते हुए जयधवलामें भी लिखा है—

"संतकम्ममहाहियारे कदि-वेदणादि चउवीसणियोगद्दारेसु पडिबद्धेसु उदओ णाम अत्थाहियादो ट्ठिदि-अणुभाग-पदेसाणं पयडिसमणिण्णयाणमुक्कस्साणुक्कस्सजहण्णाजहण्णुदयपरूवणे य वावारो।"

(जयधवला अ० ५१२)

'भवोपग्गहिया' पदकी व्याख्या करते हुए जयधवलाकार लिखते हैं—**'संतकम्मपाहुडे वित्थारेण भणिदो।'**

(जयध० मेनु० पृ० ६५८)

६—वर्गणा खण्डके पश्चात् धवलाकारने जिन १८ अनुयोगद्वारोंका वर्णन किया है उनके ऊपर किसी अज्ञात आचार्यने पंजिका नामक एक वृत्तिको रचा है। उसे रचते हुए वे कहते हैं—**"पुणो तेहिंतो सेसट्ठा-रसाणियोगद्दाराणि संतकम्मे सव्वाणि परूविदाणि, तो वि तस्साइगंभीरत्तादो अत्थविसमपदाणमत्थे थोरु-च्चेयण पंजियसरूवेण भणिस्सामो।" (धवला पुस्तक १५, पृष्ठ १)**

इन उल्लेखोंसे सिद्ध होता है कि महाकम्मपयडिपाहुडके जिन शेष १८ अनुयोगद्वारोंका षट्खण्डागममें वर्णन नहीं किया जा सका उन्हींके वर्णन करनेवाले मूलसूत्ररूप ग्रन्थका नाम सन्तकम्मपाहुड रहा है।

७—यह ग्रन्थ गद्य-सूत्रोंमें रहा, या पद्य-गाथाओंमें, यह एक प्रश्न पाठकोंके हृदयमें सहज ही उत्पन्न होता है। धवला और जयधवलाके भीतर जितने भी उल्लेख मिलते हैं उनसे इस विषयपर कोई स्पष्ट प्रकाश नहीं पड़ता है। किन्तु सप्ततिकाचूर्णिमें दिये गये एक उल्लेखसे यह ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ गाथा-निबद्ध रहा है। वह उल्लेख इस प्रकार है—

सन्तकम्मे भणियं–णिद्दादुगस्स उदओ खीणग खवगे परिच्चज्ज।

(सप्ततिका चूर्णि गाथा ९)

ऐसा प्रतीत होता है कि षट्खण्डागमके वेदना और वर्गणा खण्डमें जो सूत्रगाथाएँ पाई जाती हैं वे सम्भवतः इसी संतकम्मपाहुडकी रही हैं और उन्हें ही आधार बनाकर षट्खण्डागमकारने अपने जीवस्थान आदि अधिकारोंकी रचना की है।

८—धवला पुस्तक ६ के पृष्ठ १०९ पर वीरसेनाचार्य एक शंकाका उद्भावन कर उसका समाधान करते हुए लिखते हैं—

'विगलिंदियाणं बंधो उदओ वि दुस्सरं चेव होदि त्ति।'

अर्थात् विकलेन्द्रियोंसे दुःस्वर प्रकृतिका ही बन्ध होता है और उसका ही उदय रहता है। जो भ्रमर आदिके स्वरको मधुर मानकर विकलेन्द्रिय जीवोंके सुस्वर नामकर्मके उदयका प्रतिपादन करते हैं, उनका मत ठीक नहीं है।

किन्तु चूर्णिमें संतकम्मपाहुडका जो उल्लेख आया है, उसमें धवलाकारके मतसे सर्वथा भिन्न या प्रति-कूल ही मत पाया जाता है। वह उल्लेख इस प्रकार है—

"अण्णे भणंति—सुस्सरं विगलिंदियाणं णत्थि । तण्ण, संतकम्मे उक्तत्वात् ।"

(सित्तरी चूर्णि० गा० २५ पत्र २१।१)

अर्थात् जो लोग यह कहते हैं कि विकलेन्द्रियोंके सुस्वर कर्मका उदय नहीं होता है, तो उनका यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि संतकम्मपाहुडमें विकलेन्द्रिय जीवोंके सुस्वर कर्मका उदय कहा गया है ।

इस शंका-समाधानसे यह निष्कर्ष निकलता है कि संतकम्मपाहुडके सभी उपदेश वीरसेनको मान्य नहीं रहे हैं । इस बातकी पुष्टि एक अन्य उद्धरणसे भी होती है—

धवला पुस्तक ९ पृ० ३१८ पर वीरसेनने कहा है—

"······एदमप्पाबहुगं सोलसवदिय-अप्पाबहुएण सह विरुज्झदे······तेणेत्थ उवएसं लद्दिय एगदरणिण्णओ कायव्वो । संतकम्मपयडिपाहुडं मोत्तूण सोलसपदिय अप्पाबहुअदंडए पहाणे कदे···।"

अर्थात् संतकम्मपाहुडके उपदेशको छोड़कर इस सोलहपदिक उपदेशकी मुख्यतासे इस विवक्षित अल्प-बहुत्वका निर्णय करना चाहिए ।

ऊपर दिये गये अन्तिम दो उल्लेखोंसे यह बात भलीभाँति सिद्ध होती है कि कितनी ही बातोंमें संत-कम्मपाहुडका उपदेश कसायपाहुड, कम्मपयडी आदिके उपदेशोंसे भिन्न रहा है और धवलाकारको जहाँ जो बात उचित जँची है वहाँ उसका समर्थन या निषेध कर दिया है । अथवा तुल्य बलवाली बातोंमें दोनोंको प्रमाण मानकर उनके उपदेशको संग्रह करनेका भी विधान कर दिया है ।

उक्त विवेचनके प्रकाशमें जब हम नं० ४ और नं० ५ के उद्धरणोंका मिलान करते हैं, तो बहुत-सी बातें विचारणीय हो जाती हैं—

१. महाकम्मपयडि पाहुडके जिन उदय आदि शेष अट्ठारह अनुयोग द्वारोंको संतकम्मपाहुड माननेकी सूचना धवला और जयधवलाकारने की है, क्या वह ठीक है ?

२. संतकम्मपाहुडके नामसे जितने भी मतभेद धवला, जयधवला और सित्तरी चूर्णि आदिमें मिलते हैं, वे सब क्या उक्त अट्ठारह अनुयोग द्वारोंमें उपलब्ध हैं ? यदि नहीं, तो फिर उन्हें संतकम्मपाहुड क्यों माना जाय ?

३. नं० ७ पर दिये गये उद्धरणके अनुसार संतकम्मपाहुडको गाथा-निबद्ध होना चाहिए । पर उक्त १८ अनुयोग द्वारोंके जितने भी सूत्र मिलते हैं, वे सब गद्यरूप हैं । पद्यरूपमें उनके भीतर एक भी प्राप्त नहीं है । ऐसी दशामें यही क्यों न माना जाय कि षट्खण्डागमको जो संतकम्मपाहुड मानते हैं उनकी धारणा भ्रम-मूलक है ।[1]

दो दिगम्बर संस्कृत पञ्चसंग्रह

प्राकृत पञ्चसंग्रहको आधार बनाकर जिस संस्कृत पञ्चसंग्रहकी रचना आचार्य अमितगतिने की है उसका परिचय पहले दिया जा चुका है । उसी प्राकृत पञ्चसंग्रहको आधार बनाकर श्री श्रीपालसुत डड्ढाने अपने संस्कृत पञ्चसंग्रहकी रचना की । अमितगतिके संस्कृत पञ्चसंग्रहके होते हुए उन्हें एक और संस्कृत पञ्चसंग्रहकी रचना क्यों आवश्यक प्रतीत हुई यह एक विचारणीय प्रश्न है । दोनों संस्कृत पञ्चसंग्रहोंका तुलनात्मक अध्ययन करनेपर उक्त प्रश्नका उत्तर हमें मिल जाता है । आचार्य अमितगतिने मूल प्राकृत पञ्चसंग्रहका शब्दशः अनुकरण नहीं किया । कितने ही स्थलोंपर उन्होंने मूलके अंशको छोड़ा है और कितने ही स्थलोंपर कुछ नवीन बातोंको जोड़ा भी है । इस बातकी चर्चा हम पहले स्वतन्त्र रूपसे कर आये हैं । अमितगतिकी यह बात सम्भवतः डड्ढाको अच्छी नहीं लगी और इसीलिए उन्हें एक स्वतन्त्र पद्या-नुवादकी प्रेरणा प्राप्त हुई । डड्ढाने सर्वत्र मूलका अनुगमन किया है । जहाँ अमितगतिने अनावश्यक या अतिरिक्त वर्णन किया है उसे प्रायः डड्ढाने छोड़ दिया है । हाँ, कहीं-कहीं कुछ आवश्यक बातोंका निरूपण

---

1 देखो, धवला पुस्तक सं० 1 की प्रस्तावना ।

अवश्य उन्होंने यथास्थान किया है। दोनों संस्कृत पञ्चसंग्रहोंकी तुलना संक्षेपमें इस प्रकार की जा सकती है—

१—कितने ही स्थलोंपर स्थानकी उपयुक्तता डड्ढाकृत पञ्चसंग्रहमें पाई जाती है वह अमितगतिके पञ्चसंग्रहमें नहीं है।

(क) संज्ञाओंके स्वरूप डड्ढाने यथास्थान दिये हैं किन्तु अमितगतिने जीवसमास प्रकरणके अन्तमें दिये हैं।

(ख) साधारण वनस्पतिका लक्षण डड्ढाकृत सं० पञ्चसंग्रहमें प्रा० पञ्चसंग्रहके समान यथा-स्थान दिया गया है। किन्तु अमितगतिने उसे यथास्थान न देकर उससे बहुत पहले दिया है। (देखो जीव-समास प्रकरण श्लो० १०५ आदि।)

(ग) जीवसमास प्रकरणमें ज्ञानमार्गणाका वर्णन डड्ढाने प्रा० पञ्चसंग्रहके ही अनुसार किया है। किन्तु अमितगतिने इसे कुछ परिवर्धित किया है, अतः मत्यज्ञान आदिका स्वरूप मूलके अनुसार यथास्थान न होकर स्थानान्तरित हो गया है।

२—कितने ही स्थलोंपर डड्ढाकी रचना अमितगतिकी अपेक्षा अधिक सुन्दर है। देखो मार्गणाओंके नामवाले दोनोंके श्लोक :

अमितगति पञ्चसंग्रह श्लोक १, १३२, १३३
डड्ढा ,, १, ६८

३—डड्ढाकी रचना मूल गाथाओंके अधिक समीप है, अमितगतिकी नहीं। देखो प्रथम प्रकरणमें चारों गतियोंका स्वरूप तथा कायमार्गणा और कषायमार्गणाके श्लोक आदि।

४—प्राकृत पञ्चसंग्रहके प्रथम प्रकरणमें 'अण्डज पोतज जरजा' इत्यादि गाथा दी हुई है। पर अमितगतिने इसका अनुवाद नहीं दिया, जब कि डड्ढाने दिया है। (देखो श्लोक १, ८६)। इसी प्रकार संयममार्गणामें ११ प्रतिमावाली गाथाका भी। (देखो श्लोक १, १७१)।

५—जीवसमासकी ७४वीं मूल गाथाका पद्यानुवाद जितना डड्ढाका मूलके समीप है उतना अमितगति-का नहीं। (देखो १,१५१ और १,१८७)।

६—अमितगतिने जीवसमासकी 'साहारणमाहारो' इत्यादि तीन गाथाओंका (प्रकरण १, गाथा ८७ आदि) जहाँ स्पर्श भी नहीं किया, वहाँ डड्ढाने उनका सुन्दर पद्यानुवाद किया है। समझमें नहीं आता कि अमितगतिने उक्त गाथाओंको क्यों छोड़ दिया।

७—उक्त स्थलपर अमितगतिने गोम्मटसार जीवकाण्डकी 'उववाद मारणंतिय' इत्यादि गाथाका आश्रय लेकर उसका अनुवाद किया है जबकि जीवसमासके मूलमें वह गाथा नहीं है और इसीलिए डड्ढाने उसका अनुवाद नहीं किया।

८—कितने ही स्थलोंपर डड्ढाने अमितगतिकी अपेक्षा कुछ विषयोंको बढ़ाया भी है। यथा :—

(क) प्रथम प्रकरणमें धर्मोंका स्वरूप।

(ख) योगमार्गणाके अन्तमें विक्रियादिका स्वरूप।

९—अमितगतिने 'मनःपर्ययदर्शन क्यों नहीं होता' इस प्रश्नपर भी प्रकाश डाला है। यतः यह बात मूल गाथामें नहीं है अतः डड्ढाने उसपर कुछ प्रकाश नहीं डाला। (देखो दर्शनमार्गणा प्रकरण १)।

१०—अमितगतिने प्रथम प्रकरणमें सम्यक्त्व मार्गणाके भीतर गोम्मटसार कर्मकाण्डके आधारसे ३६३ पाखंडियोंकी चर्चा की है। पर मूलमें न होनेसे डड्ढाने उसकी चर्चा नहीं की है।

११—अमितगतिने तीसरे प्रकरणके श्लोक संख्या ८२, ८७ आदिके पश्चात् जिस बातको संस्कृत गद्य-के द्वारा स्पष्ट किया है वैसा डड्ढाने नहीं किया। सम्भवतः इसका कारण यह ज्ञात होता है कि वे मूलसे बाहर-की बातको नहीं कहना चाहते हैं।

दोनों संस्कृत पञ्चसंग्रहोंके सम्बन्धमें कुछ विचारणीय बातें

१—अमितगतिने पाँचवें प्रकरणमें पृष्ठ १७४के नीचे 'उक्तं च' कहकर 'असम्प्राप्त' इत्यादि १६५ वाँ श्लोक दिया है। ठीक इसी प्रकारसे इसी स्थलपर डड्ढाने श्लोक १४८ के नीचेवाली गद्यके पश्चात् 'उक्तं च' कहकर "अयशःकी०" इत्यादि अमितगतिसे भिन्न ही श्लोक दिया है।

यहाँ विचारणीय बात यह है कि जब दोनों ही श्लोक अर्थ-साम्य रखते हुए भी शब्द-साम्य नहीं रखते, तो फिर 'उक्तं च'का क्या अर्थ है? क्या यह 'मक्षिकास्थाने मक्षिकापातः' नहीं है? यही बात आगे भी दृष्टिगोचर होती है।

२—अमितगतिके संस्कृत पञ्चसंग्रहके पृष्ठ २०४ पर 'एतदुक्तम्' कहकर 'चतुःषष्ठ्या' इत्यादि ३५० वाँ श्लोक है। तथैव डड्ढाके पञ्चसंग्रहमें सप्ततिकामें श्लोकाङ्क ३१७ 'उक्तं च' कहकर दिया गया है। खास बात यह है कि अर्थ-साम्य होते हुए भी दोनों श्लोकोंमें शब्द-साम्य नहीं है।

३—डड्ढाकृत सप्ततिकाके श्लोक संख्या २४९ के पश्चात् 'अत्र वृत्तिश्लोकाः पञ्च' वाक्य दिया है। उसका आधार क्या है? यह विचारणीय है। यदि इन श्लोकोंका आधार पञ्चसंग्रहकी संस्कृत वृत्ति ही है तो यह सिद्ध है कि डड्ढा संस्कृत टीकाकारके पीछे हुए हैं।

४—अमितगतिसे डड्ढाके पञ्चसंग्रहमें एक विशेषता यह भी है कि जहाँ अमितगतिने सप्ततिकामें पृष्ठ २२१ पर श्लोकांक ४५३ में शेष मार्गणाओंके बन्धादि-त्रिकको न कहकर मूलके समान ही 'पर्यालोच्यो यथागमं' कहकर छोड़ दिया है, वहाँ डड्ढाने श्लोकांक ३९० में 'बन्धादित्रयं नेयं यथागमं' कहकर भी उसके आगे समस्त मार्गणाओंमें उसे आधार बनाकर बन्धादि-त्रिकके पूरे स्थानोंको गिनाया है जो कि प्राकृत पञ्चसंग्रहके निर्देशानुसार होना ही चाहिए। अमितगतिने उन्हें क्यों छोड़ दिया? यह बात विचारणीय है।

सभाष्य पञ्चसंग्रह

पञ्चसंग्रहमें संगृहीत पाँचों प्रकरणोंके मूल रूपोंको देखनेपर सहजमें ही यह अनुभव होता है कि प्रत्येक प्रकरणकी मूल-गाथा-संख्या अल्प रही है और संग्रहकारने उनपर भाष्यगाथाएँ रचकर उन्हें पल्लवित या परिवर्धित कर प्रस्तुत संकलनका नाम 'पञ्चसंग्रह' रखा है। प्रस्तुत ग्रन्थमें संग्रहकारने जिन पाँच प्रकरणोंका संग्रह किया है, उनके नाम इस प्रकार हैं—१ जीवसमास, २ प्रकृतिसमुत्कीर्त्तन, ३ कर्मस्तव, ४ शतक और ५ सप्ततिका। इनमेंसे अन्तिम तीन प्रकरण अपने मूलरूप और उसकी प्राकृत चूर्णि एवं संस्कृत टीकाओंके साथ विभिन्न संस्थाओंसे प्रकाशित हो चुके हैं। उनके साथ जब हम प्रस्तुत ग्रन्थमें संगृहीत इन प्रकरणोंका मिलान करते हैं, तो स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि संग्रहकारने किस प्रकरणपर कितनी भाष्य-गाथाएँ रचीं हैं। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

कर्मस्तवको कर्मबन्धस्तव या बन्धस्तव भी कहते हैं। श्वे० सम्प्रदायमें इसकी गणना प्राचीन कर्मग्रन्थोंमें की जाती है। अभी तक भी इसके संग्रहकर्त्ता या रचयिताका नाम अज्ञात है। श्वे० संस्थाओंकी ओरसे जो इसके संस्करण प्रकाशित हुए हैं, उनमें इसकी गाथा-संख्या ५५ पाई जाती है। और प्रस्तुत ग्रन्थके अन्तमें मुद्रित प्राकृतवृत्ति-युक्त पञ्चसंग्रहमें इसकी गाथा-संख्या ५४ पाई जाती है। किन्तु इसपर रची गई भाष्य-गाथाओंको देखते हुए इस प्रकरणकी मूल-गाथा-संख्या ५२ ही सिद्ध होती है, अतः हमने तदनुसार ही गाथाके प्रारम्भमें यही मूल-गाथा-संख्या दी है। संग्रहकारने सभी मूल-गाथाओंपर भाष्य-गाथाएँ नहीं रची हैं, किन्तु उन्हें जो गाथाएँ क्लिष्ट या अर्थ-बहुल प्रतीत हुईं, उनपर ही उन्होंने भाष्य-गाथाएँ रची हैं। इस प्रकार १२ गाथाएँ ही इस प्रकरणमें भाष्य-गाथाओंके रूपमें उपलब्ध होती हैं।

इसी प्रकरणके अन्तमें एक चूलिका प्रकरण भी है जो श्वे० संस्थाओंसे प्रकाशित बन्धस्तवमें नहीं पाया जाता। प्राकृतवृत्तिमें उसकी गाथा-संख्या ३४ है। किन्तु सभाष्य-कर्मस्तवमें चूलिका रूपसे केवल १३ गाथाएँ ही मिलती हैं। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि इन दोनों चूलिकाओंमें विषय-गत समता होते हुए भी गाथागत कोई

समानता नहीं है। प्रत्युत ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त १३ गाथाओंको सामने रखकर उनके भाष्यरूपमें ३४ गाथाओंका निर्माण किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थके चौथे प्रकरणका नाम शतक है। यतः इसकी मूल-गाथाएँ १०० ही रही हैं, अतः इसका नाम गाथा-संख्याके आधारपर शतक ही प्रसिद्ध या प्रचलित हो गया है। श्वे० संस्थाओंसे मुद्रित शतक प्रकरणमें इसकी गाथा-संख्या १०६ पाई जाती है। प्राकृतवृत्तिके अनुसार इसकी गाथा-संख्या १३९ है। किन्तु सभाष्य शतकके अनुसार इसकी गाथा-संख्या १०५ ही सिद्ध होती है। यद्यपि दोनों सम्प्रदायोंके अनुसार इस प्रकरणकी मूल-गाथाएँ १०० से अधिक मिलती हैं, पर ऐसा ज्ञात होता है कि प्रारम्भकी उत्थानिका-गाथा और अन्तकी उपसंहारात्मक-गाथाओंको न गिननेपर विवक्षित विषयकी प्रतिपादक गाथाओंको लक्ष्य करके 'शतक' यह नाम प्रख्यात हुआ है। भाष्यकारने इन मूल-गाथाओंपर जो भाष्य-गाथाएँ रची हैं, उन्हें मिलाकर इस प्रकरणकी गाथा-संख्या ५२२ हो जाती है, जिसका यह निष्कर्ष निकलता है कि इस प्रकरणकी भाष्य-गाथा-संख्या ४१७ है।

पाँचवें प्रकरणका नाम सप्ततिका है। प्राकृत भाषामें इसे सित्तरी या सत्तरी भी कहते हैं। इस प्रकरणका भी नाम-करण उसकी गाथा-संख्याके आधारपर प्रसिद्ध हुआ है। सित्तरी या सप्ततिका नामको देखते हुए इसकी मूल-गाथा-संख्या ७० ही होनी चाहिए। श्वे० संस्थाओंसे प्रकाशित प्रतियोंके अनुसार इसकी गाथा-संख्या ७२ है। प्राकृतवृत्तिमें उसकी गाथा-संख्या ९९ पाई जाती है। परन्तु भाष्यगाथाकारके अनुसार ७२ ही सिद्ध होती है। इसकी यदि आदि और अन्तकी उत्थानिका और उपसंहार-गाथा रूप २ गाथाओंको छोड़ दिया जावे, तो विवक्षित अर्थकी प्रतिपादन करनेवाली ७० गाथाएँ ही रह जाती हैं और तदनुसार इसका सित्तरी या सप्ततिका नाम भी सार्थक हो जाता है। भाष्य-गाथाकारने इन मूल-गाथाओंपर जो भाष्य-गाथाएँ रची हैं, उनके समेत इस प्रकरणकी कुल गाथा-संख्या ५०७ है और इसके अनुसार भाष्य-गाथाओंकी संख्या ४३५ सिद्ध होती है।

उक्त दोनों प्रकरणोंपर ही संग्रहकारने सबसे अधिक भाष्य-गाथाओंकी रचना की है। यतः विषयकी दृष्टिसे ये दोनों प्रकरण ही दुर्गम एवं अर्थ-बहुल रहे हैं, अतः उनपर अधिक भाष्य-गाथाओंका रचा जाना स्वाभाविक ही है।

पञ्चसंग्रहके प्रथम प्रकरणका नाम जीवसमास है। इस नामका एक ग्रन्थ श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था रतलामकी ओरसे सन् १९२८ में एक संग्रहके भीतर प्रकाशित हुआ है, जिसकी गाथा-संख्या २८६ है। नाम-साम्य होते हुए भी अधिकांश गाथाएँ न विषय-गत समता रखती हैं और न अर्थगत समता ही। गाथा-संख्याकी दृष्टिसे भी दोनोंमें पर्याप्त अन्तर है। फिर भी जितना कुछ साम्य पाया जाता है, उनके आधारपर एक बात सुनिश्चित रूपसे कही जा सकती है कि श्वे० संस्थाओंसे प्रकाशित जीवसमास प्राचीन है। पञ्चसंग्रहकारने उसके द्वारा सूचित अनुयोग द्वारोंमेंसे १-२ अनुयोग द्वारके आधारपर अपने जीवसमास प्रकरणकी रचना की है। इसके पक्षमें कुछ प्रमाण निम्न प्रकार हैं—

१. श्वे० संस्थाओंसे प्रकाशित जीवसमासको 'पूर्वभृत्सूरिसूत्रित' माना जाता है। इसका यह अर्थ है कि जब जैन परम्परामें पूर्वोंका ज्ञान विद्यमान था, उस समय किसी पूर्ववेत्ता आचार्यने इसका निर्माण किया है। ग्रन्थ-रचनाके देखनेसे ऐसा ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ भूतवलि और पुष्पदन्तसे भी प्राचीन है और वह षट्खण्डागमके जीवट्ठाण नामक प्रथम खण्डकी आठों प्ररूपणाओंके सूत्र-निर्माणमें आधार रहा है, तथा यही ग्रन्थ प्रस्तुत पञ्चसंग्रहके जीवसमास नामक प्रथम प्रकरणका भी आधार रहा है। इसकी साक्षीमें उक्त ग्रन्थकी एक गाथा प्रमाण रूपसे उपस्थित की जाती है जो कि श्वे० जीवसमासमें मंगलाचरणके पश्चात् ही पाई जाती है। वह इस प्रकार है—

णिक्खेव-णिरुत्तीहिं य छहिं अट्ठहिं अणुओगदारेहिं।
गइआइमग्गणाहि य जीवसमासाऽणुगंतव्वा ॥२॥

इसमें बतलाया गया है कि नामादि निक्षेपोंके द्वारा; निरुक्तिके द्वारा, निर्देश, स्वामित्व आदि छह

और सत्, संख्या आदि आठ अनुयोग-द्वारोंसे तथा गति आदि चौदह मार्गणा-द्वारोंसे जीवसमासको जानना चाहिए। इसके पश्चात् उक्त सूचनाके अनुसार ही सत्-संख्यादि आठों प्ररूपणाओं आदिका मार्गणास्थानोंमें वर्णन किया गया है। इस जीवसमास प्रकरणकी गाथा-संख्याकी स्वल्पता और जीवट्ठाणके आठों प्ररूपणाओंकी सूत्र-संख्याकी विशालता[1] ही उसके निर्माणमें एक दूसरेकी आधार-आधेयताको सिद्ध करती है।

जीवसमासकी गाथाओंका और षट्खण्डागमके जीवस्थानखंडकी आठों प्ररूपणाओंका वर्णन-क्रम विषयकी दृष्टिसे कितना समान है, यह पाठक दोनोंका अध्ययन कर स्वयं ही अनुभव करें।

प्रस्तुत पञ्चसंग्रहके जीवसमास प्रकरणके अन्तमें उपसंहार करते हुए जो १८२ अंक-संख्यावाली गाथा पाई जाती है, उससे भी हमारे उक्त कथनकी पुष्टि होती है। वह गाथा इस प्रकार है—

णिक्खेवे एयट्ठे णयप्पमाणे णिरुत्ति-अणिओगे।
मग्गइ वीसं भेए सो जाणइ जीवसब्भावं॥

अर्थात् जो पुरुष निक्षेप, एकार्थ, नय, प्रमाण, निरुक्ति और अनुयोगद्वारोंसे मार्गणा आदि बीस भेदोंमें जीवका अन्वेषण करता है, वह जीवके यथार्थ सद्भाव या स्वरूपको जानता है।

पाठक स्वयं ही देखें कि पहली गाथाकी बातको ही दूसरी गाथाके द्वारा प्रतिपादित किया गया है। केवल एक अन्तर दोनोंमें है। वह यह कि पहली गाथा उक्त प्रकरणके प्रारम्भमें दी है, जब कि दूसरी गाथा उस प्रकरणके अन्तमें। पहले प्रकरणमें प्रतिज्ञाके अनुसार प्रतिपाद्य विषयका प्रतिपादन किया गया है, जब कि दूसरे प्रकरणमें केवल एक निर्देश अनुयोग द्वारसे १४ मार्गणाओंमें जीवकी विंशतिविधा सत्प्ररूपणा की गई है और शेष संख्यादि प्ररूपणाओंको न कहकर उनके जाननेकी सूचना कर दी गई है।

२. पृथिवी आदि षट्कायिक जीवोंके भेद प्रतिपादन करनेवाली गाथाएँ भी दोनों जीवसमासोंमें बहुत कुछ समता रखती हैं।

३. प्राकृत वृत्तिवाले जीवसमासकी अनेक गाथाएँ उक्त जीवसमासमें ज्यों-की-त्यों पाई जाती हैं।

उक्त समताके होते हुए भी पञ्चसंग्रहकारने उक्त जीवसमास-प्रकरणकी अनेक गाथाएँ जहाँ संकलित की हैं, वहाँ अनेक गाथाएँ उनपर भाष्यरूपसे रची हैं और अनेक गाथाओंका आगमके आधारपर स्वयं भी स्वतन्त्र रूपसे निर्माण किया है। ऐसी स्थितिमें उनकी निश्चित संख्याका बतलाना कठिन है। प्राकृत वृत्तिवाले जीवसमासमें गाथा-संख्या १७६ और सभाष्य पञ्चसंग्रहमें २०६ पाई जाती है। इनमें कई गाथाएँ एकसे दूसरेमें सर्वथा भिन्न एवं नवीन भी पाई जाती हैं, जिनका पता पाठकोंको उनका अध्ययन करनेपर स्वयं लग जायगा।

पञ्चसंग्रहके दूसरे प्रकरणका नाम प्रकृति समुत्कीर्त्तन है। प्रकृतियोंके नामोंका समुत्कीर्त्तन गद्यके द्वारा ही किया गया है। यह गद्य-भाग षट्खण्डागमके जीवट्ठाण खण्डके अन्तर्गत प्रकृति समुत्कीर्त्तन अधिकारके साथ शब्दशः समान है और दोनोंकी स्थिति देखते हुए यह कहा जा सकता है कि पञ्चसंग्रहकारने वहाँसे ही अपने इस प्रकरणका संग्रह किया है। इस प्रकरणके आदि और अन्तमें जो १२ गाथाएँ पायी जाती हैं उनमेंसे कुछ तो पूर्व परम्परागत हैं और शेषका निर्माण पञ्चसंग्रहकारने किया है। प्राकृतवृत्तिके इस प्रकरणमें गद्य-भाग तो समान ही है। गाथाओंमें प्रारम्भ की ४ गाथाओंको छोड़कर कोई समता नहीं है। उसमेंकी अनेक गाथाएँ इधर-उधरसे संकलित की गई ज्ञात होती हैं, जब कि पहलेकी गाथाएँ संग्रहकार-द्वारा रची गई प्रतीत होती हैं। श्वे० सम्प्रदायमें इस नामवाला कोई प्रकरण देखनेमें नहीं आया। हाँ, इस विषयके जो कर्म विपाक आदि प्रकरण रचे गये हैं, ये सब अर्वाचीन हैं और गाथाओंमें हैं। अतः उनके साथ प्रस्तुत संग्रहकी रचना-समानताकी बात करना व्यर्थ है।

भाष्य गाथाओंके साथ समस्त गाथाओंकी संख्या १३२४ है। गद्य-भाग इससे पृथक् है। जिसका

---

१. जीवसमासकी गाथासंख्या २८६ है, जब कि षट्खण्डागमके जीवट्ठाणकी सूत्रसंख्या ढाई हजारके लगभग है। —सम्पादक

कि परिमाण ५०० श्लोकोंसे भी अधिक है। पाँचों ही प्रकरणोंके प्रारम्भमें स्वतन्त्र मङ्गलाचरण किया गया है और उसके साथ ही प्रतिपाद्य विषयके निरूपणकी प्रतिज्ञा की गई है।

पाँचों प्रकरणोंकी उपर्युक्त स्थितिमें यह बात असंदिग्ध रूपसे सिद्ध हो जाती है कि प्रस्तुत ग्रन्थमें संगृहीत पाँचों ही प्रकरण संग्रहकारको पूर्व परम्परासे प्राप्त थे और उन्हें संक्षिप्त एवं अर्थ-बोधकी दृष्टिसे दुर्गम देखकर उन्होंने उनपर भाष्य-गाथाएँ रचीं, और उन पूर्वागत पाँचों प्रकरणोंके वही नाम रखकर अपने संग्रहको पञ्चसंग्रहका रूप दिया। पर जहाँ तक मेरी जानकारी है, संग्रहकार या भाष्य-गाथाकारने अपने शब्दोंमें 'पञ्चसंग्रह' ऐसा नाम कहीं भी प्रकट नहीं किया है। उक्त प्रकरण एक साथ एक ही आचार्यके द्वारा भाष्य-गाथाओंके साथ निबद्ध होनेके पश्चात् ही परवर्त्ती विद्वानोंके द्वारा 'पञ्चसंग्रह' नाम प्रचलित हुआ प्रतीत होता है।

पञ्चसंग्रहकार कौन ?

प्रस्तुत ग्रन्थके पाँचों मूल प्रकरणोंके रचयिताओंके नाम अभी तक अज्ञात ही हैं। हाँ, श्वेताम्बर विद्वान् शिवशर्मको शतकका निर्माता मानते हैं। शतककी मुद्रित चूर्णिके प्रारम्भिक अंशसे भी इस बातकी पुष्टि होती है[1]। किन्तु शेष चारों प्रकरणोंके रचयिताओंका कुछ भी पता नहीं चलता है। साथ ही जिन शतक और सप्ततिका इन दो प्रकरणोंपर प्राकृत चूर्णियाँ उपलब्ध हैं, उनके रचयिताओंका भी अभी तक कोई पता नहीं है। इससे पञ्चसंग्रहके मूल प्रकरणों और उनकी चूर्णियोंकी प्राचीनता, प्रामाणिकता और उभय सम्प्रदायमें मान्यता सिद्ध है।

पञ्चसंग्रहके ऊपर भाष्य-गाथाएँ रचनेवाले और पाँचों प्रकरणोंको एकत्र निबद्ध करनेवाले आचार्य-का नाम भी अभीतक अज्ञात ही है, जब तक कोई आधार या प्रमाण स्पष्ट रूपसे सामने नहीं आ जाता है, तब तक उसके कर्त्ताके विषयमें कल्पना करना कोरी कल्पना ही समझी जायगी। इसलिए उसपर विचार न करके यह विचार करना उचित होगा कि पञ्चसंग्रहके ऊपर भाष्य-गाथाएँ रचनेवाले आचार्य किस समयमें हुए हैं ?

प्रस्तुत ग्रन्थके पाँचों मूल प्रकरणोंकी रचना कर्मप्रकृति या कम्मपयडीके आस-पास होना चाहिए। और यतः कर्मप्रकृतिके रचयिता शिवशर्म ही शतकके भी रचयिता माने जाते हैं, और इनपर रची गई चूर्णियाँ भी यतः इनके कुछ समय बाद ही रची गई प्रतीत होती हैं, अतः उन मूल प्रकरणोंकी रचनाका काल भी शिवशर्मके लगभगका माना जा सकता है। इस प्रकार शिवशर्मके कालको मूल पञ्चसंग्रहकारके कालकी पूर्वा-वधि कहा जा सकता है।

धवला टीकामें जीवसमास नामके साथ जिस 'छप्पंचणवविहाणं' इत्यादि गाथाका उल्लेख आया है[2]। वह गाथा ज्यों-की-त्यों प्रस्तुत ग्रन्थके जीवसमास प्रकरणमें पायी जाती है, अतः उक्त प्रकरणका रचना-काल धवला टीकासे पूर्व होना चाहिए। यतः श्वे० पञ्चसंग्रहकार चन्द्रर्षिके सामने दि० सभाष्य पञ्च-संग्रह विद्यमान था, जैसा कि हम पहले सिद्ध कर आये हैं, अतः उनके पूर्व इसकी रचनाका होना सिद्ध है। शतक चूर्णिमें एक स्थलपर जो गाथा-गत पाठ-भेदका उल्लेख किया गया है, उससे सिद्ध होता है कि उक्त चूर्णिके पूर्व सभाष्य पञ्चसंग्रह रचा जा चुका था। शतक-गत वह गाथा इस प्रकार है—

आउक्कस्स पएसस्स पंच मोहस्स सत्त ठाणाणि।
सेसाणि तणुकसाओ बंधइ उक्कोसगे जोगे ॥९३॥

इस गाथाकी चूर्णिमें "अन्ने पढंति आउक्कस्स छ त्ति'.......अन्ने पढंति मोहस्स णव उ ठाणाणि" इस प्रकारसे आयुकर्म और मोहकर्म सम्बन्धी स्थानोंके दो पाठ-भेद आये हैं। ये दोनों पाठ-भेद दि० पञ्च-संग्रहके चौथे शतक प्रकरणमें इस प्रकार पाये जाते हैं—

---

१. केण कयं ?...'अणेगवायसमालद्धविजएण सिवसम्मायरियणामधेज्जेण कयं इत्यादि, (शतक चूर्णि गा० १, पत्र १। २. धवला पु० ४, पृ० ३१५।

आउवकस्स पदेसस्स कुण्व मोहस्स णव दु ठाणाणि ।
सेसाणि तणुकसाओ बंधइ उक्कोसगे जोगे ॥४,५०२॥

यद्यपि शतकचूर्णिके निर्माणका काल अभी तक निश्चित नहीं है, तथापि वह चूर्णि-युगमें ही रची गई है, इतना तो निश्चित है और इसी आधारपरसे उसे कम-से-कम विक्रमकी सातवीं शताब्दीसे पूर्वकी तो मान ही सकते हैं ।

उक्त आधारोंके बलपर इतना कहा जा सकता है कि सभाष्य प्राकृत पञ्चसंग्रहकी रचना विक्रमकी पाँचवीं और आठवीं शताब्दीके मध्यवर्ती कालमें हुई है ।

प्राकृतवृत्तिगत पञ्चसंग्रह

प्रस्तुत ग्रन्थमें सभाष्य पञ्चसंग्रहके पश्चात् प्राकृत वृत्ति-सहित पञ्चसंग्रह भी मुद्रित है । प्रकरणोंके नाम वे ही हैं, जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है । किन्तु उनके क्रममें अन्तर है और गाथा-संख्यामें भी । गाथा-संख्याका अन्तर पहले बतला आये हैं । क्रमका अन्तर यह है कि इसमें पहले प्रकृति समुत्कीर्त्तन, पुनः कर्मस्तव और तदनन्तर जीवसमास प्रकरण निबद्ध किये गये मिलते हैं । अन्तिम दोनों प्रकरण दोनोंमें समान-रूपसे चौथे और पाँचवें स्थानपर निबद्ध हैं । तीसरा अन्तर अन्तिम प्रकरणके मंगलाचरणका है, जब कि प्रथम चार प्रकरणोंकी मंगल-गाथाएँ समान हैं ।

उपर्युक्त स्थितिको देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि प्राकृत-वृत्तिकारको उक्त प्रकरण स्वतन्त्र रूपसे ही अपने स्वतन्त्र पाठोंके साथ प्राप्त हुए और उन्होंने पञ्चसंग्रहके अन्यत्र प्रसिद्ध बध्य, बन्धेश, बन्धक, बन्ध-कारण और बन्धभेद इन पाँच द्वारोंके अनुसार उनका संकलन कर व्याख्या करना उचित समझा है । गाथाओंके संकलनको देखते हुए ऐसा लगता है कि वृत्तिकारको सभाष्य पञ्चसंग्रह नहीं उपलब्ध हुआ और इसीलिए उन्होंने प्राचीन चूर्णियोंकी शैलीमें ही अपनी प्राकृत वृत्तिकी रचना की है ।

प्राकृत वृत्ति और वृत्तिकार

इस वृत्तिके रचयिता श्री पद्मनन्दि मुनि हैं, यह बात शतक नामक चौथे प्रकरणके मध्यमें दी गई गाथाओंसे ज्ञात होती है । वे गाथाएँ इस प्रकार हैं—

जह जिणवरेहिं कहियं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं ।
आयरियकमेण पुणो जह गंगणइपवाहुव्व ॥
तह पउमणंदिमुणिणा रइयं भवियाण बोहणट्ठाए ।
ओघादेसेण य पयडीणं बंधसामित्तं ॥
छउमत्थयाय रइयं जं इत्थ हविज्ज पवयणविरुद्धं ।
तं पवयणाइकुसला सोहंतु मुणी पयत्तेण ॥

इन गाथाओंका भाव यह है कि जो कर्म-प्रकृतियोंका बन्धस्वामित्व जिनेन्द्रदेवने कहा, जिसे गणधर देवोंने गूँथा और जो गंगानदीके प्रवाहके समान आचार्य-परम्परासे चला आ रहा है, उसे मुझ पद्मनन्दी मुनिने भव्योंके प्रबोधनार्थ रचा है । इसमें मेरे छद्मस्थ होनेके कारण जो कुछ भी प्रवचन-विरुद्ध कहा गया हो, उसे प्रवचनमें कुशल मुनिजन सावधानीके साथ शुद्ध करें ।

इस उल्लेखके अतिरिक्त उक्त वृत्तिमें अन्यत्र कोई दूसरा उल्लेख नहीं मिलता है, जिससे कि उसके रचयिताकी आचार्य-परम्परा आदिके विषयमें कुछ विशेष जाना जा सके । हाँ, वृत्तिमें उद्धृत पद्योंके आधार-पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वे अकलङ्कदेवसे पीछे हुए हैं; क्योंकि उनके लघीयस्त्रयकी 'ज्ञानं प्रमाणमित्याहुः' इत्यादि कारिका पाई जाती है ।

पद्मनन्दि नामके अनेक मुनि हुए हैं । उनमेंसे किसने इस प्राकृतवृत्तिको रचा, यह यद्यपि निश्चय-पूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता है, तथापि जम्बूद्वीपपण्णत्तीके रचयिता पद्मनन्दिकी ही अधिक सम्भावना

दिखती है। साधनाभावसे हम कोई निर्णय करनेमें असमर्थ हैं। अनुमानतः विक्रमकी दशवीं शताब्दीसे पूर्वमें ही इसका रचा जाना अधिक संभव है।

वृत्तिकारने अपनी रचनामें कसायपाहुडकी चूर्णि और धवला टीकाकी शैलीका अनुसरण किया है। विषय-प्रतिपादनको देखते हुए यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि वे जैनसिद्धान्तके अच्छे वेत्ता रहे हैं। उनके द्वारा दी गई अनेक परिभाषाएँ अपूर्व हैं, क्योंकि उनका अन्यत्र दर्शन नहीं होता है। वृत्तिकारने सभी गाथाओंपर वृत्ति नहीं लिखी है, किन्तु चूर्णिसूत्रकार यतिवृषभके समान उन्हें जिस गाथापर कुछ कहना अभीष्ट हुआ, उसीपर ही उन्होंने लिखा है। यतिवृषभके समान ही उन्होंने गाथाओंकी समुत्कीर्त्तना कर **'एसो सव्वपयडीणं बन्धवुच्छेदो कादव्वो भवदि। तं जहा'**[1]—इत्यादि वाक्योंको लिखा है।

प्राकृतवृत्तिके आदिमें ग्रन्थकी उत्थानिकाके रूपमें जो सन्दर्भ दिया हुआ है, वह धवला—जयधवलाकी उत्थानिकाका अनुकरण करते हुए भी अपनी बहुत कुछ विशेषता रखता है। पर इसके विषयमें एक बात खासतौरसे विचारणीय है और वह यह कि जहाँ धवला या जयधवलाकार उस प्रकारकी उत्थानिकाके अन्त-में प्रतिपाद्य-विवक्षित ग्रन्थका नामोल्लेख करके उसके नामकी सार्थकता आदिका निरूपण करते हैं, वहाँ इस प्राकृतवृत्तिमें पञ्चसंग्रहका कोई नामोल्लेख आदि नहीं पाया जाता। प्रत्युत 'आराधना'का नाम पाया जाता है। वह इस प्रकार है—

'तत्थ गुणणामं आराहणा इदि किं कारणं? जेण आराधिज्जंते अणआ दंसण-णाण-चरित्त-तवाणि त्ति[2]?'

इस उद्धरणमें स्पष्टरूपसे 'आराधना'का नाम दिया गया है और उसकी निरुक्तिके द्वारा यह भी बतला दिया गया है कि जिसके द्वारा दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपकी आराधना की जाती है उसे आराधना कहते हैं।

इस उल्लेखको देखते हुए यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इसके पूर्वका और आगेका समस्त उत्थानिका-सन्दर्भ 'भगवती आराधना'की उस प्राकृत टीकाका है, जिसका उल्लेख अपराजित सूरिने अपनी विजयोदया टीकामें अनेक वार किया है। दुर्भाग्यसे आज वह उपलब्ध नहीं है, फिर भी इसे कम सौभाग्य नहीं माना जा सकता कि इस रूपमें उसकी 'बानगी' या 'नमूना' हमें देखनेको मिल गया है।

भगवती आराधनामें दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चारों ही आराधनाओंका वर्णन किया गया है, यह उसके मंगलाचरण एवं उसके आगेवाली गाथासे ही सिद्ध एवं सर्वविदित है। भ० आराधनाकी वे दोनों गाथाएँ इस प्रकार हैं—

सिद्धे जयप्पसिद्धे चउविह आराहणा फलं पत्ते।
वंदित्ता अरहंते वोच्छं आराहणा कमसो॥१॥
उज्जोवणमुज्जवणं णिव्वहणं साहणं च णिच्छरणं।
दंसण-णाण-चरित्त-तवाणमाराहणा भणिया॥२॥

ऐसा ज्ञात होता है कि पञ्चसंग्रहकी प्रतिलिपि करनेवाले किसी लेखकको उक्त भ० आराधनाकी प्राकृत टीकाका उक्त अंश उपलब्ध हुआ और उसे उसने लिखकर उसके आगे सवृत्ति पञ्चसंग्रहकी प्रतिलिपि करना प्रारम्भ कर दिया। जिससे वे दोनों एक ही ग्रन्थके अंश समझे जाने लगे। यहाँ इतना और ज्ञातव्य है कि अभी तक प्राकृत वृत्तिकी एक ही प्रति मिली है। यदि आगे किसी अन्य भण्डारसे कोई दूसरी प्रति उपलब्ध होगी, तो उससे उक्त बातपर और भी अधिक प्रकाश पड़ सकेगा।

---

१. देखो प्रस्तुत ग्रन्थके पृष्ठ ५६६ आदि।
२. देखो प्रस्तुत ग्रन्थका पृष्ठ ५४३।

दोनों संस्कृत पञ्चसंग्रहोंका रचना-काल

प्राकृत सभाष्य पञ्चसंग्रहको आधार बनाकर दि० सम्प्रदायमें दो संस्कृत पञ्चसंग्रह रचे गये हैं—एकके रचयिता हैं अनेक ग्रंथोंके निर्माता आ० अमितगति और दूसरेके निर्माता हैं श्रीपालसुत डड्ढा। इनमें पहलेवाला पञ्चसंग्रह माणिकचंद ग्रन्थमालासे सन् १९२७ में प्रकाशित हो चुका है। आ० अमितगति-का समय निश्चित है। उन्होंने अपने इस सं० पञ्चसंग्रहकी रचना मसूतिकापुरमें वि० सं० १०७३ में की है, यह बात उसमें दी गई अन्तिम प्रशस्तिके इस श्लोकसे सिद्ध है—

त्रिसप्तत्यधिकेऽब्दानां सहस्रे शकविद्विषः।
मसूतिकापुरे जातमिदं शास्त्रं मनोरमम् ॥१॥

प्रा० पञ्चसंग्रहके साथ अमितगतिके इस सं० पञ्चसंग्रहको रखकर तुलना करनेपर यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि उन्होंने प्राकृत पञ्चसंग्रहका ही संस्कृत पद्यानुवाद किया है। पर आश्चर्यकी बात तो यह है कि उन्होंने समग्र ग्रन्थ भरमें कहीं ऐसा एक भी संकेत नहीं किया, कि जिससे उक्त बात ज्ञात हो सके। इसके विपरीत उन्होंने ग्रन्थके प्रत्येक प्रकरणके अन्तमें श्लेषरूपसे अपने नामको अवश्य व्यक्त किया है। यथा—

१ सोऽश्नुतेऽमितगतिः शिवास्पदम्। (१,३५३)
२ याति स भव्योऽमितगतिरिष्टम्॥ (२,४८)
३ ज्ञानात्मकं सोऽमितगत्युपैति। (३,१०६)
४ सिद्धिमबन्धोऽमितगतिरिष्टाम्। (४,३७५)
५ सोऽस्तु तेऽमितगतिः शिवास्पदम्। (५,४८४)

इस सबके पश्चात् प्रशस्तिमें तो स्पष्ट ही कहा है कि मसूतिकापुरमें इस शास्त्रकी रचना हुई है।

आ० अमितगति-द्वारा रचे गये अन्य ग्रन्थोंमें भी यही बात दृष्टिगोचर होती है। क्या अपने नाम-प्रसिद्धिके व्यामोहमें दूसरेके नामका अपलाप पाप नहीं है? यह ठीक है कि प्रा० पञ्चसंग्रहके रचयिता अज्ञात आचार्य रहे हैं। परन्तु यथार्थ स्थितिसे अपने पाठकोंको परिचित रखनेके लिए कमसे कम उन्हें प्राकृत पञ्चसंग्रहके अस्तित्वका और उसके आधारपर अपनी रचना रचनेका उल्लेख तो करना ही चाहिए था। यही गनीमतकी बात है कि उन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ और उसके प्रकरणोंका नाम नहीं बदला और प्राकृत पञ्चसंग्रहके समान वे ही नाम अपने संस्कृत पञ्चसंग्रहमें दिये।

यह संस्कृत पञ्चसंग्रह लगभग २५०० श्लोक प्रमाण है।

दूसरे संस्कृत पञ्चसंग्रहकी एक मात्र प्रति ईडरके भण्डारसे ही सर्वप्रथम प्राप्त हुई है। इसके रच-यिता श्रीपाल-सुत डड्ढा हैं। इन्होंने अपनी रचनामें तीन स्थलोंपर जो परिचयात्मक पद्य दिये हैं, उनमेंसे दो तो बिलकुल शब्दशः समान हैं। एकके उत्तरार्धमें कुछ विभिन्नता है। वे दोनों पद्य इस प्रकार हैं—

१. श्रीचित्रकूटवास्तव्यप्राग्वाटवणिजा कृते।
श्रीपालसुतडड्ढेन स्फुटार्थः पञ्चसंग्रहः॥ ४,३३३
५,४२८

२. श्रीचित्रकूटवास्तव्यप्राग्वाटवणिजा कृते।
श्रीपालसुतडड्ढेन स्फुटः प्रकृतिसंग्रहः॥ (५,८५)
(मुद्रित पृ० ७४१)

इन उपर्युक्त दोनों ही पद्योंमें रचयिताने अपना संक्षिप्त परिचय दिया है, उससे इतना ही विदित होता है कि चित्रकूट (सम्भवतः चित्तौरगढ़) के निवासी, प्राग्वाट (पोरवाड़ या परवार) जातीय वैश्य श्रीश्रीपालके सुपुत्र डड्ढाने इस सं० पञ्चसंग्रहकी रचना की है। इतने मात्र संक्षिप्त परिचयसे न उनके समयपर प्रकाश पड़ता है और न उनके गुरु आदिकी परम्परा पर ही। परन्तु पञ्चसंग्रहकी संस्कृत टीकाका

प्रभाव श्रीडड्ढा पर रहा है, यह बात उनके द्वारा दी गई संदृष्टियोंसे अवश्य हृदयपर अंकित होती है। संस्कृतटीकाकारने अपनी रचनाका काल विक्रम सं० १६२० दिया है अतः इसके बाद ही इस दूसरे सं० पञ्चसंग्रहकी रचना हुई है। प्राप्त प्रतिकी स्थिति और लिखावट आदि देखते हुए वह ३०० वर्ष प्राचीन प्रतीत होती है—यह बात हम प्रति-परिचयमें बतला आये हैं अतः इसके विक्रमकी सत्तरहवीं शताब्दीमें रचे जानेका अनुमान होता है।

दि० परम्परामें पं० आशाधरजी, पं० मेधावी और पं० राजमल्लजीके पश्चात् संस्कृत भाषामें ग्रन्थ-रचना करनेवाले सम्भवतः ये अन्तिम विद्वान् प्रतीत होते हैं। ये गृहस्थ थे, यह बात अपनी जाति और पिताके नामोल्लेखसे ही सिद्ध है। ये प्रतिभाशाली एवं कर्मशास्त्रके अच्छे अधिकारी विद्वान् रहे हैं, ऐसा उनकी रचनाका अध्ययन करनेपर सहज ही अनुभव होता है। अमितगतिके सं० पञ्चसंग्रहके होते हुए इन्होंने क्यों पुनः सं० पञ्चसंग्रहकी रचना की, यह बात पहले इसी प्रस्तावनामें स्पष्ट की जा चुकी है। यह सं० पञ्चसंग्रह लगभग २००० श्लोक-प्रमाण है।

प्रा० पञ्चसंग्रहकी संस्कृत टीका

प्राकृत पञ्चसंग्रहके ऊपर जो संस्कृत टीका उपलब्ध हुई है यह प्रस्तुत ग्रन्थमें दी गई है। दुर्भाग्यसे इसका प्रारम्भिक अंश उपलब्ध नहीं हो सका और न दूसरी कोई प्रति ही मिल सकी, जिससे कि उस खण्डित अंशकी पूर्ति की जा सकती। यद्यपि यह टीका तीसरे प्रकरणकी ४०वीं गाथातक त्रुटित है, तथापि उसके भी विनाशके भयसे व्याकुल होकर एवं श्रुत-रक्षाकी भावनासे प्रेरित होकर ज्ञानपीठके संचालकों और उसके सम्पादकोंने उसे प्रकाशमें लाना उचित समझा और इसीलिए जहाँसे भी वह उपलब्ध हुई, वहींसे उसे प्रकाशित करनेकी व्यवस्था की गई है।

टीका अपने आपमें साङ्गोपाङ्ग है। प्रत्येक स्थलपर अग्रिम वक्तव्यकी उत्थानिका देकर और गाथाको पूरा उद्धृत कर टीका लिखी गई है। प्रत्येक आवश्यक स्थलपर अंक-संदृष्टियाँ दी गई हैं, जिससे उसकी उपयोगिता और भी अधिक बढ़ गई है। बीच-बीचमें अपने कथनकी पुष्टिमें अमितगतिके संस्कृत पञ्चसंग्रहके अनेकों श्लोक एवं गोम्मटसार जीवकाण्ड-कर्मकाण्डकी अनेकों गाथाएँ उद्धृत की गई हैं। टीकाकी भाषा अत्यन्त सरल और प्रसादगुण-युक्त है।

टीकाकार

इस टीकाके रचयिता सूरि (सम्भवतः भट्टारक) श्री सुमतिकीर्ति हैं। इन्होंने अपनी इस टीकाको वि० सं० १६२० के भाद्रपद शुक्ला दशमीके दिन ईलाव (?) नगरके आदिनाथ-चैत्यालयमें पूर्ण किया है, यह बात टीकाके अन्तमें दी गई प्रशस्तिसे स्पष्ट है। टीकाकारने अपनी जो गुरु-परम्परा दी है, उसके अनुसार वे मूलसंघ और बलात्कारगणमें श्री कुन्दकुन्दाचार्यकी परम्परामें उत्पन्न हुए पद्मनन्दी, देवेन्द्रकीर्त्ति, मल्लिभूषण, लक्ष्मीचन्द्र, वीरचन्द्र, ज्ञानभूषण और प्रभाचन्द्रके पश्चात् भट्टारक पदपर आसीन हुए हैं। हंस नामक किसी वर्णीके उप-देशसे प्रेरित होकर उन्होंने प्रस्तुत टीकाका निर्माण किया है। इसका संशोधन उनके गुरु ज्ञानभूषणने किया है।

संस्कृत टीकाकारकी एक भूल

पञ्चसंग्रहके टीकाकार सुमतिकीर्ति समग्र ग्रन्थकी संस्कृत टीका करते हुए भी एक बहुत बड़ी भूल प्रस्तुत ग्रन्थके यथार्थ नामको नहीं समझ सकनेके कारण उसके अध्याय-विभाजनमें कर गये हैं। गोम्मटसारका दूसरा नाम पञ्चसंग्रह उसके टीकाकारोंने दिया है। सकलकीर्त्तिने देखा कि गो० जीव काण्डका विषय प्रस्तुत ग्रन्थके प्रथम प्रकरण जीवसमासमें आया है। किन्तु गो० जीवकाण्डमें तो ७३३ गाथाएँ हैं और इसमें केवल २०६ ही। अतः यह लघु गो० जीवकाण्ड होना चाहिए। इसी प्रकार गो० कर्मकाण्डके प्रकृति समुत्कीर्त्तन अधिकारमें ९० के लगभग गाथाएँ पाई जाती हैं, पर इसमें तो केवल १२ ही हैं। इसी प्रकार आगे भी गो० कर्मकाण्डके जिस प्रकरणमें जितनी गाथाएँ हैं, उससे प्रस्तुत ग्रन्थके विवक्षित प्रकरणमें कम ही गाथाएँ दृष्टिगोचर हो रही

हैं; अतः यह लघु गो० कर्मकाण्ड होना चाहिए। इस प्रकारके मति-विभ्रम हो जानेके कारण उन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थको लघु गोम्मटसार ही समझ लिया और इसीके फलस्वरूप अधिकारोंके अन्तमें जो पुष्पिका-वाक्य दिये हैं, उसमें उन्होंने सर्वत्र उक्त भूलको दुहराया है। यहाँ हम इस प्रकारकी पुष्पिकाके दो उद्धरण देते हैं—

१. इति श्रीपञ्चसंग्रहापरनामलघुगोम्मटसारसिद्धान्तटीकायां कर्मकाण्डे बन्धोदयोदीरणसत्त्वप्ररूपणो नाम द्वितीयोऽध्यायः।

(देखो, पृ० ७४ की टिप्पणी)

२. इति श्रीपञ्चसंग्रहगोम्मट्टसारसिद्धान्तटीकायां कर्मकाण्डे जीवसमासादिप्रत्ययप्ररूपणो नाम चतुर्थोऽधिकारः।

(देखो, पृ० १७४ की टिप्पणी)

इस प्रकारकी भूल सभी अधिकारोंमें हुई है। उक्त दोनों उद्धरण गो० कर्मकाण्डके नामोल्लेख वाले दिये गये हैं, गो० जीवकाण्डके नामवाले नहीं। इसका कारण यह है कि प्रारम्भके दो प्रकरणोंपर अर्थात् जीवसमास और प्रकृति समुत्कीर्त्तनपर संस्कृत टीका उपलब्ध नहीं है। जो आदर्श प्रति प्राप्त हुई है, उसके प्रारम्भके ३७ पत्र नहीं मिल सके हैं जिनमें उक्त दोनों प्रकरणोंकी संस्कृत टीका रही है। लेकिन प्राप्त पुष्पिकाओंके आधारपर यह निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि जीवसमासकी समाप्तिपर टीकाकार-द्वारा जो पुष्पिका दी गई होगी, उसमें उसे 'लघु गोम्मटसार जीवकाण्ड' अवश्य कहा गया होगा। साथ ही आगेके अधिकारोंके विभाजनको देखते हुए यह भी निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उसके भी अधिकारोंका विभाजन उन्होंने ठीक उसी प्रकार किया होगा, जिस प्रकारसे कि गो० जीवकाण्डमें पाया जाता है। इसके प्रमाणमें हम उपलब्ध पुष्पिकाओंसे दिये गये अधिकारोंकी क्रम-संख्याको प्रस्तुत करते हैं।

प्रा० पञ्चसंग्रहका कर्मस्तव तीसरा अधिकार है। पर उसके अन्तमें जो पुष्पिका दी गयी है, उसमें उसे दूसरा अध्याय कहा गया है। (देखो, पृ० ७४ की ऊपर दी गई पुष्पिका) इससे ज्ञात होता है कि उन्होंने प्रकृतिसमुत्कीर्त्तन नामक दूसरे अधिकारको प्रथम अधिकार समझा है। और यतः गो० कर्मकाण्डमें प्रकृति-समुत्कीर्त्तन नामका प्रथम और बन्धोदयसत्त्व प्ररूपणावाला द्वितीय अधिकार पाया जाता है, अतः टीकाकारने प्रकृतिसमुत्कीर्त्तन अधिकारसे लेकर आगेके भागको गो० कर्मकाण्डका संक्षिप्त रूप मान लिया, और उसके पूर्ववर्ती भागको गो० जीवकाण्डका। अतः उन्होंने तदनुसार ही अधिकारोंका विभाजन करना प्रारम्भ कर दिया। यदि उन्हें यह विभ्रम न होता, तो वे पञ्चसंग्रहके मूल अधिकारोंके समान ही अधिकारोंका विभाजन करते और उनके अन्तमें ही अपनी पुष्पिका देते।

उक्त विभ्रमकी पुष्टिमें दूसरी बात यह है कि प्रारम्भके दो अधिकारोंकी टीकाको छोड़कर शेष अधिकारोंपर जो टीका की गई है, उसपर मूल अधिकारोंके समान ही अधिकारोंकी अंक-संख्या दी जानी चाहिए थी। किन्तु हम देखते हैं कि पाँचवें सप्ततिका अधिकारकी समाप्तिपर सातवें अध्यायके समाप्तिका निर्देश किया गया है।

टीकाकारने मूल-गाथा और भाष्य-गाथाका अन्तर न समझ सकनेके कारण कहीं-कहीं मूल और भाष्य-गाथाकी टीका एक साथ ही की है। पर मैंने सर्वत्र मूल-गाथासे भाष्य-गाथाको पृथक् रखा है और तदनुसार पृथक् रूपसे ही उसका अनुवाद किया है। इससे २-१ स्थलोंपर अनुवाद कुछ असंगत-सा दिखाई देने लगा है (देखो, पृ० ४१५ इत्यादि)। परन्तु मूल-गाथाओंकी भिन्नता प्रकट करनेके लिए उनका पृथक् अनुवाद करना अनिवार्य रूपसे आवश्यक था।

जिस प्रकार आ० अमितगतिने श्लेषरूपमें प्रत्येक अधिकारके अन्तमें अपने नामका उल्लेख किया है ठीक उसी प्रकारसे संस्कृत टीकाकारने भी किया है और इसलिए अमितगतिके सं० पञ्चसंग्रहका अपनी टीकामें भर-पूर उपयोग करते हुए एवं पर्याप्त-संख्यामें उसके श्लोकोंको उद्धृत करते हुए भी उन्होंने उनके

अधिकार-समाप्तिपर दिये गये श्लोकोंमें थोड़ा-बहुत शब्द-परिवर्तन कर स्व-रचितके रूपमें उपस्थित किया है। उदाहरणके लिए एक बानगी इस प्रकार है—

बन्धविचारं बहुतमभेदं यो हृदि धत्ते विगलितखेदम्।
याति स भव्यो व्यपगतकष्टां सिद्धिमबन्धोऽमितगतिरिष्टाम्॥
(सं० पञ्चसं० पृ० १४१)

बन्धविचारं बहुविधिभेदं यो हृदि धत्ते विगलितपापम्।
याति स भव्यः सुमतिसुकीर्तिं सौख्यमनन्तं शिवपदसारम्॥
(प्रस्तुत ग्रन्थ पृ० २६३)

दोनों पद्योंमें एक ही बात कही गई है, शब्द और अर्थ-साम्य भी है। परन्तु 'अमितगति' के नामपर अपने 'सुमतिकीर्त्ति' नामको प्रतिष्ठित कर दिया गया है जो स्पष्टरूपसे अनुकरण है।

विषय-परिचय

जैसा कि इस ग्रन्थके नामसे प्रकट है, इसमें पाँच प्रकरणोंका संग्रह किया गया है। उनके नाम इस प्रकार हैं—जीवसमास, प्रकृतिसमुत्कीर्त्तन, बन्धस्तव, शतक और सप्ततिका।

१ जीवसमास—इस प्रकरणमें गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणा और उपयोग, इन बीस प्ररूपणाओंके द्वारा जीवोंकी विविध दशाओंका वर्णन किया गया है। मोह और योगके निमित्तसे होनेवाले जीवोंके परिणामोंके तारतम्यरूप क्रम-विकसित स्थानोंको गुणस्थान कहते हैं। गुणस्थान चौदह होते हैं—मिथ्यात्व, सासादन, सम्यग्मिथ्यात्व, अविरतसम्यक्त्व, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली। इनका स्वरूप प्रथम प्रकरणके प्रारम्भमें बतलाया गया है। दूसरी जीवसमास प्ररूपणा है। जिन धर्मविशेषोंके द्वारा नाना जीव और उनकी नाना प्रकारकी जातियाँ जानी जाती हैं, उन धर्मविशेषोंको जीवसमास कहते हैं। जीवसमासके संक्षेपसे चौदह भेद हैं और विस्तारकी अपेक्षा इक्कीस, तीस, बत्तीस, छत्तीस, अड़तीस, अड़तालीस, चौवन और सत्तावन भेद होते हैं। इन सर्व भेदोंका प्रथम प्रकरणमें विस्तारसे विवेचन किया गया है। तीसरी पर्याप्ति-प्ररूपणा है। प्राणोंके कारणभूत शक्तिकी प्राप्तिको पर्याप्ति कहते हैं। पर्याप्तियाँ छह प्रकारकी होती हैं—आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति, भाषापर्याप्ति और मनःपर्याप्ति। एकेन्द्रिय-जीवोंके प्रारम्भकी चार, विकलेन्द्रिय जीवोंके प्रारम्भकी पाँच और संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवोंके छहों पर्याप्तियाँ होती हैं। चौथी प्राणप्ररूपणा है। पर्याप्तियोंके कार्यरूप इन्द्रियादिके उत्पन्न होनेको प्राण कहते हैं। प्राणोंके दस भेद हैं—स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, कर्णेन्द्रिय, मनोबल, वचनबल, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास। इनमेंसे एकेन्द्रिय जीवोंके स्पर्शनेन्द्रिय, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास; ये चार प्राण होते हैं। द्वीन्द्रियजीवोंके रसनेन्द्रिय और वचनबल इन दोके साथ उपर्युक्त चार प्राण मिलाकर छह प्राण होते हैं। त्रीन्द्रियजीवोंके इन्हीं छहमें घ्राणेन्द्रिय मिला देनेपर सात प्राण होते हैं। चतुरिन्द्रिय जीवोंके इन्हीं सातमें चक्षुरिन्द्रिय मिला देनेपर आठ प्राण होते हैं। असंज्ञी पञ्चेन्द्रियजीवोंके इन्हीं आठमें कर्णेन्द्रिय मिला देनेपर नौ प्राण होते हैं। संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवोंके इन्हीं नौ प्राणोंमें मनोबल और मिला देनेपर दस प्राण होते हैं। पाँचवीं संज्ञा-प्ररूपणा है। जिनके सेवन करनेसे जीव इस लोक और परलोकमें दुःखोंका अनुभव करता है, उन्हें संज्ञा कहते हैं। संज्ञाके चार भेद हैं—आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रह संज्ञा। एकेन्द्रियसे लगाकर पञ्चेन्द्रिय तकके सर्व जीवोंके ये चारों ही संज्ञाएँ पायी जाती हैं। जिन अवस्थाविशेषोंमें जीवोंका अन्वेषण किया जाता है, उन्हें मार्गणा कहते हैं। मार्गणाओंके चौदह भेद हैं—गतिमार्गणा, इन्द्रिय-मार्गणा, कायमार्गणा, योगमार्गणा, वेदमार्गणा, कषायमार्गणा, ज्ञानमार्गणा, संयममार्गणा, दर्शनमार्गणा,

लेश्यामार्गणा, भव्यमार्गणा, सम्यक्त्वमार्गणा, संज्ञिमार्गणा और आहारमार्गणा। प्रथम प्रकरणमें इन चौदह मार्गणाओंका विस्तारके साथ वर्णन किया गया है। बीसवीं उपयोग-प्ररूपणा है। वस्तुके स्वरूपको जाननेके लिए जीवका जो भाव प्रवृत्त होता है, उसे उपयोग कहते हैं। उपयोग दो प्रकारका होता है—साकारोपयोग और अनाकारोपयोग। साकारोपयोगके आठ और अनाकारोपयोगके चार भेद होते हैं। इस प्रकार पहले जीवसमास प्रकरणमें बीसप्ररूपणोंके द्वारा जीवोंकी विविध दशाओंका विस्तारके साथ वर्णन किया गया है।

२ प्रकृतिसमुत्कीर्तन—यह पञ्चसंग्रहका द्वितीय प्रकरण है। इसमें कर्मोंकी मूल प्रकृतियों और उत्तर प्रकृतियोंका निरूपण किया गया है। मूलप्रकृतियाँ आठ हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। इनकी उत्तर प्रकृतियाँ क्रमशः पाँच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, तिरानबे, दो और पाँच है। जो सब मिलाकर १४८ होती हैं। इनमेंसे बन्ध-योग्य प्रकृतियाँ १२०, उदययोग्य प्रकृतियाँ १२२, उद्वेलन-प्रकृतियाँ ११, ध्रुवबन्धी प्रकृतियाँ ४७, अध्रुवबन्धी ११, परिवर्तमान प्रकृतियाँ ६२ तथा सत्त्व-योग्य प्रकृतियाँ १४८ हैं। पञ्चसंग्रहके पाँचों प्रकरणोंमें यह सबसे छोटा प्रकरण है। यतः कर्म-विषयक अन्य ग्रन्थोंमें कर्म-प्रकृतियोंका विस्तृत विवेचन किया गया है, अतः ग्रन्थकारने प्रकृतियोंके नाम-निर्देशके अतिरिक्त अन्य कुछ वर्णन करना आवश्यक नहीं समझा है।

३ कर्मस्तव—यह पञ्चसंग्रहका तृतीय प्रकरण है। कुछ आचार्य इसे बन्धस्तव और कुछ कर्म-बन्धस्तवके नामसे भी इसका उल्लेख करते हैं। इस प्रकरणकी मूलगाथाओंकी संख्या ५२ और भाष्यगाथाओं तथा चूलिका गाथाओंकी संख्या मिलाकर सर्व गाथाएँ ७७ हैं। इस प्रकरणमें चौदह गुणस्थानोंमें बँधनेवाली, नहीं बँधनेवाली और बन्धसे व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियोंका; तथा सत्त्व-योग्य, असत्त्व-योग्य और सत्त्वसे व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियोंका विवेचन किया गया है और अन्तमें चूलिकाके भीतर नौ प्रश्नोंको उठाकर उनका समाधान करते हुए बतलाया गया है कि किन प्रकृतियोंकी बन्ध-व्युच्छित्ति, उदय-व्युच्छित्ति और सत्त्व-व्युच्छित्ति पहले, पीछे या साथमें होती है। इस नवप्रश्नरूप चूलिकाके द्वारा कर्मप्रकृतियोंकी बन्ध, उदय और सत्त्व-व्युच्छित्ति सम्बन्धी कितनी ही ज्ञातव्य बातोंका सहजमें ही बोध हो जाता है। 'स्तव' नाम विवेच्य वस्तुके विवेचन करनेवाले अधिकारका है, अतः यह मूल प्रकरण दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायोंमें कर्मस्तव या बन्धस्तव नामसे प्रसिद्ध हैं।

४ शतक—पञ्चसंग्रहके चौथे प्रकरणका नाम शतक है। यतः इस प्रकरणके मूल गाथाओंकी संख्या सौ है, अतः यह प्रकरण 'शतक' नाससे ही दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंमें प्रसिद्ध है। इस प्रकरणमें चौदह मार्गणाओंके आधारसे जीवसमास, गुणस्थान, उपयोग और योगका वर्णन करके तदनन्तर कर्म-बन्धके कारणभूत मिथ्यात्व, अविरति आदि बन्ध-प्रत्ययोंका विस्तारसे वर्णन किया गया है। साथ ही मिथ्यात्व आदि गुणस्थानोंमें जघन्य और उत्कृष्ट प्रत्ययोंकी अपेक्षा सम्भव संयोगी भंगोंका विस्तृत विवेचन किया गया है। तत्पश्चात् ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके विशेष बन्ध-प्रत्ययोंका वर्णन किया गया है। पुनः कर्मबन्धके प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्धका स्वामित्व आदि अनेक अधिकारोंके द्वारा विस्तारसे साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है। इस प्रकरणके मूलगाथाओंकी संख्या १०५ है और उनके साथ भाष्य-गाथाओंकी संख्या ५२२ है।

५ सप्ततिका—पञ्चसंग्रहके पाँचवें प्रकरणका नाम सप्ततिका है। यतः इस प्रकरणके मूलगाथाओं-की संख्या सत्तर है, अतः यह प्रकरण दोनों ही सम्प्रदायोंमें 'सित्तरी' या 'सप्ततिका'के नामसे प्रसिद्ध है। इस प्रकरणमें मूलकर्मों और उनके अवान्तर भेदोंके बन्धस्थान, उदयस्थान और सत्त्वस्थानोंका स्वतन्त्ररूपसे एवं चौदह जीवसमास और गुणस्थानोंके आश्रयसे विवेचन कर उनके संभव भंगोंका विस्तारसे वर्णन करते हुए अन्तमें कर्मोंकी उपशामना और क्षपणाका विवेचन किया गया है। इस प्रकरणकी मूलगाथाएँ अतिसंक्षिप्त एवं दुरूह हैं, इस बातका अनुभव करके ही भाष्यगाथाकारने उनका विवेचन भाष्यगाथाएँ रचकर अतिसुगम कर दिया है। इस प्रकरणकी मूलगाथा-संख्या ७२ है और उनके साथ भाष्यगाथाओंकी संख्या ५०७ है।

शतक और सप्ततिका इन दोनों ही प्रकरणोंमें भंगोंका निरूपण करनेवाली अनेकों भाष्यगाथाएँ शब्दशः समान हैं, जिन्हें उनके रचयिताने दोनों ही प्रकरणोंकी स्वतन्त्रताको अक्षुण्ण रखनेके लिए दोनों ही प्रकरणोंमें निबद्ध किया है और इसीसे यह सिद्ध होता है कि इन प्रकरणोंके भाष्यगाथाओंके रचयिता एक ही व्यक्ति हैं।

—हीरालाल शास्त्री

ग्रन्थ-विषय-सूची

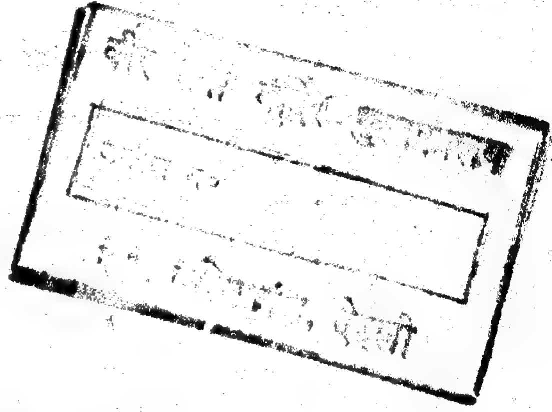
४. शतक अधिकार ८०–२१३

परिशिष्ट ७४५–७८४

संकेत-विवरण

आचा० नि०—आचाराङ्ग निर्युक्ति
क० पा० गा०—कसायपाहुड गाथा
कर्मवि०—कर्मविपाक (गर्गर्षिप्रणीत)
कर्मस्त०—कर्मस्तव (श्वेताम्बर)
गो० क०—गोम्मटसार कर्मकाण्ड
गो० जी०—गोम्मटसार जीवकाण्ड
जीवस०—जीवसमास प्रकरण (पूर्वभृद्-रचित)
द—ऐलक सरस्वती भवन ब्यावरकी प्रति सं० १५४८ वाली
धव०—षट्खण्डागमकी धवला टीका
प—पंचायती मन्दिर खजूर मस्जिद दिल्लीकी प्रति
ब—ऐलक सरस्वती भवन ब्यावरकी प्रति सं० १५३७ वाली
मूला०—मूलाचार
शतक०—शतक प्रकरण (भावनगर-मुद्रित)
षट्खं० प्र० स० चू०—षट्खण्डागम प्रकृति समुत्कीर्त्तन चूलिका
स्था० सू०—स्थानाङ्गसूत्र

पञ्चसंग्रह





पञ्चसंग्रह

प्रथम अधिकार

जीवसमास

मंगलाचरण और वस्तु-निरूपणकी प्रतिज्ञा—

[1]छद्दव्व-णवपयत्थे दव्वाइचउव्विहेण जाणंते ।
वंदित्ता अरहंते जीवस्स परूवणं वोच्छं ॥१॥

द्रव्यादि चार प्रकारसे छह द्रव्य और नौ पदार्थोंको जाननेवाले अरहन्तोंको नमस्कार करके जीवकी प्ररूपणा कहूँगा ॥१॥

अस्स णमोकारस्स विवरणं । तं जहा—[2]दव्वेण सपमाणादो सव्वे जीवा केत्तिया, अणंता । खेत्तेण सव्वे जीवा केत्तिया, अणंता लोका । कालेण सव्वे जीवा केत्तिया, अतीदकालादो अणंतगुणा । भावेण सव्वे जीवा केत्तिया, केवलणाणस्य अणंतिमभागमित्ता । [3]पुग्गल-काल-आगासाणं जीवभंगो । णवरिविसेसो, जीवरासीदो पुग्गलरासी अणंतगुणा । पुग्गलरासीदो कालरासी अणंतगुणा । कालरासीदो आगासं अणंतगुण त्ति वत्तव्वं । [4]धम्माधम्मा दो वि दव्वेण असंखेज्जा । खेत्तेण लोगपमाणा । कालेण अदीदकालस्स अणंतिमभागो* । भावेण केवलणाणस्स अणंतिमभागो । ओहिणाणस्स दो वि असंखेज्जदिमभागो । णवण्हं पयत्थाणं मज्झे जीवाजीवाणं पुव्वभंगो । पुण्ण-पावा दो वि दव्वेण असंखिज्जा । खेत्तेण अणंगुलस्स असंखिज्जदिमभागो । कालेण पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागो† । आसवाइपंचण्हं पयत्थाणं दव्वेण अभवसिद्धिएहिं अणंतगुणा । अहवा सिद्धाणमणंतिमभागो । खेत्तेण अणंता लोगा । कालेण अदीदकालस्स अणंतगुणो + । भावेण केवलणाणस्स अणंतिमभागो ।

---

1. सं० पञ्चसं० १, ३ । 2. १, ४-५ । 3. १, ८ । 4. १, ६ ।

* ब -भागो । † ब -दिमभागो । + ब -गुणा ।

इस नमस्काररूप गाथासूत्रका विवरण इस प्रकार है:—द्रव्यकी अपेक्षा स्वप्रमाणसे सर्व जीव कितने हैं ? अनन्त हैं। क्षेत्रकी अपेक्षा सर्व जीव कितने हैं ? अनन्त लोक-प्रमाण हैं। कालकी अपेक्षा सर्व जीव कितने हैं ? अतीत कालसे अनन्तगुणित हैं। भावकी अपेक्षा सर्व जीव कितने हैं ? केवलज्ञानके अनन्तवें भागमात्र हैं। पुद्गल, काल और आकाश द्रव्यका परिमाण जीवद्रव्यके प्रमाणके समान है। विशेषता केवल यह है कि जीवराशिसे पुद्गलराशि अनन्तगुणित है, पुद्गलराशिसे कालराशि अनन्तगुणित है और कालराशिसे आकाशद्रव्य अनन्तगुणित है, ऐसा कहना चाहिए। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय ये दोनों ही द्रव्यकी अपेक्षा असंख्यात हैं। क्षेत्रकी अपेक्षा लोकप्रमाण हैं। कालकी अपेक्षा अतीत कालके अनन्तवें भाग हैं। भावकी अपेक्षा केवलज्ञानके अनन्तवें भाग हैं और दोनों ही द्रव्य अवधिज्ञानके असंख्यातवें भाग हैं। नौ पदार्थोंके मध्यमें जीव और अजीव पदार्थका परिमाण पूर्वके भंग है अर्थात् जीवादि द्रव्योंके परिमाणके समान है। पुण्य और पाप ये दोनों ही पदार्थ द्रव्यकी अपेक्षा असंख्यात हैं। क्षेत्रकी अपेक्षा घनांगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण हैं। कालकी अपेक्षा पल्योपमके असंख्यातवें भागमात्र हैं। भावकी अपेक्षा अवधिज्ञानके असंख्यातवें भागप्रमाण हैं। आस्रवादि पांचों पदार्थोंका प्रमाण द्रव्यकी अपेक्षा अभव्यसिद्धोंसे अनन्तगुणित है। अथवा सिद्धोंके अनन्तवें भागमात्र है। क्षेत्रकी अपेक्षा अनन्त लोकप्रमाण है। कालकी अपेक्षा अतीतकालसे अनन्तगुणित है और भावकी अपेक्षा केवलज्ञानके अनन्तवें भागमात्र है।

जीव-प्ररूपणाके भेद—

[1]गुण जीवा पज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओ य।
उवओगो* वि य कमसो वीसं तु परूवणा भणिया[1] ॥२॥

१४।१४।६।१०।४।१४ (४।५।६।१५।३।१६।८।७।४।६।२।६।२।२) १२।

गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणाएं और उपयोग; इस प्रकार क्रमसे ये बीस प्ररूपणा कही गई हैं ॥२॥

गुणस्थानके १४, जीवसमासके १४, पर्याप्तिके ६, प्राणके १०, संज्ञाके ४, मार्गणाके १४ और उपयोगके १२ भेद हैं। इनमेंसे १४ मार्गणाओंके अवान्तर भेद इस प्रकार हैं—गति ४, इन्द्रिय ५, काय ६, योग १५, वेद ३, कषाय १६, ज्ञान ८, संयम ७, दर्शन ४, लेश्या ६, भव्यत्व २, सम्यक्त्व ६, संज्ञित्व २ और आहार २।

गुणस्थानका स्वरूप और भेद—

[2]जेहिं दु लक्खिज्जंते उदयादिसु संभवेहिं भावेहिं।
जीवा ते गुणसण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरिसीहिं[2] ॥३॥
[3]मिच्छो सासण मिस्सो अविरदसम्मो य देसविरदो य।
विरदो पमत्त इयरो अपुव्व अणियट्टि सुहुमो य[3] ॥४॥
उवसंतखीणमोहो सजोगिकेवलिजिणो अजोगी य।
चोद्दस गुणट्ठाणाणि य कमेण सिद्धा य णायव्वा[4] ॥५॥

---

1. सं० पञ्चसं० १, ११। 2. १, १२। 3. १, १५-१८।

१. गो० जी० २। २. धवला० भा० १, पृ० १६१ गा० १०४, गो० जी० ८। ३. गो० जी० ९। ४. गो० जी० १०; परं तत्र तृतीयचरणे 'चोद्दस जीवसमासा' इति पाठः।

* ब-उग्गो।

दर्शनमोहनीयादि कर्मोंकी उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि अवस्थाओंके होने पर उत्पन्न होनेवाले जिन भावोंसे जीव लक्षित किये जाते हैं, उन्हें सर्वदर्शियोंने 'गुणस्थान' इस संज्ञासे निर्देश किया है। १ मिथ्यात्व, २ सासादन, ३ मिश्र (सम्यग्मिथ्यात्व), ४ अविरतसम्यक्त्व, ५ देशविरत, ६ प्रमत्तविरत, ७ अप्रमत्तविरत, ८ अपूर्वकरणसंयत, ९ अनिवृत्तिकरणसंयत, १० सूक्ष्मसाम्परायसंयत, ११ उपशान्तमोह, १२ क्षीणमोह, १३ सयोगिकेवलिजिन और १४ अयोगिकेवली ये क्रमसे चौदह गुणस्थान होते हैं। तथा सिद्धोंको गुणस्थानातीत जानना चाहिए ॥३-५॥

१ मिथ्यात्वगुणस्थानका स्वरूप—

[1]मिच्छत्तं वेदंतो जीवो विवरीयदंसणो होइ ।
ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं पि रसं जहा जरिदो[१] ॥६॥
तं मिच्छत्तं *जमसद्दहणं †तच्चाण होदि अत्थाणं ।
संसइद×मभिग्गहियं अणभिग्गहियं तु तं तिविहं[२] ॥७॥
मिच्छादिट्ठी जीओ उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि ।
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं अणुवइट्ठं +च[३] ॥८॥

मिथ्यात्वकर्मको वेदन अर्थात् अनुभव करनेवाला जीव विपरीतश्रद्धानी होता है। उसे धर्म नहीं रुचता है, जैसे कि ज्वर-युक्त मनुष्यको मधुर (मीठा) रस भी नहीं रुचता है। जो सात तत्त्वों या नव पदार्थोंका अश्रद्धान होता है, उसे मिथ्यात्व कहते हैं। वह तीन प्रकारका है— संशयित, अभिगृहीत और अनभिगृहीत। मिथ्यादृष्टि जीव जिन-उपदिष्ट प्रवचनका श्रद्धान नहीं करता है। प्रत्युत अन्यसे उपदिष्ट या अनुपदिष्ट असद्भाव अर्थात् पदार्थके अयथार्थ स्वरूपका श्रद्धान करता है ॥६-८॥

२ सासादनगुणस्थानका स्वरूप—

[2]सम्मत्तरयणपव्वयसिहरादो> मिच्छभावसमभिमुहो ।
णासियसम्मत्तो सो सासणणामो मुणेयव्वो[४] ॥९॥

सम्यक्त्वरूप रत्न-पर्वतके शिखरसे च्युत, मिथ्यात्वरूप भूमिके समभिमुख और सम्यक्त्वके नाशको प्राप्त जो जीव है, उसे सासादन नामवाला जानना चाहिए ॥९॥

३ सम्यग्मिथ्यात्वगुणस्थानका स्वरूप—

[3]दहिगुडमिव वामिस्सं पिहुभावं +णेव कारिदुं सक्कं ।
एवं मिस्सयभावो सम्मामिच्छो त्ति णायव्वो[५] ॥१०॥

जिस प्रकार व्यामिश्र अर्थात् अच्छी तरहसे मिला हुआ दही और गुड़ पृथक्-पृथक् नहीं किया जा सकता, उसी प्रकारसे सम्यक्त्व और मिथ्यात्वके मिश्रित भावको सम्यग्मिथ्यात्व जानना चाहिए। यह सम्यक्त्व और मिथ्यात्वका सम्मिश्रण उन दोनोंके स्वतंत्र आस्वादसे एक भिन्न-जातीय रूपको धारण कर लेता है, अतएव उसकी अपेक्षासे मिश्रभावको एक स्वतन्त्र गुणस्थान माना गया है। ॥१०॥

---

1. सं० पञ्च सं० १, ८९। 2. १, २०। 3. १, ३२।

१. धवला, भा० १, पृ० १६२ गा० १०६। गो० जी० १७। २. ध० भा० १, पृ० १६३ गा० १०७। ३. गो० जी० १८, ६५५। ४. ध० भा० १ पृ० १६६ गा० १०८। गो० जी० २०। ५. ध० भा० १, पृ० १७० गा० १०९। गो० जी० २२।

*ब-जं असद्दहणं। †ब-तच्चाणं। ×ब-मवि। +ब-वा। >ब-सिहरपओ। +ब-नय।

४ अविरतसम्यक्त्वगुणस्थानका स्वरूप—

[1]णो इंदिएसु विरदो णो जीवे थावरे तसे चावि*।
जो सद्दहइ जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो †सो[1] ॥११॥
सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि ।
सद्दहइ असब्भावं अजाणमाणो गुरुणिओगा[2] ॥१२॥

जो पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंसे विरत नहीं है और न त्रस तथा स्थावर जीवोंके घातसे ही विरक्त है, किन्तु केवल जिनोक्त तत्त्वका श्रद्धान करता है, वह चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरत-सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दृष्टि जीव जिन-उपदिष्ट प्रवचनका तो श्रद्धान करता ही है, किन्तु कदाचित् (सद्भावको) नहीं जानता हुआ गुरुके नियोग (उपदेश या आदेश) से असद्भावका भी श्रद्धान कर लेता है ॥११-१२॥

५ देशविरतगुणस्थानका स्वरूप—

[2]जो तसवहाउ विरदो णो विरओ अक्ख-थावरवहाओ× ।
पडिसमयं सो जीवो विरयाविरओ जिणेक्कमई[3] ॥१३॥

जो जीव एक मात्र जिन भगवान्‌में ही मति (श्रद्धा) को रखता है, तथा त्रस जीवोंके घातसे विरत है और इन्द्रिय-विषयोंसे एवं स्थावर जीवोंके घातसे विरक्त नहीं है, वह जीव प्रति समय विरताविरत है। अर्थात् अपने गुणस्थानके कालके भीतर हर-क्षण विरत और अविरत इन दोनों संज्ञाओंको एक साथ एक समयमें धारण करता है ॥१३॥

६ प्रमत्तसंयतगुणस्थानका स्वरूप—

[3]वत्तावत्तपमाए जो वसइ पमत्तसंजओ होइ ।
सयलगुणसीलकलिओ महव्वई चित्तलायरणो[4] ॥१४॥
[4]विकहा तहा कसाया इंदियणिद्दा तहेव पणओ य ।
चदु चदु पण एगेगं होंति पमादा हु पण्णरसा[5] ॥१५॥

जो पुरुष सकल मूलगुणोंसे और शील अर्थात् उत्तरगुणोंसे सहित है, अतएव महाव्रती है; तथा व्यक्त और अव्यक्त प्रमादमें रहता है, अतएव चित्रल-आचरणी है; वह प्रमत्त संयत कहलाता है। चार विकथा (स्त्रीकथा, भोजनकथा, देशकथा, अवनिपालकथा) चार कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) पाँच इन्द्रिय (स्पर्शन, रसना, नासिका, नयन, श्रवण) एक निद्रा और एक प्रणय (प्रेम या स्नेह-सम्बन्ध) ये पन्द्रह (४+४+५+१+१=१५) प्रमाद होते हैं ॥१४-१५॥

---

1. सं० पञ्चसं० १, २३। 2. १, २४। 3. १, २८। 4. १, ३३।

१. ध० भा० १ पृ० १७३ गा० १११। गो० जी० २६। २. ध० भा० १ पृ० १७३ गा० ११०। गो० जी० २७। ३. ध० भा० १ पृ० १७५ गा० ११२। गो० जी० ३१। ४. ध० भा० १ पृ० १७८ गा० ११३। गो० जी० ३३। ५. ध० भा० १ पृ० १७८ गा० ११४। गो० जी० ३४।

* गो० जी० 'वापि'। † अरहंते य पदत्थे अविरदसम्मो दु सद्दहदि। इति प्राकृतवृत्तौ मूलगाथापाठः।

× थूले जीवे वधकरणवज्जगो हिंसगो य इदराणं ।
एकम्हि चेव समए विरदाविरदु त्ति णादव्वो ॥ इति प्राकृतवृत्तौ मूलगाथापाठः ।

७ अप्रमत्तसंयतगुणस्थानका स्वरूप—

[1]णट्ठासेसपमाओ वयगुणसीलोलिमंडिओ णाणी।
अणुवसमओ ×अखवओ झाणणिलीणो हु अप्पमत्तो सो[1] ॥१६॥

जो व्यक्त और अव्यक्तरूप समस्त प्रकारके प्रमादसे रहित है, महाव्रत, मूलगुण और और उत्तरगुणोंकी मालासे मंडित है, स्व और परके ज्ञानसे युक्त है, और कषायोंका अनुपशामक या अक्षपक होते हुए भी ध्यानमें निरन्तर लीन रहता है, वह अप्रमत्तसंयत कहलाता है ॥१६॥

८ अपूर्वकरणसंयतगुणस्थानका स्वरूप—

[2]भिण्णसमयट्ठिएहिं दु जीवेहि ण होइ सव्वहा सरिसो।
करणेहिं एयसमयट्ठिएहिं सरिसो विसरिओ वा[2] ॥१७॥
एयम्मि गुणट्ठाणे विसरिससमयट्ठिएहिं जीवेहिं।
पुव्वमपत्ता जम्हा होंति अपुव्वा हु परिणामा[3] ॥१८॥
तारिसपरिणामट्ठियजीवा हु जिणेहिं गलियतिमिरेहिं।
मोहस्सऽपुव्वकरणा खवणुवसमणुज्जया भणिया[4] ॥१९॥

इस गुणस्थानमें, भिन्न समयवर्ती जीवोंमें करण अर्थात् परिणामोंकी अपेक्षा कभी भी सादृश्य नहीं पाया जाता। किन्तु एक समयवर्त्ती जीवोंमें सादृश्य और वैसादृश्य दोनों ही पाये जाते हैं। इस गुणस्थानमें यतः विभिन्न-समय-स्थित जीवोंके पूर्वमें अप्राप्त अपूर्व परिणाम होते हैं; अतः उन्हें अपूर्वकरण कहते हैं। इस प्रकारके अपूर्वकरण परिणामोंमें स्थित जीव मोहकर्मके क्षपण या उपशमन करनेमें उद्यत होते हैं, ऐसा गलित-तिमिर अर्थात् अज्ञानरूप अन्धकारसे रहित वीतरागी जिनोंने कहा है ॥१७-१९॥

९ अनिवृत्तिकरणसंयतगुणस्थानका स्वरूप—

[3]एकम्मि कालसमए संठाणादीहि जह णिवट्टंति।
ण *णिवट्टंति तह च्चिय परिणामेहिं मिहो जम्हा[5] ॥२०॥
होंति अणियट्टिणो ते पडिसमयं जेसिमेक्कपरिणामा।
विमलयर ÷ झाणहुयवहसिहाहिं णिद्दड्ढकम्मवणा[6] ॥२१॥

इस गुणस्थानके अन्तर्मुहूर्त-प्रमित कालमें से विवक्षित किसी एक समयमें अवस्थित जीव यतः संस्थान (शरीरका आकार) आदिकी अपेक्षा जिस प्रकार निवृत्ति या भेदको प्राप्त होते हैं, उस प्रकार परिणामोंकी अपेक्षा परस्पर निवृत्तिको प्राप्त नहीं होते हैं, अतएव वे अनिवृत्तिकरण कहलाते हैं। अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवर्ती जीवोंके प्रति समय एक ही परिणाम होता है। ऐसे ये जीव अपने अति विमल ध्यानरूप अग्निकी शिखाओंसे कर्मरूप वनको सर्वथा जला डालते हैं ॥२०-२१॥

1. सं० पंचसं० १, ३४ । 2. १, ३५-३७ । 3. १, ३८-४० ।

१. ध० भा० १ पृ० १७१ गा० १५५ । गो० जी० ४६ । २. ध० भा० १ पृ० १८३ गा० ११६ । गो० जी० ५२ । ३. ध० भा० १ पृ० १८३ गा० ११७ । गो० जी० ५१ । ४. ध० भा० १ पृ० १८३ गा० ११८ । गो० जी० ५४ । ५. ध० भा० १ पृ० १८६ गा० ११९ । गो० जी० ५६ । ६. ध० भा० १ पृ० १८६ गा० १२० । गो० जी० ५७ ।

× द ब -यखवओ । * ब -णिय० । + ब -वर ।

१० सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानका स्वरूप—

[1]कोसुंभो जिह राओ अब्भंतरदो य सुहुमरत्तो य ।
एवं सुहुमसराओ सुहुमकसाओ त्ति णायव्वो[1] ॥२२॥
पुव्वापुव्वप्फड्डयअणुभागाओ अणंतगुणहीणे÷ ।
लोहाणुम्मि य ट्ठिअओ हंदि सुहुमसंपराओ य[2] ॥२३॥

जिस प्रकार कुसूमली रंग भीतरसे सूक्ष्म रक्त अर्थात् अत्यन्त कम लालिमावाला होता है, उसी प्रकार सूक्ष्म राग-सहित जीवको सूक्ष्मकषाय या सूक्ष्मसाम्पराय जानना चाहिए। लोभाणु अर्थात् सूक्ष्म लोभमें स्थित सूक्ष्मसाम्परायसंयत पूर्वस्पर्धक और अपूर्वस्पर्धकके अनुभागसे अनन्तगुणितहीन अनुभागवाला होता है ॥२२-२३॥

विशेषार्थ—अनेक प्रकारकी अनुभाग शक्तिसे युक्त कार्मणवर्गणाओंके समूहको स्पर्धक कहते हैं। जो स्पर्धक अनिवृत्तिकरणके पहले पाये जाते हैं, उन्हें पूर्वस्पर्धक कहते हैं। जिन स्पर्धकोंका अनिवृत्तिकरणके निमित्तसे अनुभाग क्षीण होता है, उन्हें अपूर्वस्पर्धक कहते हैं। सूक्ष्म-कषाय-सम्बन्धी स्पर्धककी अनुभाग-शक्ति उक्त दोनों ही स्पर्धकोंकी अनुभाग-शक्तिसे अनन्तगुणी हीन होती है।

११ उपशान्तकषायगुणस्थानका स्वरूप—

[2]सकयाहलं जलं वा सरए सरवाणियं व णिम्मलयं ।
सयलोवसंतमोहो उवसंतकसायओ होइ[3] ॥२४॥

कतकफल (निर्मली)से सहित जल, अथवा शरद्-कालमें सरोवरका पानी जिस प्रकार निर्मल होता है, उसी प्रकार जिसका सम्पूर्ण मोहकर्म सर्वथा उपशान्त हो गया है, ऐसा उपशान्तकषायगुणस्थानवर्ती जीव अत्यन्त निर्मल परिणामवाला होता है ॥२४॥

१२ क्षीणकषायगुणस्थानका स्वरूप—

[3]णिस्सेसखीणमोहो फलिहामलभायणुदयसमचित्तो ।
खीणकसाओ भण्णइ णिग्गंथो वीयराएहिं[4] ॥२५॥
जह सुद्धफलिहभायणखित्तं *णीरं खु †णिम्मलं सुद्धं ।
तह ×णिम्मलपरिणामो खीणकसाओ मुणेयव्वो ॥२६॥

मोहकर्मके निःशेष क्षीण हो जानेसे जिसका चित्त स्फटिकके विमल भाजनमें रक्खे हुए सलिलके समान स्वच्छ हो गया है, ऐसे निर्ग्रन्थ साधुको वीतरागियोंने क्षीणकषायसंयत कहा है। जिस प्रकार निर्मली, फिटकरी आदिसे स्वच्छ किया हुआ जल शुद्ध-स्वच्छ स्फटिकमणिके भाजनमें नितरा लेनेपर सर्वथा निर्मल एवं शुद्ध होता है, उसी प्रकार क्षीणकषायसंयतको भी निर्मल, स्वच्छ एवं शुद्ध परिणामवाला जानना चाहिये ॥२५-२६॥

1. सं० पं० सं० १, ४१-४४ । 2. १, ४७ । 3. १, ४८ ।

१. गो० जी० ५९, परं तत्र प्रथम-द्वितीयचरणयोः 'धुदकोसुंभयवत्थं होदि जहा सुहुमरायसंजुत्तं' ईदृक् पाठः । २. ध० भा० १ पृ० १८८ गा० १२१ । ३. गो० जी० ६१, परं तत्र प्रथमचरणे 'कदकफलजुदजलं वा' इति पाठः। ४. ध० भा० १ पृ० १९० गा० १२३ । गो० जी० ६२ ।

÷ ब -हीणो । * ब -नीरं । † ब -निम्मलं । × ब -निम्मल ।

१३ सयोगिकेवलिगुणस्थानका स्वरूप—

[1]केवलणाणदिवायरकिरणकलावप्पणासिअण्णाणो ।
णवकेवललद्धुग्गमपावियपरमप्पववएसो[1] ॥२७॥
जं णत्थि राय-दोसो तेण ण बंधो हु अत्थि केवलिणो ।
जह सुक्ककुड्डलग्गा वालुया सडइ तह कम्मं ॥२८॥
असहायणाण-दंसणसहिओ वि हु केवली हु× जोएण ।
जुत्तो त्ति सजोइजिणो अणाइणिहणारिसे* वुत्तो[2] ॥२९॥

केवलज्ञानरूप दिवाकर (सूर्य) की किरणोंके समूहसे जिनका अज्ञानान्धकार सर्वथा नष्ट हो गया है, जिन्होंने नौ केवल-लब्धियोंके उद्‍गमसे 'परमात्मा' संज्ञा प्राप्त की है और जो पर-सहायसे रहित केवलज्ञान-दर्शनसे सहित हैं, ऐसे योग-युक्त केवली भगवान्‌को अनादि-निधन आर्षमें सयोगिजिन कहा है। केवली भगवान्‌के यतः राग-द्वेष नहीं होता, इस कारणसे उनके नवीन कर्मका बन्ध भी नहीं होता है। जिस प्रकार सूखी भित्तीपर आकरके लगी हुई बालुका तत्क्षण झड़ जाती है, इसी प्रकार योगके सद्भावसे आया हुआ कर्म भी कषायके न होनेसे तत्क्षण झड़ जाता है ॥२७-२९॥

१४ अयोगिकेवलिगुणस्थानका स्वरूप—

[2]सेलेसिं संपत्तो णिरुद्धणिस्सेसआसओ जीवो ।
कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होइ[3] ॥३०॥

जो जीव शैलेशी अवस्थाको प्राप्त हुए हैं, अर्थात् शैल (पर्वत) के समान स्थिर परिणाम-वाले हैं; अथवा जिन्होंने अठारह हजार भेदवाले शीलके स्वामित्वरूप शीलेशत्वको प्राप्त किया है, जिनका निःशेष आस्रव सर्वथा रुक गया है, जो कर्म-रजसे विप्रमुक्त हैं और योगसे रहित हो चुके हैं, ऐसे केवली भगवान्‌को अयोगिकेवली कहते हैं ॥३०॥

१५ गुणस्थानातीत सिद्धोंका स्वरूप—

[3]अट्ठविहकम्मवियडा सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा ।
अट्ठगुणा कयकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा[4] ॥३१॥

जो अष्ट-विध कर्मोंसे रहित हैं, अत्यन्त शान्तिमय हैं, निरंजन हैं, नित्य हैं, क्षायिक सम्यक्त्व आदि आठ गुणोंसे युक्त हैं, कृतकृत्य हैं और लोकके अग्रभागपर निवास करते हैं, वे सिद्ध कहलाते हैं ॥३१॥

इस प्रकार गुणस्थानप्ररूपणा समाप्त हुई।

अब दूसरी जीवसमासप्ररूपणाका वर्णन करते हैं—

[4]जेहिं अणेया जीवा णज्जंते बहुविहा वि तज्जादी ।
ते पुण संगहिदत्था जीवसमासे† त्ति विण्णेया[5] ॥३२॥

1. सं० पञ्चसं० १, ४९ । 2. १, ५० । 3. १, ५१ । 4. १, ६३ ।

१. ध० भा० १ पृ० १९१ गा० १२४ । गो० जी० ६३ । २. ध० भा० १ पृ० १९२ गा० १२५ । गो० जी० ६४ । ३. ध० भा० १ पृ० १९९ गा० १२६ । गो० जी० ६५ । परं तत्र 'सीलेसिं' इति पाठः । ४. ध० भा० १ पृ० २०० गा० १२७ गो० जी० ६८ । ५. गो० जी० ७० ।

× द ब केवलीहिं । * ब -णोरिसे । † ब -समासा ।

जिन धर्म-विशेषोंके द्वारा नाना जीव और उनकी नाना प्रकारकी जातियाँ जानी जाती हैं, पदार्थोंका संग्रह करनेवाले उन धर्मविशेषोंको जीवसमास जानना चाहिये ॥३२॥

जीवसमासोंके भेदोंका वर्णन—

[1]जीवट्ठाणवियप्पा चोद्दस इगिवीस तीस बत्तीसा ।
छत्तीस *अट्ठतीसाऽडयाल चउवण्ण सयवण्णा ॥३३॥

जीवोंके स्थानोंको जीवसमास कहते हैं। जीवस्थानोंके भेद क्रमशः चौदह, इक्कीस, तीस, बत्तीस, छत्तीस, अड़तीस, अड़तालीस, चौवन और सत्तावन होते हैं ॥३३॥

चौदह भेदोंका निरूपण—

[2]बायरसुहुमेगिंदिय-वि-ति-चउरिंदिय-असण्णि-सण्णी य ।
पज्जत्तापज्जत्ता एवं ते चोद्दसा होंति[1] ॥३४॥

बादर एकेन्द्रिय, सूक्ष्म एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञिपंचेन्द्रिय और संज्ञिपंचेन्द्रिय, ये सातों ही पर्याप्तक और अपर्याप्तक रूप होते हैं। इस प्रकार जीवसमासके चौदह भेद होते हैं ॥३४॥ (देखो संदृष्टि सं० १)

इक्कीस भेदोंका निरूपण—

[3]चोद्दस पुव्वुद्दिट्ठा अलद्धिपज्जत्तया य सत्तेव ।
इय एवं इगिवीसा णिद्दिट्ठा जिणवरिंदेहि ॥३५॥

पूर्वोद्दिष्ट चौदह भेद, तथा लब्ध्यपर्याप्तक-सम्बन्धी उपर्युक्त सातों ही भेद, इस प्रकार जीवसमासके ये इक्कीस भेद जिनवरेन्द्रोंने कहे हैं ॥३५॥ (देखो सं० सं० २)

तीस भेदोंका निरूपण—

[4]पंच वि थावरकाया बादर-सुहुमा पज्जत्त इयरा य ।
दस चेव तसेसु तहा एवं जाणे हु तीसा य ॥३६॥

पाँचों ही स्थावरकायिकजीव बादर-सूक्ष्म और पर्याप्तक-अपर्याप्तकके भेदसे बीस भेदरूप होते हैं। तथा त्रसजीवोंमें द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञिपंचेन्द्रिय और संज्ञिपंचेन्द्रिय इन पाँचोंके ही पर्याप्तक-अपर्याप्तकके भेदसे दश भेद होते हैं। इस प्रकार स्थावरोंके बीस, त्रसोंके दश ये दोनों मिलकर तीस भेद जानना चाहिये ॥३६॥ (देखो सं० सं० ३)

बत्तीस भेदोंका निरूपण—

[5]पुव्वुत्ता वि य तीसा जीवसमासा य होंति णवरं तु ।
सुपरिट्ठिय दो सहिया जीवसमासेहिं बत्तीसा ॥३७॥

पूर्वोक्त जो तीस जीवसमास हैं, उनमें केवल वनस्पतिकायिक-सम्बन्धी सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित ये दो भेद और मिला देनेपर बत्तीस जीवसमास हो जाते हैं ॥३७॥ (देखो सं० सं० ४)

---

1. सं० पञ्चसं० १, ९८–९९ । 2. १, ९४–९५ । 3. १, १०० । 4. १, १०१–१०२ । 5. १, १०३–१०४ ।

१. गो० जी० ७२ ।

* ब -अडतीसा ।

छत्तीस भेदोंका वर्णन—

[1]चउ-इयरणिगोएहिं जुआ बत्तीसा य होइ छत्तीसा।
बादर-सुहुमेहिं तहा पज्जत्ता इयरसंखेहि ॥३८॥

पूर्वोक्त बत्तीस भेदोंमें बादर चतुर्गतिनिगोद पर्याप्तक, बादर चतुर्गतिनिगोद-अपर्याप्तक, बादरनित्यनिगोद पर्याप्तक और बादर नित्यनिगोद-अपर्याप्तक ये सप्रतिष्ठितके चार भेद और मिलानेपर छत्तीस जीवसमास हो जाते हैं ॥३८॥ (देखो सं० सं० ५)

अड़तीस भेदोंका वर्णन—

[2]पुव्वुत्ता छत्तीसा अट्ठत्तीसा य सा होइ।
अपइट्ठिएहिं सहिया दो जीवसमासएहिं च ॥३९॥

पूर्वोक्त छत्तीस भेदोंमें अप्रतिष्ठित वनस्पतिके पर्याप्तक और अपर्याप्तक ये दो जीवसमास और मिला देनेपर अड़तीस जीवसमास हो जाते हैं ॥३९॥ (देखो सं० सं० ६)

अड़तालीस भेदोंका वर्णन—

[3]सोलस जीवसमासा अलद्धिपज्जत्तगेसु जे भणिया।
तेहिं जुआ बत्तीसा अडदालीसा य सा होइ ॥४०॥

लब्ध्यपर्याप्तकोंमें जो पहले सोलह जीवसमास कहे गये हैं, उनसे बत्तीस जीवसमास युक्त करनेपर अड़तालीस भेद हो जाते हैं ॥४०॥ (देखो सं० सं० ७)

चौपन भेदोंका वर्णन—

[4]अट्ठारसेहिं जुत्ता अलद्धिपज्जत्तएहिं छत्तीसा।
जीवसमासेहिं तहा चउवण्णा *जाण णियमेण ॥४१॥

लब्ध्यपर्याप्तकोंके अठारह जीवसमासोंके साथ पूर्वोक्त छत्तीस जीवसमास युक्त करने पर चौपन भेद हो जाते हैं, ऐसा नियमसे जानना चाहिए ॥४१॥ (देखो सं० सं० ८)

सत्तावन भेदोंका वर्णन—

[5]उणवीसेहि य जुत्ता अलद्धिपज्जत्तएहिं अडतीसा।
जीवसमासेहिं तहा सयवण्णा सा य विण्णेया ॥४२॥

लब्ध्यपर्याप्तकोंके उन्नीस जीवसमासोंके साथ पूर्वोक्त अड़तीस जीवसमास युक्त करने पर सत्तावन जीवसमास हो जाते हैं, ऐसा जानना चाहिए ॥४२॥ (देखो सं० सं० ९)

इस प्रकार जीवसमासप्ररूपणा समाप्त हुई

पर्याप्तिप्ररूपणा—

[6]जह पुण्णापुण्णाइं गिह-घड-वत्थाइयाइं दव्वाइं।
तह पुण्णापुण्णाओ पज्जत्तियरा मुणेयव्वा[1] ॥४३॥

---

1. सं० पञ्चसं० १, १०८–१०९। 2. १, ११२–११३। 3. १, ११५। 4. १, ११६। 5. १, ११७। 6. १, १२७।

१. गो० जी० ११७।

* ब -जाणि।

[1]आहारसरीरिंदियपज्जत्ती *आणपाणभासमणो ।
चत्तारि पंच छप्पि य एइंदिय-वियल-सण्णीणं[1] ॥४४॥

जिस प्रकार गृह, घट, वस्त्रादिक अचेतन द्रव्य पूर्ण और अपूर्ण दोनों प्रकारके होते हैं, उसी प्रकार जीव भी पूर्ण और अपूर्ण दोनों प्रकारके होते हैं। पूर्ण जीवोंको पर्याप्त और अपूर्ण जीवोंको अपर्याप्त जानना चाहिए। आहार, शरीर, इन्द्रिय, आनपान (श्वासोच्छ्वास) भाषा और मन ये छह पर्याप्तियाँ होती हैं। इनमेंसे एकेन्द्रियोंके आदिकी चार, विकलेन्द्रियोंके आदिकी पांच और संज्ञी पंचेन्द्रियोंके छहों पर्याप्तियां होती हैं ॥४३-४४॥

इस प्रकार पर्याप्तिप्ररूपणा समाप्त हुई।

प्राणप्ररूपणा—

[2]बाहिरपाणेहिं जहा तहेव अब्भंतरेहि पाणेहिं ।
जीवंति जेहिं जीवा पाणा ते होंति बोहव्वा[2] ॥४५॥
[3]पंचेविंदियपाणा मण-वचि-काएण तिण्णि बलपाणा ।
आणप्पाणप्पाणा आउगपाणेण दस होंति[3] ॥४६॥

जिस प्रकार बाह्य प्राणोंके द्वारा जीव जीते हैं, उसी प्रकार जिन आभ्यन्तर प्राणोंके द्वारा जीव जीते हैं, वे प्राण कहलाते हैं, ऐसा जानना चाहिए। स्पर्शन, रसन, घ्राण, नयन और श्रवण ये पाँच इन्द्रियाँ, मनोबल, वचनबल और कायबल ये तीन बल, आयु और आनपान ये दश प्राण होते हैं ॥४५-४६॥

विशेषार्थ—पौद्गलिक द्रव्येन्द्रियोंके व्यापारको बाह्यप्राण कहते हैं। बाह्यप्राणके निमित्तभूत ज्ञानावरण और अन्तरायकर्मके क्षयोपशमादिसे विजृम्भित चेतनव्यापारको आभ्यन्तर प्राण कहते हैं। इन दोनों ही प्रकारके प्राणोंके सद्भावमें जीवमें जीवितपनेका और वियोग होने पर मरणपनेका व्यवहार होता है, इसलिए इन्हें प्राण कहते हैं। ये प्राण पूर्वोक्त पर्याप्तियोंके कार्य-रूप हैं और पर्याप्ति कारणरूप हैं; क्योंकि गृहीत पुद्गल स्कन्ध-विशेषोंको इन्द्रिय, वचन आदिरूप परिणमावनेकी शक्तिकी पूर्णताको पर्याप्ति और वचन-व्यापार आदिकी कारणभूत शक्तिको, तथा वचन आदिको प्राण कहते हैं।

[4]उस्सासो पज्जत्ते सव्वेसिं काय-इंदियाऊणि ।
वचि† पज्जत्ततसाणं चित्तबलं सण्णिपज्जत्ते ॥४७॥
दस सण्णीणं पाणा सेसेगूणंतिमस्स वे ऊणा ।
पज्जत्तेसु दरेसु अ सत्त दुए सेसगेगूणा[4] ॥४८॥
पुण्णेसु सण्णि सव्वे मणरहिया होंति ते दु इयरम्मि ।
सोदक्खिघाणजिब्भारहिया सेसिगिंदिमाणूणा ॥४९॥
पंचक्ख-दुए पाणा मण वचि उस्सास ऊणिया सव्वे ।
कण्णक्खिगंधरसणारहिया सेसेसु ते अपुण्णेसु ॥५०॥

बीइंदियादिपज्जत्तेसु ४।६।७।८।९।१०। सण्णिपंचिंदियादि-अपज्जत्तेसु ७।७।६।५।४।३।

1. सं० पंचसं० १, १२८। 2. १, १२३। 3. १, १२४। 4. १, १२५-१२६।

१. गो० जी० ११८। २. ध० भा० १ पृ० २५६ गा० १४१। गो० जी० १२८। ३. गो० जी० १२९। ४. गो० जी० १३२।

* ब -याण। † ब -विचि।

कायबल, इन्द्रियाँ और आयु ये प्राण सभी पर्याप्त और अपर्याप्त जीवोंके होते हैं। श्वासोच्छ्वास पर्याप्त स्थावर और त्रसजीवोंके होता है। वचनबल पर्याप्त त्रसजीवोंके, तथा मनोबल संज्ञी पर्याप्त जीवोंके होता है। पर्याप्त संज्ञीपंचेन्द्रियोंके दश प्राण होते हैं। शेष पर्याप्त जीवोंके एक-एक प्राण कम होता है और एकेन्द्रियोंके दो प्राण कम होते हैं। अपर्याप्त संज्ञी और असंज्ञी पंचेन्द्रियोंके सात प्राण होते हैं, और शेष जीवोंके एक-एक प्राण कम होता जाता है। पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रियोंके पाँचों इन्द्रियाँ, तीनों बल, आयु और आनपान ये दशों प्राण होते हैं। पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रियके मन-रहित शेष नौ प्राण होते हैं। पर्याप्त चतुरिन्द्रियके उक्त नौ प्राणोंमेंसे श्रोत्र-रहित शेष आठ प्राण होते हैं। पर्याप्त त्रीन्द्रियके उक्त आठ प्राणोंमेंसे चक्षु-रहित शेष सात प्राण होते हैं। पर्याप्त द्वीन्द्रियके उक्त सात प्राणोंमेंसे घ्राण-रहित शेष छह प्राण होते हैं। पर्याप्त एकेन्द्रियके उक्त छह प्राणोंमेंसे रसनाइन्द्रिय और वचनबल इन दो प्राणोंसे रहित शेष चार प्राण होते हैं। अपर्याप्त पंचेन्द्रिय-द्विकमें मनोबल, वचनबल और श्वासोच्छ्वास इन तीनसे कम शेष सात प्राण होते हैं। अपर्याप्त चतुरिन्द्रियके उक्त सातमें कर्णेन्द्रिय कम करनेपर शेष छह प्राण होते हैं। अपर्याप्त त्रीन्द्रियके उक्त छहमेंसे चक्षुरिन्द्रिय कम करने पर शेष पाँच प्राण होते हैं। अपर्याप्त द्वीन्द्रियके घ्राणेन्द्रिय कम करने पर शेष चार प्राण होते हैं। अपर्याप्त एकेन्द्रियके रसना-रहित शेष तीन प्राण होते हैं। इनकी अंकसंदृष्टि मूलमें दी है ॥४७-५०॥

इस प्रकार प्राणप्ररूपणा समाप्त हुई।

संज्ञाप्ररूपणा—

[1]इह जाहि बाहिया वि य जीवा पावंति दारुणं दुक्खं।
सेवंता वि य *उभए ताओ चत्तारि सण्णाओ[1] ॥५१॥

जिनसे बाधित होकर जीव इस लोकमें दारुण दुःखको पाते हैं और जिनको सेवन करनेसे जीव दोनों ही भवोंमें दारुण दुःखको प्राप्त करते हैं, उन्हें संज्ञा कहते हैं और वे चार होती हैं—आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा ॥५१॥

आहारसंज्ञाका स्वरूप—

[2]आहारदंसणेण य तस्सुवओगेण †ऊणकुट्ठेण।
सादिदरुदीरणाए होदि हु आहारसण्णा दु[2] ॥५२॥

बहिरंगमें आहारके देखनेसे, उसके उपयोगसे और उदररूप कोठाके खाली होने पर तथा अन्तरंगमें असातावेदनीयकी उदीरणा होने पर आहारसंज्ञा उत्पन्न होती है ॥५२॥

भयसंज्ञाका स्वरूप—

[3]अइ‡भीमदंसणेण य तस्सुवओगेण ×ऊणसत्तेण।
भयकम्मुदीरणाए भयसण्णा जायदे चउहिं[3] ॥५३॥

बहिरङ्गमें अति भयानक रूपके देखनेसे, उसका उपयोग करनेसे और शक्तिकी हीनता होने पर, तथा अन्तरंगमें भयकर्मकी उदीरणा होने पर, इस प्रकार इन चार कारणोंसे भयसंज्ञा उत्पन्न होती है ॥५३॥

---

1. सं० पञ्चसं० १, ३४४। 2. १, ३४८। 3. १, ३४६।

१. गो०जी० १३३। २. गो०जी० १३४। ३. गो० जी० १३५।

* द -उभये। † ब -ओज, द -ओमु। ‡ ब -इव। × ब -ऊन।

मैथुनसंज्ञाका स्वरूप—

[1]पणिदरसभोयणेण य तस्सुवओगेण कुसीलसेवाए ।
वेदस्सुदीरणाए मेहुणसण्णा हवदि एवं[1] ॥५४॥

बहिरंगमें गरिष्ठ, स्वादिष्ट और रसयुक्त भोजन करनेसे, पूर्व-भुक्त विषयोंके ध्यान करनेसे, कुशीलका सेवन करनेसे, तथा अन्तरंगमें वेदकर्मकी उदीरणा या तीव्र उदय होनेपर मैथुनसंज्ञा उत्पन्न होती है ॥५४॥

परिग्रहसंज्ञाका स्वरूप—

[2]उवयरणदंसणेण य तस्सुवओगेण मुच्छियाए व ।
लोहस्सुदीरणाए परिग्गहे जायदे सण्णा[2] ॥५५॥

बहिरंगमें भोगोपभोगके साधनभूत उपकरणोंके देखनेसे, उनका उपयोग करनेसे, उनमें मूर्च्छाभाव रखनेसे तथा अन्तरंगमें लोभकर्मकी उदीरणा होने पर परिग्रहसंज्ञा उत्पन्न होती है ॥५५॥

इस प्रकार संज्ञाप्ररूपणा समाप्त हुई ।

मार्गणाप्ररूपणा—

[3]जाहि व जासु व जीवा मग्गिज्जंते जहा तहा दिट्ठा ।
ताओ चोद्दस जाणे सुदणाणे मग्गणाओ त्ति[3] ॥५६॥
[4]गइ इंदियं च काए जोए वेए कसाय णाणे य ।
संजम दंसण लेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे[4] ॥५७॥

जिन-प्रवचन-दृष्ट जीव जिन भावोंके द्वारा, अथवा जिन पर्यायोंमें अनुमार्गण किये जाते हैं, उन्हें मार्गणा कहते हैं । जीवोंका अन्वेषण करनेवाली ऐसी मार्गणाएँ श्रुतज्ञानमें चौदह कहीं गई हैं, ऐसा जानना चाहिए । वे चौदह मार्गणाएँ इस प्रकार हैं— १, गतिमार्गणा, २ इन्द्रियमार्गणा, ३ कायमार्गणा, ४ योगमार्गणा, ५ वेदमार्गणा, ६ कषायमार्गणा, ७ ज्ञानमार्गणा, ८ संयममार्गणा, ९ दर्शनमार्गणा, १० लेश्यामार्गणा, ११ भव्यमार्गणा, १२ सम्यक्त्वमार्गणा, १३ संज्ञिमार्गणा और १४ आहारमार्गणा ॥५६-५७॥

[5]मणुया य अपज्जत्ता वेउव्वियमिस्सऽहारया दोण्णि ।
सुहुमो सासणमिस्सो उवसमसम्मो य संतरा अट्ठ* ॥५८॥

एत्थ एगो गईए १ । तितयं जोगे ३ । सुहुमो संजमे १ । तयं सम्मत्ते ३ । इदि अट्ठ संतरा ८ ।

---

1. सं० पंचसं० १, ३५० । 2. १, ३५२ । 3. १, १३१ । 4. १, १३२-१३३ । 5. १, १३४-१३५ ।

१. गो० जी० १३६ । २. गो० जी० १३७ । ३. ध० भा० १ पृ० १३२ गा० ८३ । गो०जी० १४० । ४. गो० जी० १४१ ।

* द टिप्पणी—सत्त दिणा छम्मासा वासपुधत्तं च बारस मुहुत्ता ।
पल्लासंखं तिण्हं वरमवरं एगसमओ दु ॥१॥
पढमुवसमसहिदाए विरदाविरदीए चउद्दसा दिवसा ।
विरदीए पण्णरसा विरहिदकालो दु बोहव्वो ॥२॥ गो० जी० १४३-१४४ ।

उवसमेण सह अणुव्वयंतरं दिण १४ । तेण सह महव्वयंतरं दिणं १५ । पैयादोसाभिप्पायादो तस्सेवंतरं दिण २४ । प्रथमोपशमसम्यक्त्वस्य ७० । अपर्याप्तमनुष्यस्य पल्योपमासंख्याततमभागः उत्कृष्टेन शून्यकालो भवति । आहारकद्विकस्य सप्ताष्टौ वर्षाणि । वैक्रियिकमिश्रे द्वादश मुहूर्ताः । सूक्ष्मसाम्परायसंयमस्य षण्मासाः । सासादन-मिश्रयोः पल्योपमासंख्याततमभागः । औपशमिकस्य सप्त दिनानि ।

अपर्याप्त मनुष्य, वैक्रियिकमिश्रयोग, दोनों आहारक अर्थात् आहारककाययोग और आहारक मिश्रकाययोग, सूक्ष्मसाम्परायचारित्र, सासादनसम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व और उपशमसम्यक्त्व ये आठ सान्तर मार्गणा होती हैं ॥५८॥

इनमेंसे गतिमार्गणामें एक, योगमार्गणामें तीन, संयममार्गणामें सूक्ष्मसाम्परायचारित्र तथा सम्यक्त्वमार्गणामें अन्तिम तीन, इस प्रकार आठ सान्तर मार्गणाएँ जानना चाहिए।

अब गतिमार्गणाका वर्णन करते हुए पहले गतिका स्वरूप कहते हैं—

[1]गइकम्मविणिव्वत्ता जा चेट्ठा सा गई मुणेयव्वा ।
जीवा हु चाउरंगं गच्छंति हु सा गई होइ[1] ॥५९॥

गतिनामा नामकर्मसे उत्पन्न होनेवाली जो चेष्टा या क्रिया होती है उसे गति जानना चाहिए। अथवा जिसके द्वारा जीव नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव इन चारों गतियोंमें गमन करते हैं, वह गति कहलाती है ॥५९॥

नरकगतिका स्वरूप—

[2]ण रमंति जदो णिच्चं दव्वे खेत्ते य काल भावे य ।
अण्णोण्णेहि य णिच्चं तम्हा ते णारया भणिया[2] ॥६०॥

यतः तत्स्थानवर्ती द्रव्यमें, क्षेत्रमें, कालमें और भावमें जो जीव रमते नहीं हैं, तथा परस्परमें भी जो कभी भी प्रीतिको प्राप्त नहीं होते हैं, अतएव वे नारक या नारकी कहे जाते हैं ॥६०॥

तिर्यग्गतिका स्वरूप—

[3]तिरियंति कुडिलभावं विगयसुसण्णा णिकट्ठमण्णाणा+ ।
अच्चंतपावबहुला तम्हा ते तिरिच्छिया भणिया[3] ॥६१॥

यतः जो सदा कुटिलभावका आचरण करते हैं, उत्कट संज्ञाओंके धारक हैं, निकृष्ट एवं अज्ञानी हैं, अत्यन्त पाप-बहुल हैं, अतः वे तिर्यञ्च कहे जाते हैं ॥६१॥

मनुष्यगतिका स्वरूप—

[4]मण्णंति जदो णिच्चं मणेण णिउणा जदो दु जे जीवा ।
मणउक्कडा य जम्हा तम्हा ते माणुसा भणिया[4] ॥६२॥

यतः जो मनके द्वारा नित्य ही हेय-उपादेय, तत्त्व-अतत्त्व और धर्म-अधर्मका विचार करते हैं, कार्य करनेमें निपुण हैं, मनसे उत्कृष्ट हैं, अर्थात् उत्कृष्ट मनके धारक हैं, और युगके आदिमें मनुओंसे उत्पन्न हुए हैं, अतएव वे मनुष्य कहलाते हैं ॥६२॥

देवगतिका स्वरूप—

[5]कीडंति जदो णिच्चं गुणेहिं अट्ठहिं दिव्वभावेहिं ।
भासंतदिव्वकाया तम्हा ते वण्णिया देवा[5] ॥६३॥

---

1. सं० पञ्चसं० १, १३६ । 2. १, १३७ । 3. १, १३८ । 4. १, १३९ । 5. १, १४० ।

१. ध०भा० १ पृ० १३५ गा० ८४ । २. ध०भा० १ पृ० २०२ गा० १२८ । गोoजी० १४६ । ३. ध० भा० १ पृ० २०२ गा० १२९ । गो० जी० १४७ । ४. ध० भा० १ पृ० २०३ गा० १३० । गो०जी० १४८ । ५. ध०भा० १ पृ० २०३ गा० १३१ । गो०जी० १५० । परन्तूभयत्रापि 'कीडंति' स्थाने 'दिव्वंति' पाठः ।

+ द- मण्णाणा ।

जो दिव्यभाव-युक्त अणिमादि आठ गुणोंसे नित्य क्रीड़ा करते रहते हैं और जिनका प्रकाशमान दिव्य शरीर है, वे देव कहे गये हैं ॥६३॥

सिद्धगतिका स्वरूप—

[1]जाइ-जरा-मरण-भया संजोय-विओय-दुक्ख-सण्णाओ ।
रोगादिया य *जिस्से ण होंति सा होइ सिद्धिगई[1] ॥६४॥

जहाँ पर जन्म, जरा, मरण, भय, संयोग, वियोग, दुःख, संज्ञा और रोगादिक नहीं होते हैं, वह सिद्धगति कहलाती है ॥६४॥

इस प्रकार गतिमार्गणाका वर्णन समाप्त हुआ ।

अब इन्द्रियमार्गणाका वर्णन करते हुए पहले इन्द्रियका स्वरूप कहते हैं—

[2]अहमिंदा जह + देवा अविसेसं अहमहं ति मण्णंता ।
ईसंति एक्कमेक्कं इंदा इव इंदियं जाणे[2] ॥६५॥

जिस प्रकार अहमिन्द्रदेव विना किसी विशेषताके 'मैं इन्द्र हूँ, मैं इन्द्र हूँ' इस प्रकार मानते हुए ऐश्वर्यका स्वतन्त्ररूपसे अनुभव करते हैं उसी प्रकार इन्द्रियोंको जानना चाहिए । अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने विषयके सेवन करनेमें स्वतन्त्र है ॥६५॥

इन्द्रियोंके आकार—

[3]जवणालिया-मसूरी-चंदद्ध-अइमुत्तफुल्लतुल्लाइं ।
इंदियसंठाणाइं फासं पुण णेगसंठाणं[3] ॥६६॥

श्रोत्रेन्द्रियका आकार यव-नालीके समान, चक्षुरिन्द्रियका मसूरके समान, रसनेन्द्रियका अर्ध-चन्द्रके समान और घ्राणेन्द्रियका अतिमुक्तक पुष्प अर्थात् कदम्बके फूलके समान है । किन्तु स्पर्शनेन्द्रिय अनेक आकारवाली है ॥६६॥

[4]एइंदियस्स फुसणं एक्कं चिय होइ सेसजीवाणं ।
एयाहिया य तत्तो जिब्भाघाणक्खिसोत्ताइं[4] ॥६७॥

एकेन्द्रिय जीवके एक स्पर्शन-इन्द्रिय ही होती है । शेष जीवोंके क्रमसे जिह्वा, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये एक-एक इन्द्रिय अधिक होती हैं ॥६७॥

इन्द्रियोंके विषय—

[5]पुट्ठं सुणेइ सद्दं अपुट्ठं पुण वि पस्सदे रूवं ।
फासं रसं च गंधं बद्धं पुट्ठं वियाणेइ[5] ॥६८॥

श्रोत्रेन्द्रिय स्पृष्ट शब्दको सुनती है । चक्षुरिन्द्रिय अस्पृष्ट रूपको देखती है । स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय क्रमशः बद्ध और स्पृष्ट, स्पर्श, रस और गन्धको जानती हैं ॥६८॥

सं० पंचसं० 1. १, १, १४१ । 2. १, १४२ । 3. १, १४३ । 4. १, १४४ । 5. १, १४५ ।

१. ध० भा० १ पृ० २०४ गा० १३२ । गो० जी० १५१ । २. ध० भा० १ पृ० १३७ गा० ८५ । गो० जी० १६३ । ३. मूला० गा० १०९१ । ध० भा० १ पृ० २३६ गा० १३४ । ४. ध० भा० १ पृ० २५८ गा० १४२ । गो० जी० १६६ । ५. सर्वा० १, १६ ।

* ब -जेस्से, द -जिस्सिं । + प्रतिषु 'जिह' पाठः ।

[1]जाणइ पस्सइ भुंजइ *सेवइ फासिंदिएण एक्केण।
कुणइ य तस्सामित्तं थावर एइंदियो तेण[1] ॥६९॥

स्थावरजीव एक स्पर्शनेन्द्रियके द्वारा ही अपने विषयको जानता है, देखता है, भोगता है, सेवन करता है और उसका स्वामित्व करता है इसलिए वह एकेन्द्रिय कहलाता है ॥६९॥

द्वीन्द्रिय जीवोंके भेद—

[2]खुल्ला वराड संखा अक्खुणह अरिट्ठगा य गंडोला।
कुक्खिकिमि सिप्पिआई णेया बेइंदिया जीवा[2] ॥७०॥

क्षुल्लक अर्थात् छोटी कौड़ी, बड़ी कौड़ी, शंख, अक्ष, अरिष्टक, गंडोला, कुक्षि-कृमि अर्थात् पेटके कीड़े और सीप आदि द्वीन्द्रिय जीव जानना चाहिए ॥७०॥

त्रीन्द्रिय जीवोंके भेद—

[3]कुंथु पिपीलय मंकुण विच्छिय जूविंदगोव† गोम्ही य‡।
उत्तिंगमट्टियाई णेया तेइंदिया जीवा[3] ॥७१॥

कुंथु (चीटी) पिपीलक (चींटा) मत्कुण (खटमल) बिच्छू, जूँ, इन्द्रगोप, (वीर-बधूटी) गोम्ही (कनखजूरा), उत्तिंग (अन्नकीट) और मृद्-भक्षी दीमक आदि त्रीन्द्रिय जीव जानना चाहिए ॥७१॥

चतुरिन्द्रिय जीवोंके भेद—

[4]दंसमसगो य मक्खिय गोमच्छिय भमर कीड मक्कडया।
सलह पयंगाईया णेया चउरिंदिया जीवा[4] ॥७२॥

दंश-मशक (डांस, मच्छर) मक्खी, मधुमक्खी, भ्रमर, कीट, मकड़ी, शलभ, पतंग आदि चतुरिन्द्रिय जीव जानना चाहिए ॥७२॥

पंचेन्द्रिय जीवोंके भेद—

[5]अंडज पोदज जरजा रसजा संसेदिमा य सम्मुच्छा।
उब्भिंदिमोववादिम णेया पंचेंदिया जीवा[5] ॥७३॥

अंडज, पोतज, जरायुज, रसज, स्वेदज, सम्मूर्च्छिम, उद्भेदिम, और औपपादिक जीवोंको पंचेन्द्रिय जानना चाहिये ॥७३॥

अतीन्द्रिय जीवोंका स्वरूप—

[6]ण य इंदियकरणजुआ अवग्गहाईहिं गाहया अत्थे।
णेव य इंदियसुक्खा अणिंदियाणंतणाणसुहा[6] ॥७४॥

---

1. सं० पञ्चसं० १, १४६। 2. १, १४७। 3. १, १४८। 4. १, १४९। 5. १, १५०। 6. १, १५१।

१. ध०भा० १ पृ० २६१ गा० १३५। २. ध०भा० १ पृ० २४१ गा० १३६। तत्रेदृक् पाठः—कुक्खिकिमिसिप्पिसंखा गंडोलारिट्ठ अक्खखुल्ला य। तह य वराडय जीवा णेया बीइंदिया एदे। ३. ध०भा० १ पृ० २४३ गा० १३७। ४. ध० भा० १ पृ० २४५ गा० १३८। परं तत्रायं पाठः—मक्कडय-भमर-महुयर-मसय-पयंगा य सलह गोमच्छी। मच्छी सदंस कीडा णेया चउरिंदिया जीवा॥ ५. ध० भा० १ पृ० २४६ गा० १३९। परं पत्र पाठोऽयम्—सस्सेदिम सम्मुच्छिम उब्भेदिम ओववादिया चेव। रस पोदंड जरायुज णेया बीइंदिया जीवा॥

* ब -सेवइ। † ब -जु विंदु। ‡ द -गुंभीया, ब -गुंभीव।

जो इन्द्रियोंके व्यापारसे युक्त नहीं हैं, अवग्रहादिके द्वारा भी पदार्थोंके ग्राहक नहीं हैं और जिनके इन्द्रिय-सुख भी नहीं है, ऐसे अतीन्द्रिय अनन्त ज्ञान और सुखवाले जीवोंको इन्द्रियातीत सिद्ध जानना चाहिये ॥७४॥

इस प्रकार इन्द्रियमार्गणाका वर्णन समाप्त हुआ।

अब कायमार्गणाका वर्णन करते हुए पहले कायका स्वरूप कहते हैं—

[1]अप्पप्पवुत्तिसंचियपुग्गलपिंडं वियाण काओ त्ति।
सो जिणमयम्हि भणिओ पुढवीकायाइयो छद्धा[1] ॥७५॥

योगरूप आत्माकी प्रवृत्तिसे संचयको प्राप्त हुए औदारिकादिरूप पुद्गलपिंडको काय जानना चाहिये। वह काय जिनमतमें पृथिवीकाय आदिके भेदसे छह प्रकारका कहा गया है ॥७५॥

[2]जह* भारवहो पुरिसो वहइ भरं गिण्हिऊण काउडियं।
एमेव वहइ जीवो कम्मभरं कायकाउडियं[2] ॥७६॥

जिस प्रकार कोई भारको ढोनेवाला पुरुष कावटिकाको लेकर भारको वहन करता है, इसी प्रकार यह जीव कायरूपी कावटिकाको ग्रहण करके कर्मरूपी भारको वहन करता है ॥७६॥

पृथिवीकायिक जीवोंके भेद—

[3]पुढवी य सक्करा वालुया य उवले सिलाइ छत्तीसा।
पुढवीमया हु जीवा णिद्दिट्ठा जिणवरिंदेहिं[3] ॥७७॥

पृथिवी, शर्करा, वालुका, उपल, शिला आदिके भेदसे छत्तीस प्रकारके पृथ्वीमय अर्थात् पृथिवीकायिक जीव जिनवरेन्द्रोंने निर्दिष्ट किये हैं ॥७७॥

जलकायिक जीवोंके भेद—

[4]ओसा य हिमिय महिया हरदणु सुद्धोदयं घणुदयं च।
एदे दु आउकाया जीवा जिणसासणे दिट्ठा[4] ॥७८॥

ओस, हिमिका (बर्फ), महिका (कुहरा), हरदणु, (हरे तृण आदिके ऊपर अवस्थित जलबिन्दु) शुद्धोदक (चन्द्रकान्त, मणिसे उत्पन्न शुद्ध जल) घनोदक (स्थूल सघन जल) इत्यादि अप्कायिक (जलकायिक) जीव जिनशासनमें कहे गये हैं ॥७८॥

अग्निकायिक जीवोंके भेद—

[5]इंगाल जाल अच्ची मुम्मुर सुद्धागणी य अगणी य।
अण्णेवि एवमाई †तेउकाया समुद्दिट्ठा[5] ॥७९॥

---

[*]सं० पंचसं० 1. १, १५३। 2. १, १५२। 3. १, १५५। 4. १, १५६। 5. १, १५७।

१. ध० भा० १ पृ० १३८ गा० ८६। गो०जी० १८०, परं तत्रोत्तरार्धसाम्यमेव। २. ध० भा० १ पृ० १३८ गा० ८७। गो० जी० २०१। ३. मूला० गा० २०६। आचा० नि० ७३। ध० भा० १, पृ० २७२ गा० १४९। ४. मूला० गा० २१०। आचा० नि० १०८। ध०भा० १ पृ० २७३ गा० १५०। परं तत्र पूर्वार्धे पाठोऽयम्—ओसा य हिमो धूमरि हरदणु सुद्धोदयो घणोदो य। ५. मूला०गा० २११। आचा० नि० १६६। ध०भा० १ पृ० २७३ गा० १५२।

* प्रतिषु 'जिह' पाठः। † ब तेऊ०, द तेऊ।

अंगार, ज्वाला, अर्चि (अग्निकिरण), मुर्मुर (निर्धूम और ऊपर राखसे ढँकी हुई अग्नि) शुद्ध-अग्नि (बिजली और सूर्यकान्तमणिसे उत्पन्न अग्नि) और धूमवाली अग्नि इत्यादि अन्य अनेक प्रकारके तेजस्कायिक जीव कहे गये हैं ॥७९॥

वायुकायिक जीवोंके भेद—

[1]वाउब्भामो उक्कलि* मंडलि गुंजा महाघण तणू य ।
एदे दु वाउकाया जीवा जिणसासणे दिट्ठा[1] ॥८०॥

सामान्य वायु, उद्भ्राम (ऊर्ध्व भ्रमणशील) वायु, उत्कलिका (अधोभ्रमणशील और तिर्यक् बहनेवाली), मण्डलिका (गोलरूपसे बहनेवाली वायु), गुंजा (गुंजायमान वायु), महावात (वृक्षादिकको गिरा देनेवाली वायु), घनवात और तनुवात इत्यादिक अनेक प्रकारके वायुकायिक जीव जिनशासनमें कहे गये हैं ॥८०॥

वनस्पतिकायिक जीवोंके भेद—

[2]मूलग्गपोरबीया कंदा तह खंध बीय बीयरुहा ।
सम्मुच्छिमा य भणिया पत्तेयाणंतकाया य[2] ॥८१॥

मूलबीज, अग्रबीज, पर्वबीज, कन्दबीज, स्कन्धबीज, बीजरुह और सम्मूर्च्छिम, ये नाना प्रकारके प्रत्येक और अनन्तकाय (साधारण) वनस्पतिकायिक जीव कहे गये हैं ॥८१॥

[3]साहारणमाहारो साहारण †आणपाणगहणं च ।
साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं भणियं[3] ॥८२॥

साधारण अर्थात् अनन्तकायिक वनस्पति जीवोंका साधारण अर्थात् समान ही आहार होता है और साधारण ही श्वास-उच्छ्वासका ग्रहण होता है, इस प्रकार साधारण जीवोंका साधारण लक्षण कहा गया है ॥८२॥

[4]जत्थेक्क मरइ जीवो तत्थ दु मरणं हवे अणंताणं ।
चक्कमइ जत्थ एक्को ‡तत्थक्कमणं अणंताणं[4] ॥८३॥

साधारण जीवोंमें जहाँ एक मरता है, वहाँ उसी समय अनन्त जीवोंका मरण होता है और जहाँ एक जन्म धारण करता है, वहाँ अनन्त जीवोंका जन्म होता है ॥८३॥

एयणिओयसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा ।
सिद्धेहि अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण[5] ॥८४॥

एक निगोदिया जीवके शरीरमें द्रव्यप्रमाणकी अपेक्षा सिद्धोंसे और सर्वव्यतीत कालसे अनन्तगुणित जीव सर्वदर्शियोंके द्वारा देखे गये हैं ॥८४॥

---

1. सं० पञ्चसं० १, १५८ । 2. १, १५९ । 3. १, १०५ । 4. १, १०७ ।

१. मूला० २१२ । ध०भा० १ पृ० २७३ गा० १५२ । २. ध० भा० १ पृ० २७३ गा० १५३ । गो० जी० १८५ । ३. ध० भा० १ पृ० २७० गा० १४५ । गो० जी० १९१ । ४. ध० भा० १ पृ० २७० गा० १४६ । गो० जी० १९२ । ५. ध०, भा० १, पृ० २७० गा० १४७ । गो० जी० १९६ ।

* द ब -उक्किल । † ब -माण । ‡ ब द -चक्कमणं तत्थ ।

[1]अत्थि अणंता जीवा जेहिं ण पत्तो तसत्तपरिणामो ।
भावकलंकसुपउरा* णिगोयवासं ण मुंचंति[1] ॥८५॥

नित्य निगोदमें ऐसे अनन्तानन्त जीव हैं, जिन्होंने त्रस जीवोंकी पर्याय आजतक भी नहीं पाई है और जो प्रचुर कलंकित भावोंसे युक्त होनेके कारण निगोद-वासको कभी भी नहीं छोड़ते ॥८५॥

त्रसजीवोंके भेद—

[2]विहिं तिहिं चउहिं पंचहिं सहिया जे इंदिएहिं लोयम्हि ।
ते तसकाया जीवा णेया वीरोवएसेणं[2] ॥८६॥

लोकमें जो दो इन्द्रियोंसे, तीन इन्द्रियोंसे, चार इन्द्रियोंसे और पाँच इन्द्रियोंसे सहित जीव दिखाई देते हैं, उन्हें वीर भगवान्के उपदेशसे त्रसकायिक जीव जानना चाहिए ॥८६॥

अकायिक जीवोंका स्वरूप—

[3]जह† कंचणमग्गिगयं मुचइ किट्टेण कलियाए य ।
तह कायबंधमुक्का अकाइया झाणजोएण[3] ॥८७॥

जिस प्रकार अग्निमें दिया गया सुवर्ण किट्टिका (बहिरंगमल) और कालिमा (अन्तरंग-मल) इन दोनों प्रकारके मलोंसे रहित हो जाता है, उसी प्रकार ध्यानके योगसे शुद्ध हुए और कायके बन्धनसे मुक्त हुए जीव अकायिक जानना चाहिए ॥८७॥

इस प्रकार कायमार्गणाका वर्णन समाप्त हुआ

अब योगमार्गणाका वर्णन प्रारम्भ करते हुए पहले योगका स्वरूप कहते हैं—

[4]मणसा वाया काएण वा वि जुत्तस्स विरियपरिणामो ।
जीवस्स ‡प्पणिओगो जोगो त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठो[4] ॥८८॥

मन, वचन और कायसे युक्त जीवका जो वीर्य-परिणाम अथवा प्रदेश-परिस्पन्द रूप प्रणि-योग होता है, उसे योग कहते हैं, ऐसा जिनेन्द्र भगवान्ने कहा है ॥८८॥

मनोयोगके भेद और उनका स्वरूप—

[5]सब्भावो सच्चमणो जो जोगो सो दु सच्चमणजोगो ।
तव्विवरीओ मोसो जाणुभयं सच्चमोस त्ति[5] ॥८९॥

सद्भाव अर्थात् समीचीन पदार्थके विषय करनेवाले मनको सत्य मन कहते हैं और उसके द्वारा जो योग होता है, उसे सत्यमनोयोग कहते हैं। इससे विपरीत योगको मृषामनोयोग कहते हैं। सत्य और मृषारूप योगको सत्यमृषामनोयोग कहते हैं ॥८९॥

---

1. सं० पञ्चसं० १, ११० । 2. १, १६० । 3. १, १६४ । 4. १, १६५ । 5. १६७ ।

१. ध० भा० १ पृ० २७१ गा० १४८ । गो० जी० १९६ । २. ध० भा० १ पृ० २७४ गा० १५४ । गो० जी० १९८ । ३. ध० भा० १, पृ० २६६ गा० १४४ । गो० जी० २०२ । ४. ध० भा० १ पृ०, १४० गा० ८८ । स्था० सू० पृ० १०१ । गो० जी० २०७ । ५. ध० भा० १ पृ० २८१ गा १५४ ।

* द -सपउरा । † प्रतिषु 'जिह' पाठः । ‡ ब द -प णिय० ।

ण य सच्चमोसजुत्तो जो दु मणो सो असच्चमोसमणो।
जो जोगो तेण हवे असमच्चमोसो दु मणजोगो[1] ॥६०॥

जो मन न तो सत्य हो और न मृषा हो, उसे असत्यमृषामन कहते हैं। उस असत्यमृषा-मनके द्वारा जो योग होता है, उसे असत्यमृषामनोयोग कहते हैं ॥६०॥

वचनयोगके भेद और उनका स्वरूप—

[1]दसविहसच्चे वयणे जो जोगो सो दु सच्चवचिजोगो।
तव्विवरीओ मोसो जाणुभयं सच्चमोस त्ति[2] ॥६१॥
जो णेव सच्चमोसो तं जाण असच्चमोसवचिजोगो।
अमणाणं जा भासा सण्णीणामंतणीयादी[3] ॥६२॥

दश प्रकारके सत्य वचनमें वचनवर्गणाके निमित्तसे जो योग होता है उसे सत्यवचन-योग कहते हैं। इससे विपरीत योगको मृषावचनयोग कहते हैं। सत्य और मृषा वचनरूप योगको उभयवचनयोग कहते हैं। जो वचनयोग न तो सत्यरूप हो और न मृषारूप ही हो, उसे असत्यमृषावचनयोग कहते हैं। असंज्ञी जीवोंकी जो अनक्षररूप भाषा है और संज्ञी जीवोंकी जो आमंत्रणी आदि भाषाएँ हैं, उन्हें अनुभय भाषा जानना चाहिए ॥६१-६२॥

विशेषार्थ—जनपदसत्य, सम्मतिसत्य, स्थापनासत्य, नामसत्य, रूपसत्य, प्रतीत्यसत्य, व्यवहारसत्य, संभावनासत्य, भावसत्य और उपमासत्य ये दश प्रकारके सत्य वचन होते हैं। विभिन्न देशवासी लोगोंके व्यवहारमें जो शब्द रूढ हो रहा है, उसे जनपदसत्य कहते हैं; जैसे भक्त नाम अग्निसे पके हुए चावलका है, उसे कहीं 'भात' और कहीं 'कुलु' कहते हैं। बहुतसे लोगोंकी सम्मतिसे जो सत्य माना जाय, अथवा कल्पनासे जो सत्य हो, उसे सम्मतिसत्य या संवृतिसत्य कहते हैं, जैसे पट्टरानीके सिवाय किसी सामान्य स्त्रीको भी देवी कहना। भिन्न वस्तुमें भिन्न वस्तुके समारोप करनेवाले वचनको स्थापनासत्य कहते हैं; जैसे प्रतिमाको चन्द्रप्रभ कहना। दूसरी कोई अपेक्षा न रखकर केवल व्यवहारके लिए जो नाम रखा जाता है, उसे नामसत्य कहते हैं, जैसे जिनदत्त। यद्यपि उसको जिनभगवान्‌ने नहीं दिया है तथापि व्यवहारके लिए उसे जिनदत्त कहते हैं। पुद्गलके रूपादिक अनेक गुणोंमेंसे रूपकी प्रधानतासे जो वचन कहा जाय, उसे रूपसत्य कहते हैं। जैसे किसी मनुष्यके केशोंको काला कहना, अथवा उसके शरीरमें रसादिकके रहनेपर भी उसे श्वेत, धवल, गौर आदि कहना। किसी विवक्षित पदार्थकी अपेक्षा दूसरे पदार्थके स्वरूप-वर्णनको प्रतीत्यसत्य या आपेक्षिक-सत्य कहते हैं; जैसे किसीको दीर्घ, स्थूल आदि कहना। नैगमादि नयोंकी प्रधानतासे जो वचन बोला जाय, उसे व्यवहार सत्य कहते हैं; जैसे नैगमनयकी अपेक्षासे 'भात पकाता हूँ' आदि वचन बोलना। असंभवताका परिहार करते हुए वस्तुके किसी धर्मके निरूपण करनेमें प्रवृत्त वचनको संभावनासत्य कहते हैं; जैसे इन्द्र जम्बूद्वीपको उलट-पलट कर सकता है आदि। आगम-वर्णित विधि-निषेधके अनुसार अतीन्द्रिय पदार्थोंमें संकल्पित परिणामको भाव कहते हैं, उसके आश्रित जो वचन बोले जाते हैं, उन्हें भावसत्य कहते हैं; जैसे सूखे, पके और अग्निसे तपे या नमक, मिर्च, खटाई आदिसे संमिश्रित द्रव्यको प्रासुक माना जाता है। यद्यपि प्रासुक माने जानेवाले द्रव्यके तद्रूप अन्तर्वर्ती

---

1. सं० पञ्चसं० १, १६८-१७१।

1. ध० भा० १ पृ० २८६ गा० १५६। गो० जी० २१८। 2. ध० भा० १ पृ० २८६ गा० १५६। गो० जी० २१९। 3. ध० भा० १ पृ० २८६ गा० १५७। गो० जी० २२०।

सूक्ष्म जीवोंको इन्द्रियोंसे देख नहीं सकते, तथापि आगमप्रामाण्यसे उसकी प्रासुकताका वर्णन किया जाता है। इस प्रकारके पापवर्ज वचनको भावसत्य कहते हैं। दूसरे प्रसिद्ध-सदृश पदार्थको उपमा कहते हैं। उपमाके आश्रयसे जो वचन बोले जाते हैं, उन्हें उपमासत्य कहते हैं; जैसे पल्योपम। पल्य नाम गड्ढेका है, उसकी उपमासे पल्योपमका व्यवहार होता है। अनुभय भाषाके नौ भेद होते हैं, आमंत्रणी, आज्ञापनी, याचनी, आपृच्छनी, प्रज्ञापनी, प्रत्याख्यानी, संशयवचनी, इच्छानुलोम्नी और अनक्षरगता। 'हे देवदत्त, यहाँ आओ', इस प्रकारसे बुलानेवाले वचनोंको आमंत्रणी-भाषा कहते हैं। 'यह काम करो' ऐसे आज्ञारूप वचनोंको आज्ञापनी भाषा कहते हैं 'यह मुझे दो', ऐसे याचना-पूर्ण वचनोंको याचनी-भाषा कहते हैं। 'यह क्या है' ऐसे प्रश्नात्मक वचनोंको आपृच्छनी भाषा कहते हैं। 'मैं क्या करूँ' ऐसे सूचनात्मक वचनोंको प्रज्ञापनी भाषा कहते हैं। 'मैं इसे छोड़ता हूँ' ऐसे त्याग या परिहाररूप वचनोंको प्रत्याख्यानी भाषा कहते हैं। 'यह बकपंक्ति है या ध्वजपंक्ति' ऐसे संशयात्मक वचनोंको संशयवचनी भाषा कहते हैं। 'मुझे भी ऐसा ही होना चाहिए' ऐसी इच्छाके व्यक्त करनेवाले वचनोंको इच्छानुलोम्नी भाषा कहते हैं। द्वीन्द्रियसे लेकर असंज्ञिपंचेन्द्रिय तकके जीवोंकी बोलीको अनक्षरगता भाषा कहते हैं। ये नौ प्रकारकी भाषा अनुभयवचनरूप हैं, क्योंकि इनके सुननेसे व्यक्त और अव्यक्त दोनों अंशोंका बोध होता है, सामान्य अंशके व्यक्त होनेसे इन्हें असत्य भी नहीं कह सकते और विशेष अंशके व्यक्त न होनेसे सत्य भी नहीं कह सकते। यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि सत्य और अनुभय वचनयोगका मूल कारण भाषापर्याप्ति और शरीरनामकर्मका उदय है। तथा मृषा और अनुभयवचनयोगका मूल कारण अपना-अपना आवरणकर्म है ॥९१-९२॥

काययोगके सात भेदोंमेंसे औदारिककाययोगका स्वरूप—

[1]पुरु महमुदारुरालं *एयट्ठं तं वियाण तम्हि भवं।
ओरालिय त्ति वुत्तं ओरालियकायजोगो सो[1] ॥९३॥

पुरु, महत्, उदार और उराल ये सब शब्द एकार्थ-वाचक हैं। उदार या स्थूलमें जो उत्पन्न हो, उसे औदारिक जानना चाहिए। (यहाँ पर भव-अर्थमें ठण् प्रत्यय हुआ है।) उदारमें होने वाला जो काययोग है, वह औदारिककाययोग कहलाता है। अर्थात् मनुष्य और तिर्यंचोंके स्थूल शरीरमें जो योग होता है, उसे औदारिककाययोग कहते हैं ॥९३॥

औदारिकमिश्रकाययोगका स्वरूप—

[2]अंतोमुहुत्तमज्झं वियाण मिस्सं च अपरिपुण्णो त्ति।
जो तेण संपओगो ओरालियमिस्सकायजोगो सो[2] ॥९४॥

औदारिकशरीरकी उत्पत्ति प्रारम्भ होनेके प्रथम समयसे लगाकर अन्तर्मुहूर्त तक मध्यवर्ती कालमें जो अपरिपूर्ण शरीर है, उसे औदारिकमिश्र जानना चाहिए। उसके द्वारा होनेवाला जो संप्रयोग है, वह औदारिकमिश्र काययोग कहलाता है। अर्थात् शरीरपर्याप्ति पूर्ण होनेसे पूर्व कार्मणशरीरकी सहायतासे उत्पन्न होनेवाले औदारिककाययोगको औदारिकमिश्रकाययोग कहते हैं ॥९४॥

1-2. सं० पञ्चसं०, १, १७३।

१. ध० भा० १ पृ० २९१ गा० १६०। गो० जी० २२९। २. ध० भा० १ पृ० २९१ गा० १६१। गो० जी० २३०, परन्तूभयत्रापि प्रथमचरणे 'ओरालिय उत्तत्थं' इति पाठः।

*ब एयट्ठ, द एयट्ठा।

वैक्रियिककाययोगका स्वरूप—

[1]विविहगुणइड्ढिजुत्तं वेउव्वियमहव विकिरियं चेव ।
तिस्से भवं च णेयं वेउव्वियकायजोगो सो[1] ॥९५॥

विविध गुण और ऋद्धियोंसे युक्त, अथवा विशिष्ट क्रियावाले शरीरको वैक्रियिक कहते हैं । उसमें उत्पन्न होनेवाला जो योग है, उसे वैक्रियिककाययोग जानना चाहिए ॥९५॥

वैक्रियिकमिश्रकाययोगका स्वरूप—

[2]अंतोमुहुत्तमज्झं वियाण मिस्सं च अपरिपुण्णो त्ति ।
जो तेण संपओगो वेउव्वियमिस्सकायजोगो सो[2] ॥९६॥

वैक्रियिकशरीरकी उत्पत्ति प्रारम्भ होनेके प्रथम समयसे लगाकर शरीरपर्याप्ति पूर्ण होने तक अन्तर्मुहूर्तके मध्यवर्ती अपरिपूर्ण शरीरको वैक्रियिकमिश्रकाय कहते हैं । उसके द्वारा होनेवाला जो संप्रयोग है, वह वैक्रियिकमिश्रकाययोग कहलाता है । अर्थात् देव-नारकियोंके उत्पन्न होनेके प्रथम समयसे लेकर शरीरपर्याप्ति पूर्ण होने तक कार्मणशरीरकी सहायतासे उत्पन्न होनेवाले वैक्रियिककाययोगको वैक्रियिकमिश्रकाययोग कहते हैं ॥९६॥

आहारककाययोगका स्वरूप—

[3]आहरइ अणेण मुणी सुहुमे अट्ठे सयस्स संदेहे ।
गत्ता केवलिपासं तम्हा आहारकायजोगो सो[3] ॥९७॥

स्वयं सूक्ष्म अर्थमें सन्देह उत्पन्न होनेपर मुनि जिसके द्वारा केवलि-भगवान्के पास जाकर अपने सन्देहको दूर करता है, उसे आहारक काय कहते हैं । उसके द्वारा उत्पन्न होनेवाले योगको आहारककाययोग कहते हैं ॥९७॥

आहारकमिश्रकाययोगका स्वरूप—

[4]अंतोमुहुत्तमज्झं वियाण मिस्सं च अपरिपुण्णो त्ति ।
जो तेण संपओगो आहारयमिस्सकायजोगो सो[4] ॥९८॥

आहारकशरीरकी उत्पत्ति प्रारम्भ होनेके प्रथम समयसे लगाकर शरीरपर्याप्ति पूर्ण होने तक अन्तर्मुहूर्तके मध्यवर्ती अपरिपूर्ण शरीरको आहारकमिश्रकाय कहते हैं । उसके द्वारा जो योग उत्पन्न होता है वह आहारकमिश्रकाययोग कहलाता है ॥९८॥

कार्मणकाययोगका स्वरूप—

[5]कम्मेव य कम्मइयं कम्मभवं तेण जो दु संजोगो ।
कम्मइयकायजोगो एय-विय-तियगेसु समएसु[5] ॥९९॥

कर्मोंके समूहको, अथवा कार्मणशरीर नामकर्मके उदयसे उत्पन्न होनेवाले कायको कार्मणकाय कहते हैं और उसके द्वारा होनेवाले योगको कार्मणकाययोग कहते हैं । यह योग विग्रहगतिमें अथवा केवलिसमुद्घातमें एक, दो अथवा तीन समय तक होता है ॥९९॥

1-2. सं० पञ्चसं० १, १७३-१७४ । 3-4. १, १७५-१७७ । 5. १, १७८ ।

१. ध० भा० १ पृ० २९१ गा० १६२ । गो० जी० २३२ । २. ध० भा० १ पृ० २९२ गा० १६३ । गो०जी० २३३ । परं तत्र प्रथमचरणे पाठभेदः । ३. ध० भा० १ पृ० २९४ गा० १६४ । गो० जी० २३८ । ४. ध० भा० १ पृ० २९४ गा० १६५ । गो०जी० २३९, परं तत्र प्रथमचरणे पाठभेदः । ५. ध० भा० १ पृ० २९५ गा० १६६ । गो० जी० २४० ।

योगरहित अयोगिजिनका स्वरूप—

[1]जेसिं ण संति जोगा सुहासुहा पुण्णपावसंजणया ।
ते होंति अजोइजिणा अणोवमाणंतगुणकलिया[1] ॥१००॥

जिनके पुण्य और पापके संजनक अर्थात् उत्पन्न करनेवाले शुभ और अशुभ योग नहीं होते हैं, वे अयोगिजिन कहलाते हैं, जो कि अनुपम और अनन्त गुणोंसे सहित होते हैं ॥१००॥

इस प्रकार योगमार्गणाका वर्णन समाप्त हुआ ।

अब वेदमार्गणाका निरूपण करते हुए पहले वेदका स्वरूप कहते हैं—

[2]वेदस्सुदीरणाए बालत्तं पुण णियच्छदे बहुसो ।
इत्थी पुरिस णउंसय वेयंति तदो हवदि वेदो[2] ॥१०१॥

वेदकर्मकी उदीरणा होनेपर यह जीव नाना प्रकारके बालभाव अर्थात् चांचल्यको प्राप्त होता है और स्त्रीभाव, पुरुषभाव एवं नपुंसक भावका वेदन करता है, अतएव वेदकर्मके उदयसे होनेवाले भावको वेद कहते हैं ॥१०१॥

वेदके भेद और वेद-वैषम्यका निरूपण—

[3]तिव्वेद एव सव्वे वि जीवा दिट्ठा हु दव्व-भावादो ।
ते चेव हु विवरीया संभवंति जहाकमं सव्वे ॥१०२॥

द्रव्य और भावकी अपेक्षा सर्व ही जीव तीनों वेदवाले दिखाई देते हैं और इसी कारण वे सर्व ही यथाक्रमसे विपरीत वेदवाले भी सम्भव हैं ॥१०२॥

भाववेद और द्रव्यवेदका कारण—

[4]उदयादु णोकसायाण भाववेदो य होइ जंतूणं ।
जोणी य लिंगमाई णामोदय दव्ववेदो दु ॥१०३॥

नोकषायोंके उदयसे जीवोंके भाववेद होता है । तथा योनि, लिंग आदि द्रव्यवेद नामकर्मके उदयसे होता है ॥१०३॥

वेद-वैषम्यका कारण—

[5]इत्थी पुरिस णउंसय वेया खलु दव्व-भावदो होंति ।
ते चेव य विवरीया हवंति सव्वे जहाकमसो ॥१०४॥

स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ये तीनों ही वेद निश्चयसे द्रव्य और भावकी अपेक्षा दो प्रकारके होते हैं और वे सर्व ही विभिन्न नोकषायोंके उदय होनेपर यथाक्रमसे विपरीत भी परिणत होते हैं ॥१०४॥

---

1. सं० पञ्चसं० १, १८० । 2. १, १८६–१८७ । 3. १, १९१–१९२ । 4. १, १८८–१८९ । 5. १, १९३–१९४ । परन्त्वत्र मतभेदो दृश्यते ।

१. ध० भा० १ पृ० २८० गा० १५३ । गो० जी० २४२ । २. ध० भा० १ पृ० १४१ गा० ८९ ।

स्त्रीवेदका स्वरूप—

[1]छादयदि सयं दोसेण जदो छादयदि परं पि दोसेण ।
छादणसीला णियदं तम्हा सा *वण्णिया इत्थी[1] ॥१०५॥

जो मिथ्यात्व आदि दोषसे अपने आपको आच्छादित करे और मधुर-भाषणादिके द्वारा दूसरेको भी आच्छादित करे, वह निश्चयसे यतः आच्छादन स्वभाववाली है अतः 'स्त्री' इस नामसे वर्णित की गई है ॥१०५॥

पुरुषवेदका स्वरूप—

[2]पुरु गुण भोगे सेदे करेदि लोयम्हि पुरुगुणं कम्मं ।
पुरु +उत्तमो य जम्हा तम्हा सो वण्णिओ पुरिसो[2] ॥१०६॥

जो उत्तम गुण और उत्कृष्ट भोगमें शयन करता है, लोकमें उत्तम गुण और कर्मको करता है, अथवा यतः जो स्वयं उत्तम है, अतः वह 'पुरुष' इस नामसे वर्णित किया गया है ॥१०६॥

नपुंसकवेदका स्वरूप—

[3]णेवित्थी ण य पुरिसो णउंसओ उभयलिंगवदिरित्तो ।
इट्ठावग्गिसमाणो वेदणगरुओ कलुसचित्तो[3] ॥१०७॥

जो भावसे न स्त्रीरूप है और न पुरुषरूप है, तथा द्रव्यकी अपेक्षा जो स्त्रीलिंग और पुरुषलिंगसे रहित है, ईटोंको पकानेवाली अग्निके समान वेदकी प्रबल वेदनासे युक्त है, और सदा कलुषित-चित्त है, उसे नपुंसकवेद जानना चाहिए ॥१०७॥

अपगतवेदी जीवोंका स्वरूप—

[4]करिसतणेट्ठावग्गीसरिसपरिणामवेदणुम्मुक्का ।
अवगयवेदा जीवा सयसंभव×णंतवरसोक्खा[4] ॥१०८॥

जो कारीष अर्थात् कंडेकी अग्नि, तृणकी अग्नि और इष्टपाककी अग्निके समान क्रमशः स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेदरूप परिणामोंके वेदनसे उन्मुक्त हैं और अपनी आत्मामें उत्पन्न हुए श्रेष्ठ अनन्त सुखके धारक या भोक्ता हैं, वे जीव अपगतवेदी कहलाते हैं ॥१०८॥

इस प्रकार वेदमार्गणा समाप्त हुई ।

कषायमार्गणा, कषायका स्वरूप—

[5]सुह-दुक्खं बहुसस्सं कम्मक्खित्तं कसेइ जीवस्स ।
संसारगदी †मेरं तेण कसाओ त्ति णं विंति[5] ॥१०९॥

जो क्रोधादिक जीवके सुख-दुःखरूप बहुत प्रकारके धान्यको उत्पन्न करनेवाले कर्मरूप खेतको कर्षण करते हैं, अर्थात् जोतते हैं और जिनके लिए संसारकी चारों गतियाँ मर्यादा या मेंढ़-रूप हैं, इसलिए उन्हें कषाय कहते हैं ॥१०९॥

---

1. सं० पञ्चसं० १, १९९ । 2. १, २०० । 3. १, २०१ । 4. १, २०२ । 5. १, २०३ ।

१. ध० भा० १ पृ० ३४१ गा० १७० । गो० जी० २७३ । २. ध० भा० १ पृ० ३४१ गा० १७१ । गो० जी० २७२ । ३. ध० भा० १ पृ० ३४२ गा० १७२ । गो० जी० २७४ । ४. ध० भा० १, पृ० ३४२ गा० १७३ । गो० जी० २७५ । ५. ध० भा० १, पृ० १४२ गा० ९० । गो० जी० २८१ ।

*ब वण्णिया । +द ब पुरउत्तिमो । †द -सारं । ×द ब -सणंत ।

कषायोंके भेद और उनके कार्य—

[1]सम्मत्त-देससंजम-संसुद्धीघाइकसाइं पढमाइं ।
तेसिं तु भवे नासे सड्ढाई चउहं† उप्पत्ती ॥११०॥

प्रथमादि अर्थात् अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कषाय क्रमशः सम्यक्त्व, देशसंयम, संकलसंयम और पूर्ण शुद्धिरूप यथाख्यातचारित्रका घात करते हैं। किन्तु उनके नाश होनेपर आत्मामें श्रद्धा अर्थात् सम्यक्त्व आदिक चारों गुणोंकी उत्पत्ति होती है ॥११०॥

क्रोधकषायकी जातियाँ और उनका फल—

[2]सिलभेय पुढविभेया धूलीराई य उदयराइसमा ।
‡णिर-तिरि-णर-देवत्तं उविंति जीवा हु कोहवसा ॥१११॥

अनन्तानुबन्धी क्रोध शिलाभेदके समान है, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध पृथ्वीभेदके समान है, प्रत्याख्यानावरण क्रोध धूलिराजिके समान है और संज्वलनक्रोध उदक अर्थात् जल-राजिके समान है। इन चारों जातिके क्रोधके वशसे जीव क्रमशः नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगतिको प्राप्त होते हैं ॥१११॥

मानकषायकी जातियाँ और उनका फल—

[3]सेलसमो अट्ठिसमो दारुसमो तह य जाण वेत्तसमो ।
×णिर-तिरि-णर-देवत्तं उविंति जीवा हु माणवसा ॥११२॥

अनन्तानुबन्धी मान शैल-समान है, अप्रत्याख्यानावरण मान अस्थि-समान है, प्रत्याख्यानावरण मान दारु अर्थात् काष्ठके समान है और संज्वलन मान वेत्र (बेंत) के समान है। इन चारों जातिके मानके वशसे जीव क्रमशः नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवत्वको प्राप्त होते हैं ॥११२॥

मायाकषायकी जातियाँ और उनका फल—

[4]वंसीमूलं मेसस्स सिंग गोमुत्तियं च खोरुप्पं ।
+णिर-तिरि-णर-देवत्तं उविंति जीवा हु मायवसा ॥११३॥

अनन्तानुबन्धी माया बाँसकी जड़के समान है, अप्रत्याख्यानावरण माया मेषाके सींगके समान है, प्रत्याख्यानावरण माया गोमूत्रके समान है और संज्वलन माया खुरपाके समान है। इन चारों ही जातिके मायाके वशसे जीव क्रमशः नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवत्वको प्राप्त होते हैं ॥११३॥

लोभकषायकी जातियाँ और उनका फल—

[5]किमिराय चक्कमल कद्दमो य तह चेय÷ जाण हारिद्दं ।
*णिर-तिरि-णर-देवत्तं उविंति जीवा हु लोहवसा ॥११४॥

---

1. सं० पञ्चसं० १, २०४–२०५ । 2. १, २०६ । 3. १, २०७ । 4. १, २०८ । 5. १, २०९ ।
† द ब -चउ हुं । ‡ ब णिर । × ब णिर । + ब णिर । ÷ ब चेय । * ब णिर ।

अनन्तानुबन्धीलोभ किरमिजी रंगके समान है, अप्रत्याख्यानावरणलोभ चक्र अर्थात् गाड़ीके पहियेके मलके समान है, प्रत्याख्यानावरणलोभ कर्दम अर्थात् कीचड़के समान है और संज्वलन लोभको हल्दीके रंगके समान जानना चाहिए। इन चारों ही जातिके लोभके वशसे जीव क्रमशः नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवत्वको प्राप्त होते हैं ॥११४॥

चारों जातिके कषायोंके पृथक्-पृथक् कार्यों का वर्णन—

[1]पढमो दंसणघाई विदिओ तह घाइ देसविरइ त्ति।
तइओ संजमघाई चउथो जहखायघाईया ॥११५॥

प्रथम अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यग्दर्शनका घात करती है, द्वितीय अप्रत्याख्यानावरण कषाय देशविरतिकी घातक है। तृतीय प्रत्याख्यानावरण कषाय सकलसंयमकी घातक है और चतुर्थ संज्वलन कषाय यथाख्यातचारित्रकी घातक है ॥११५॥

अकषाय जीवोंका वर्णन—

[2]अप्पपरोभयबाहणबंधासंजमणिमित्तकोहाई।
जेसिं णत्थि कसाया अमला अकसाइणो जीवा[1] ॥११६॥

जिनके अपने आपको, परको और उभयको बाधा देने, बन्ध करने और असंयमके आचरणमें निमित्तभूत क्रोधादि कषाय नहीं हैं, तथा जो बाह्य और आभ्यन्तर मलसे रहित हैं, ऐसे जीवोंको अकषाय जानना चाहिए ॥११६॥

इस प्रकार कषायमार्गणाका वर्णन समाप्त हुआ।

ज्ञानमार्गणा, ज्ञानका स्वरूप—

[3]जाणइ तिकालसहिए* दव्व-गुण-पज्जए बहुब्भेए।
पच्चक्खं च परोक्खं अणेण णाण त्ति† णं विंति[2] ॥११७॥

जिसके द्वारा जीव त्रिकाल-विषयक सर्व द्रव्य, उनके समस्त गुण और उनकी बहुत भेदवाली पर्यायोंको प्रत्यक्ष और परोक्ष रूपसे जानता है, उसे निश्चयसे ज्ञानी जन ज्ञान कहते हैं ॥११७॥

मत्यज्ञानका स्वरूप—

[4]विस-जंत-कूड-पंजर-बंधादिसु‡ अणुवदेसकरणेण।
जा खलु पवत्तइ मई मइअण्णाण त्ति णं विंति[3] ॥११८॥

परोपदेशके विना जो विष, यन्त्र, कूट, पंजर तथा बन्ध आदिके विषयमें बुद्धि प्रवृत्त होती है, उसे ज्ञानी जन मत्यज्ञान कहते हैं ॥११८॥

---

1. सं० पञ्चसं १, २०५। 2. १, २१२। 3. १, २१३। 4. १, २३१ पूर्वार्ध।

१. ध० भा० १ पृ० ३५४, गा० १७८। गो० जी० २८८। २. ध० भा० १ पृ० १४४, गा० ९१। गो० जी० २९८। ३. ध० भा० १ पृ० ३५८, गा० १७९। गो० जी० ३०२।

* 'अणेण जीवो' इति मूलप्रतौ पाठः। † द त्तणं, ब त्तम। ‡ प्रतिषु 'बद्धादिसु' इति पाठः।

श्रुताज्ञानका स्वरूप—

[1]आभीयमासुरक्खा भारह-रामायणादि-उवएसा ।
तुच्छा असाहणीया सुयअण्णाण त्ति णं* विंति[1] ॥११९॥

चौरशास्त्र, हिंसाशास्त्र तथा महाभारत, रामायण आदिके तुच्छ और परमार्थ-शून्य होनेसे साधन करनेके अयोग्य उपदेशोंको ऋषिगण श्रुताज्ञान कहते हैं ॥११९॥

कुअवधि या विभंगज्ञानका स्वरूप—

[2]विवरीयओहिणाणं खओवसमियं च कम्मबीजं च ।
वेभंगो त्ति य वुच्चइ समत्तणाणीहिं समयम्हि[2] ॥१२०॥

जो क्षायोपशमिक अवधिज्ञान मिथ्यात्वसे संयुक्त होनेके कारण विपरीत स्वरूप है, और नवीन कर्मका बीज है, उसे समाप्त अर्थात् जिनका ज्ञान सम्पूर्णताको प्राप्त है ऐसे ज्ञानियोंके द्वारा उपदिष्ट आगममें कुअवधि या विभंगज्ञान कहा है ॥१२०॥

आभिनिबोधिक या मतिज्ञानका स्वरूप—

[3]अहिमुहणियमियबोहणमाभिणिबोहियमणिंदि-इंदियजं ।
बहुउग्गहाइणा खलु कयछत्तीसा तिसयभेयं[3] ॥१२१॥

अनिन्द्रिय अर्थात् मन और इन्द्रियोंकी सहायतासे उत्पन्न होनेवाले, अभिमुख और नियमित पदार्थके बोधको आभिनिबोधिक ज्ञान कहते हैं। उसके बहु आदिक बारह प्रकारके पदार्थोंकी और अवग्रह आदिकी अपेक्षा तीन सौ छत्तीस भेद होते हैं ॥१२१॥

श्रुतज्ञानका स्वरूप—

[4]अत्थाओ अत्थंतरउवलंभे तं भणंति सुयणाणं ।
आहिणिबोहियपुव्वं णियमेण य सद्दयं मूलं[4] ॥१२२॥

मतिज्ञानसे जाने हुए पदार्थके अवलम्बनसे तत्सम्बन्धी दूसरे पदार्थका जो उपलम्भ अर्थात् ज्ञान होता है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान नियमसे आभिनिबोधिकज्ञान-पूर्वक होता है। (इसके अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक अथवा शब्दजन्य और लिंगजन्य, इस प्रकार दो भेद हैं)। उनमें अक्षरात्मक श्रुतज्ञानका मूल कारण शब्द-समूह है ॥१२२॥

अवधिज्ञानका स्वरूप—

[5]अवहीयदि त्ति ओही सीमाणाणेत्ति वण्णियं समए ।
भव-गुणपच्चयविहियं तमोहिणाण त्ति †णं विंति[5] ॥१२३॥

---

1. सं० पञ्चसं० १, २३१ उत्तरार्ध । 2. १, २३२ । 3. १, २१४ । 4. १, २१७-२१८ । 5. १, २२०-२२१ ।

१. ध० भा० १ पृ० ३५८, गा० १८० । गो० जी० ३०३ । २. ध० भा० १ पृ० ३५९, गा० १८१ । गो० जी० ३०४ । ३. ध० भा० १ पृ० ३५९, गा० १८२ । गो० जी० ३०५, परं तत्रोत्तरार्धे 'अवग्गहईहावायाधारणगा होंति पत्तेयं' इति पाठः । ४. ध० भा० १ पृ० ३५९, गा० १८३ । गो० जी० ३१४ । ५. ध० भा० १ पृ० ३५९, गा० १८४ । गो० जी० ३६९ ।

* द -णत्तणं । † द -णाणेत्ति ।

जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा अवधि अर्थात् सीमासे युक्त अपने विषयभूत पदार्थको जाने, उसे अवधिज्ञान कहते हैं, सीमासे युक्त जाननेके कारण परमागममें इसे सीमाज्ञान कहा है। यह भवप्रत्यय और गुणप्रत्ययके द्वारा उत्पन्न होता है, ऐसा ज्ञानी जन कहते हैं ॥१२३॥

अवधिज्ञानके भेदोंका वर्णन—

[1]अणुगो अणाणुगामी× तेत्तियमेत्तो य अप्पबहुगोऽयं ।
वड्ढइ कमेण हीयइ ओही जाणाहि छब्भेओ ॥१२४॥

अनुगामी, अननुगामी, तावन्मात्र अर्थात् अवस्थित, अल्प-बहुत अर्थात् अनवस्थित, क्रमसे बढ़नेवाला अर्थात् वर्द्धमान और क्रमसे हीन होनेवाला अर्थात् हीयमान, इस प्रकार अवधिज्ञान छह भेदरूप जानना चाहिए ॥१२४॥

मनःपर्ययज्ञानका स्वरूप—

[2]चिंतियमचिंतियं* वा अद्धं‡ चिंतिय अणेयभेयगयं ।
मणपज्जव त्ति णाणं जं जाणइ तं तु णरलोए[1] ॥१२५॥

जो चिन्तित अर्थात् भूतकालमें विचारित, अचिन्तित अर्थात् अतीतमें अविचारित किन्तु भविष्यमें विचार्यमाण, और अर्धचिन्तित इत्यादि अनेक भेदरूप दूसरेके मनमें अवस्थित पदार्थको नरलोक अर्थात् पैंतालीस लाख योजनरूप मनुष्यक्षेत्रमें जानता है, वह मनःपर्ययज्ञान कहलाता है ॥१२५॥

केवलज्ञानका स्वरूप—

[3]संपुण्णं तु समग्गं केवलमसपत्त† सव्वभावगयं ।
लोयालोयवितिमिरं केवलणाणं मुणेयव्वं[2] ॥१२६॥

जो जीवद्रव्यके शक्ति-गत ज्ञानके सर्व अविभागप्रतिच्छेदोंके व्यक्त हो जानेसे सम्पूर्ण है, ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्मके सर्वथा क्षय हो जानेसे अप्रतिहतशक्ति है, अतएव समग्र है, जो केवल अर्थात् इन्द्रिय और मनकी सहायतासे रहित है, असपत्न अर्थात् प्रतिपक्षसे रहित है, युगपत् सर्व भावोंको जाननेवाला है, लोक और अलोकमें अज्ञानरूप तिमिर (अन्धकार)से रहित है, अर्थात् सर्व-व्यापक और सर्व-ज्ञायक है, उसे केवलज्ञान जानना चाहिए ॥१२६॥

इस प्रकार ज्ञानमार्गणाका वर्णन समाप्त हुआ ।

संयममार्गणा, द्रव्यसंयमका स्वरूप—

[4]वय-समिदि-कसायाणं दंडाणं इंदियाण पंचण्हं ।
धारण-पालण-णिग्गह-चाय-जओ संजमो भणिओ[3] ॥१२७॥

अहिंसादि पाँच महाव्रतोंका धारण करना, ईर्यादि पाँच समितियोंका पालन करना, क्रोधादि चारों कषायोंका निग्रह करना, मन, वचन, कायरूप तीन दण्डोंका त्याग करना और पाँचों इन्द्रियोंका जीतना सो द्रव्यसंयम कहा गया है ॥१२७॥

---

1. सं० पञ्चसं० १, २२२ । 2. १, २२७–२२८ । 3. १, २२६ । 4. १, २३८ ।

१. ध० भा० १ पृ० ३६०, गा० १८५ । गो० जी० ४३७ । २. ध० भा० १ पृ० ३६०, गा० १८६ । गो० जी० ४५१ । ३. ध० भा० १ पृ० १४५, गा० ९२ । गो० जी० ४६४ ।

× द ब -णाणुगामी य ‡ अत्थं चिंता । † ब -वत्त, द -वण्ण ।

भावसंयमका स्वरूप—

सगवण्ण जीवहिंसा अट्ठावीसिंदियत्थदोसा य ।
तेहिंतो जो विरओ* भावो सो संजमो भणिओ ॥१२८॥

पहले जीवसमासोंमें जो सत्तावन प्रकारके जीव बता आये हैं, उनकी हिंसासे उपरत होना, तथा अट्ठाईस प्रकारके इन्द्रिय-विषयोंके दोषोंसे विरत होना, सो भावसंयम कहा गया है ॥१२८॥

सामायिकसंयमका स्वरूप—

[1]संगहियसयलसंजममेयजममणुत्तरं दुरवगम्मं ।
जीवो समुव्वहंतो सामाइयसंजदो होइ[1] ॥१२९॥

जिसमें सकल संयम संगृहीत हैं, ऐसे सर्व सावद्यके त्यागरूप एकमात्र अनुत्तर एवं दुरवगम्य अभेद-संयमको धारण करना सो सामायिकसंयम है, और उसे धारण करने वाला सामायिक-संयत कहलाता है ॥१२९॥

छेदोपस्थापनासंयमका स्वरूप—

[2]छेत्तूण य परियायं पोराणं जो ठवेइ अप्पाणं ।
पंचजमे धम्मे सो छेदोवट्ठावगो जीवो[2] ॥१३०॥

सावद्य व्यापाररूप पुरानी पर्यायको छेद कर अहिंसादि पाँच प्रकारके यमरूप धर्ममें अपनी आत्माको स्थापित करना छेदोपस्थापनासंयम है, और उसका धारक जीव छेदोपस्थापक-संयत कहलाता है ॥१३०॥

परिहारविशुद्धिसंयमका स्वरूप—

[3]पंचसमिदो तिगुत्तो परिहरइ सया वि जो हु सावज्जं ।
पंचजमेयजमो† वा परिहारयसंजदो साहू[3] ॥१३१॥

पाँच समिति और तीन गुप्तियोंसे युक्त होकर सदा ही सर्व सावद्य योगका परिहार करना तथा पाँच यमरूप भेद-संयम (छेदोपस्थापना) को, अथवा एक यमरूप अभेद-संयम (सामायिक) को धारण करना परिहार विशुद्धि संयम है, और उसका धारक साधु परिहार-विशुद्धिसंयत कहलाता है ॥१३१॥

सूक्ष्मसाम्परायसंयमका स्वरूप—

[4]अणुलोहं वेयंतो जीओ उवसामगो व खवगो वा ।
सो सुहुमसंपराओ जहखाएणूणओ किंचि[4] ॥१३२॥

मोहकर्मका उपशमन या क्षपण करते हुए सूक्ष्म लोभका वेदन करना सूक्ष्मसाम्परायसंयम है और उसका धारक सूक्ष्मसाम्परायसंयत कहलाता है। यह संयम यथाख्यातसंयमसे कुछ ही कम होता है। (क्योंकि सूक्ष्मसाम्परायसंयम दशवें गुणस्थानमें होता है और यथाख्यातसंयम ग्यारहवें गुणस्थानसे प्रारम्भ होता है) ॥१३२॥

---

1. सं० पञ्चसं० १, २३९ । 2. १, २४० । 3. १, २४१ । 4. १, २४२ ।

१. ध० भा० १ पृ० ३७२, गा० १८७ । गो० जी० ४६९ । २. ध० भा० १ पृ० ३७२, गा० १८८ । गो० जी० ४७० । ३. ध० भा० १ पृ० ३७२, गा० १८९ । गो० जी० ४७१ । ४. ध० भा० १ पृ० ३७३, गा० १९० । गो० जी० ४७३ ।

* द -विरउ । † द ब -संजमो ।

यथाख्यातसंयमका स्वरूप—

[1]उवसंते खीणे वा असुहे कम्मम्हि मोहणीयम्हि ।
छदुमत्थो व जिणो वा ※जहखाओ संजओ साहू[1] ॥१३३॥

अशुभ (पाप) रूप मोहनीय कर्मके उपशान्त अथवा क्षीण हो जानेपर जो वीतराग संयम होता है, उसे यथाख्यातसंयम कहते हैं। उसके धारक ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थानवर्ती छद्मस्थ साधु और तेरहवें-चौदहवें गुणस्थानवर्ती केवली जिन यथाख्यातसंयत कहलाते हैं ॥१३३॥

संयमासंयमका सामान्य स्वरूप—

[2]जो ण विरदो दु भावो थावरवह-इंदियत्थदोसाओ ।
तसवहविरओ ‡सोच्चिय संजमासंजमो दिट्ठो ॥१३४॥

भावोंसे स्थावर-वध और पाँचों इन्द्रियोंके विषय-सम्बन्धी दोषोंसे विरत नहीं होने, किन्तु त्रस-वधसे विरत होनेको संयमासंयम कहते हैं और उनका धारक जीव नियमसे संयमासंयमी कहा गया है ॥१३४॥

संयमासंयमका विशेष स्वरूप—

पंच-तिय-चउविहेहिं अणु-गुण-सिक्खावएहिं संजुत्ता ।
वुच्चंति देसविरया सम्माइट्ठी झडियकम्मा[2] ॥१३५॥

पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंसे संयुक्त होना विशिष्ट संयमासंयम है। उसके धारक और असंख्यातगुणश्रेणीरूप निर्जराके द्वारा कर्मोंके झड़ानेवाले ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव देशविरत या संयतासंयत कहलाते हैं ॥१३५॥

देशविरतके भेद—

दंसण-वय-सामाइय पोसह सचित्त राइभत्ते य ।
बंभारंभपरिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ देसविरदेदे[3] ॥१३६॥

दार्शनिक, व्रतिक, सामयिकी, प्रोषधोपवासी, सचित्तविरत, रात्रिभुक्तिविरत, ब्रह्मचारी, आरम्भविरत, परिग्रहविरत, अनुमतिविरत और उद्दिष्टविरत ये देशविरतके ग्यारह भेद होते हैं ॥१३६॥

असंयमका स्वरूप—

[3]जीवा चउदसभेया इंदियविसया य अट्ठवीसं तु ।
जे तेसु णेय विरया असंजया ते मुणेयव्वा[4] ॥१३७॥

जीव चौदह भेद रूप हैं और इन्द्रियोंके विषय अट्ठाईस हैं। जीवघातसे और इन्द्रिय-विषयोंसे विरत नहीं होनेको असंयम कहते हैं। जो इनसे विरत नहीं हैं, उन्हें असंयत जानना चाहिए ॥१३७॥

इस प्रकार संयममार्गणाका वर्णन समाप्त हुआ

---

1. सं० पञ्चसं० १, २४३। 2. १, २४६। 3. १, २४७-२४८।

१. ध० भा० १ पृ० ३७३, गा० १९१। गो० जी० ४७४। परन्तूभयत्रापि 'सो दु' तथा 'सो हु' इति पाठः। २. ध० भा० १ पृ० ३७३, गा० १९२। गो० जी० ४७५। ३. ध० भा० १ पृ० ३७३, गा० १९३। गो० जी० ४७६। ४. ध० भा० १ पृ० ३७३, गा० १९४। गो० जी० ४७७।

※ द -खाउ। ‡ ब सुच्चिय, द सुच्चिय।

दर्शनमार्गणा, दर्शनका स्वरूप—

[1]जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टु आयारं।
अविसेसिऊण अत्थे दंसणमिदि भण्णदे समए[१] ॥१३८॥

सामान्य-विशेषात्मक पदार्थोंके आकार-विशेषको ग्रहण न करके जो केवल निर्विकल्परूपसे अंशका या स्वरूपमात्रका सामान्य ग्रहण होता है, उसे परमागममें दर्शन कहा गया है ॥१३८॥

चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शनका स्वरूप—

[2]चक्खूण जं पयासइ दीसइ तं चक्खुदंसणं विंति।
सेसिंदियप्पयासो णायव्वो सो अचक्खु त्ति[२] ॥१३९॥

चक्षुरिन्द्रियके द्वारा जो पदार्थका सामान्य अंश प्रकाशित होता है, अथवा दिखाई देता है, उसे चक्षुदर्शन कहते हैं। शेष चार इन्द्रियोंसे और मनसे जो सामान्य-प्रतिभास होता है, उसे अचक्षुदर्शन जानना चाहिए ॥१३९॥

अवधिदर्शनका स्वरूप—

[3]परमाणुआदियाइं अंतिमखंध *त्ति मुत्तदव्वाइं।
तं ओहिदंसणं पुण जं पस्सइ ताइं पच्चक्खं[३] ॥१४०॥

सर्व-लघु परमाणुसे आदि लेकर सर्व-महान् अन्तिम स्कन्ध तक जितने मूर्त्त द्रव्य हैं, उन्हें जो प्रत्यक्ष देखता है, उसे अवधिदर्शन कहते हैं ॥१४०॥

केवलदर्शनका स्वरूप—

[4]बहुविह बहुप्पयारा उज्जोवा परिमियम्हि खेत्तम्हि।
लोयालोयवितिमिरो सो† केवलदंसणुज्जोवो[४] ॥१४१॥

बहुत जातिके और बहुत प्रकारके चन्द्र-सूर्यादिके उद्योत (प्रकाश) तो परिमित क्षेत्रमें ही पाये जाते हैं, अर्थात् वे थोड़ेसे ही पदार्थोंको अल्प परिमाणमें प्रकाशित करते हैं। किन्तु जो केवलदर्शनरूप उद्योत है, वह लोकको और अलोकको भी प्रकाशित करता है, अर्थात् सर्व चराचर जगत्को स्पष्ट देखता है ॥१४१॥

इस प्रकार दर्शनमार्गणाका वर्णन समाप्त हुआ।

लेश्यामार्गणा, लेश्याका स्वरूप—

लिप्पइ अप्पीकीरइ एयाए णियय पुण्ण पावं च।
जीवो त्ति होइ लेसा लेसागुणजाणयक्खाया[५] ॥१४२॥

---

1. सं० पञ्चसं० १, २४९ । 2. १, २५० । 3. १, २५१ (पूर्वार्ध) । 4. १, २५१ (उत्तरार्ध)।

१. ध० भा० १ पृ० १४९, गा० ९३ । गो० जी० ४८१ । २. ध० भा० १ पृ० ३८२, गा० १९५ । गो० जी० ४८३ । ३. ध० भा० १ पृ० ३८२, गा० १९६ । गो० जी० ४८४ । ४. ध० भा० १ पृ० ३८२, गा० १९७ । गो० जी० ४८५ । ५. ध० भा० १ पृ० १५०, गा० ९४ । गो० जी० ४८८, परं तत्र द्वितीय-चरणे 'णियअपुण्णपुण्णं च' इति पाठः।

* ब त्त । † द तं।

जिसके द्वारा जीव पुण्य और पापसे अपने आपको लिप्त करता है अर्थात् उनके आधीन होता है, ऐसी कषायानुरंजित योगकी प्रवृत्तिको लेश्याके गुण-स्वरूपादिके जाननेवाले गणधरोंने लेश्या कहा है ॥१४२॥

लेश्याके स्वरूपका दृष्टान्त-द्वारा स्पष्टीकरण—

जह× गेरुवेण कुड्डो लिप्पइ लेवेण आमपिट्ठेण ।
तह परिणामो लिप्पइ सुहासुहा य त्ति लेवेण ॥१४३॥

जिस प्रकार आमपिष्ट (दालकी पिट्ठी या तैलादि) से मिश्रित गेरू मिट्टीके लेप-द्वारा भित्ती (दीवाल) लीपी या रंगी जाती है, उसी प्रकार शुभ और अशुभ भावरूप लेपके द्वारा जो आत्माका परिणाम लिप्त किया जाता है उसे लेश्या कहते हैं ॥१४३॥

कृष्णलेश्याका लक्षण—

[1]चंडो ण मुयइ वेरं भंडणसीलो य धम्मदयरहिओ ।
दुट्ठो ण य एइ वसं लक्खणमेयं तु किण्हस्स[1] ॥१४४॥

जो प्रचण्ड-स्वभावी हो, वैरको न छोड़े, भंडनशील या कलहस्वभावी हो, धर्म और दयासे रहित हो, दुष्ट हो, और जो किसीके भी वशमें न आवे, ये सब कृष्णलेश्यावालेके लक्षण हैं ॥१४४॥

नीललेश्याका लक्षण—

[2]मंदो बुद्धिविहीणो णिव्विण्णाणी य विसयलोलो य ।
माणी माई य तहा आलस्सो चेव* भेज्जो† य ॥१४५॥
णिद्दावंचणबहुलो धण-धण्णे होइ तिव्वसण्णाओ ।
लक्खणमेयं भणियं समासओ णीललेसस्स[2] ॥१४६॥

जो कार्य करनेमें मन्द-उद्यमी एवं स्वच्छन्द हो, बुद्धि-विहीन हो, कला और चातुर्यरूप विशेष ज्ञानसे रहित हो, इन्द्रियोंके विषयोंका लोलुपी हो, मानी हो, मायाचारी हो, आलसी हो, अभेद्य-स्वभावी हो, अर्थात् दूसरे लोग जिसके अभिप्रायको प्रयत्न करने पर भी न जान सकें, बहुत निद्रालु हो, पर-वंचनमें अतिदक्ष हो, और धन-धान्यके संग्रहादिमें तीव्र लालसावाला हो, ये सब संक्षेपसे नीललेश्यावालेके लक्षण कहे गये हैं ॥१४५-१४६॥

कापोतलेश्याका लक्षण—

[3]रूसइ णिंदइ अण्णे दूसणबहुलो य सोय-भयबहुलो ।
असुवइ परिभवइ परं ‡पसंसइ य अप्पयं बहुसो ॥१४७॥
ण य पत्तियइ परं सो अप्पाणं पिव परं पि मण्णंतो ।
तूसइ अइथुव्वंतो ण य जाणइ हाणि-वड्ढीओ[3] ॥१४८॥

---

1. सं० पञ्चसं० १, २७२–२७३ । 2. १, २७४–२७५ । 3. १, २७६–२७७ ।

१. ध० भा० १ पृ० ३८६, गा० २०० । गो० जी० ५०८ । २. ध० भा० १ पृ० ३८८–३८९, गा० २०१–२०२ । गो० जी० ५०९–५१० । ३. ध० भा० १ पृ० ३८९, गा० २०३–२०४ । गो० जी० ५११–५१२ ।

× द ब जिह । * ब -चेव । † 'भीरु' इति मूलपाठः । ‡ द -पासं ।

[1]मरणं पत्थेइ रणे देइ सु बहुयं पि थुव्वमाणो हु ।
ण गणइ कज्जाकज्जं लक्खणमेयं तु काउस्स[1] ॥१४६॥

जो दूसरोंके ऊपर रोष करता हो, दूसरोंकी निन्दा करता हो, दूषण-बहुल हो, शोक-बहुल हो, भय-बहुल हो, दूसरेसे ईर्ष्या करता हो, परका पराभव करता हो, नानाप्रकारसे अपनी प्रशंसा करता हो, परका विश्वास न करता हो, अपने समान दूसरेको भी मानता हो, स्तुति किये जाने पर अति संतुष्ट हो, अपनी हानि और वृद्धि [लाभ] को न जानता हो, रणमें मरणका इच्छुक हो, स्तुति या प्रशंसा किये जाने पर बहुत धनादिक देवे और कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यको कुछ भी न गिनता हो; ये सब कापोतलेश्यावालेके लक्षण हैं ॥१४७–१४६॥

तेजोलेश्याका लक्षण—

[2]जाणइ कज्जाकज्जं सेयासेयं च सव्वसमपासी ।
दय-दाणरदो य विदू लक्खणमेयं तु तेउस्स[2] ॥१५०॥

जो अपने कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य और सेव्य-असेव्यको जानता हो, सबमें समदर्शी हो, दया और दानमें रत हो, मृदु-स्वभावी और ज्ञानी हो, ये सब तेजोलेश्यावालेके लक्षण हैं ॥१५०॥

पद्मलेश्याका लक्षण—

[3]चाई भद्दो चोक्खो उज्जुयकम्मो य खमइ बहुयं पि ।
साहुगुणपूयणिरओ लक्खणमेयं तु पउमस्स[3] ॥१५१॥

जो त्यागी हो, भद्र (भला) हो, चोखा (सच्चा) हो, उत्तम कार्य करनेवाला हो, बहुत भी अपराध या हानि होने पर क्षमा कर दे, साधुजनोंके गुणोंकी पूजनमें निरत हो, ये सब पद्मलेश्यावालेके लक्षण हैं ॥१५१॥

शुक्ललेश्याका लक्षण—

[4]ण कुणेइं पक्खवायं ण वि य णिदाणं समो य सव्वेसु ।
णत्थि य राओ दोसो णेहो वि हु सुक्कलेसस्स[4] ॥१५२॥

जो पक्षपात न करता हो, और न निदान करता हो; सबमें समान व्यवहार करता हो, जिसे परमें राग न हो, द्वेष न हो और स्नेह भी न हो; ये सब शुक्ललेश्यावालेके लक्षण हैं ॥१५२॥

अलेश्य जीवोंका स्वरूप—

[5]किण्हाइलेसरहिया संसारविणिग्गया अणंतसुहा ।
सिद्धिपुरीसंपत्ता अलेसिया ते मुणेयव्वा[5] ॥१५३॥

---

1. सं० पञ्चसं० १, २७८ । 2. १, २७६ । 3. १, २८० । 4. १, २८१ । 5. १, २८३ ।

१. ध० भा० १ पृ० ३८६, गा० २०५ । गो० जी० ५१३ । २. ध० भा० १ पृ० ३८६, गा० २०६ । गो० जी० ५१४ । परन्तूभयत्रापि 'मिदू' इति पाठः । ३. ध० भा० १ पृ० ३६०, गा० २०७ । गो० जी० ५१५ । ४. ध० भा० १ पृ० ३६०, गा० २०८ । गो० जी० ५१६ । ५. धवला, भा० १ पृ० ३६०, गा० २०६ । गो० जी० ५५५ ।

जो कृष्णादि छहों लेश्याओंसे रहित हैं, पंच परिवर्त्तनरूप संसारसे विनिर्गत हैं, अनन्त-सुखी हैं, और आत्मोपलब्धिरूप सिद्धिपुरीको संप्राप्त हैं, ऐसे अयोगिकेवली और सिद्ध जीवोंको अलेश्य जानना चाहिए। ॥१५३॥

इस प्रकार लेश्यामार्गणाका वर्णन समाप्त हुआ।

भव्यमार्गणा, भव्यसिद्धका स्वरूप—

[1]सिद्धत्तणस्स जोग्गा जे जीवा ते भवंति भवसिद्धा।
ण उ मलविगमे णियमा ताणं कणकोपलाणमिव[1] ॥१५४॥

जो जीव सिद्धत्व अर्थात् सर्व कर्मसे रहित मुक्तिरूप अवस्था पानेके योग्य हैं, वे भव्य-सिद्ध कहलाते हैं। किन्तु उनके कनकोपल (स्वर्ण-पाषाण) के समान मलका नाश होनेमें नियम नहीं है ॥१५४॥

विशेषार्थ—भव्यसिद्ध जीव दो प्रकारके होते हैं—एक वे, जो कि सिद्ध-अवस्था प्राप्त कर लेते हैं, और एक वे, जो कभी सिद्ध-अवस्था प्राप्त नहीं कर सकते। जो भव्य होते हुए भी सिद्ध-अवस्थाको प्राप्त नहीं कर सकते हैं, उनके लिए स्वर्ण-पाषाणका दृष्टान्त ग्रन्थकारने दिया है। जिसप्रकार किसी स्वर्ण-पाषाणमें सोना रहते हुए भी उसको पृथक् किया जाना संभव नहीं है, उसी प्रकार सिद्धत्वकी योग्यता होते हुए कितने ही जीव तदनुकूल सामग्रीके नहीं मिलनेसे सिद्ध अवस्था नहीं प्राप्त कर पाते।

भव्य और अभव्य जीवोंका निरूपण—

[2]संखेज असंखेजा अणंतकालेण चावि ते णियमा।
सिज्झंति भव्वजीवा अभव्वजीवा ण सिज्झंति ॥१५५॥
भविया *सिद्धी जेसिं जीवाणं ते भवंति भवसिद्धा।
तव्विवरीयाऽभव्वा संसाराओ ण सिज्झंति[2] ॥१५६॥

जो भव्य जीव हैं, वे नियमसे संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्तकालके द्वारा सिद्धपद-प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु अभव्य जीव कभी भी सिद्ध-पद प्राप्त नहीं कर पाते हैं। जिन जीवोंकी मुक्तिपद-प्राप्तिरूप सिद्धि होनेवाली है, अथवा जो उसकी प्राप्तिके योग्य हैं, उन्हें भव्यसिद्ध कहते हैं। जो इनसे विपरीत स्वरूपवाले हैं, वे अभव्य कहलाते हैं और वे कभी संसारसे छूटकर सिद्ध नहीं होते हैं ॥१५५-१५६॥

भव्यत्व और अभव्यत्वसे रहित जीवोंका वर्णन—

[3]ण य जे भव्वाभव्वा मुत्तिसुहा होंति तीदसंसारा।
ते जीवा णायव्वा णो भव्वा णो अभव्वा य[3] ॥१५७॥

जो न भव्य हैं और न अभव्य हैं, किन्तु जिन्होंने मुक्ति-सुखको प्राप्त कर लिया है और अतीत-संसार हैं, अर्थात् पंचपरिवर्तनरूप संसारको पार कर चुके हैं, उन जीवोंको 'नो भव्य नो अभव्य' जानना चाहिए ॥१५७॥

इस प्रकार भव्यमार्गणाका वर्णन समाप्त हुआ।

---

1. सं० पञ्चसं० १, २८३ । 2. १, २८४ । 3. १, २८५ ।

१. ध० भा० १ पृ० १५०, गो० जी० ५५७, परं तत्र 'सिद्धत्तणस्य' स्थाने 'भव्वत्तणस्य' इति पाठः । २. ध० भा० १ पृ० ३९४, गो० जी० ५५६ । ३. गो० जी० ५५८ ।

* ब सिद्धि ।

सम्यक्त्वमार्गणा, जीव सम्यक्त्वको कब प्राप्त करता है, इस बातका निरूपण—

[1]भव्वो पंचिंदिओ सण्णी जीवो पज्जत्तओ तहा।
काललद्धाइ-संजुत्तो सम्मत्तं पडिवज्जए ॥१५८॥

जो भव्य हो, पंचेन्द्रिय हो, संज्ञी हो, पर्याप्तक हो, तथा काललब्धि आदिसे संयुक्त हो, ऐसा जीव सम्यक्त्वको प्राप्त करता है। [यहाँ पर आदि पदसे वेदनाभिभव, जातिस्मरण आदि बाह्य कारण विवक्षित हैं। संस्कृत पञ्चसंग्रह] ॥१५८॥

सम्यक्त्वका स्वरूप—

[2]छप्पंचणवविहाणं अत्थाणं जिणवरोवइट्ठाणं।
आणाए अहिगमेण य सद्दहणं होइ सम्मत्तं[1] ॥१५९॥

जिनवरोंके द्वारा उपदिष्ट छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय और नौ प्रकारके पदार्थोंका आज्ञा या अधिगमसे श्रद्धान करना सम्यक्त्व है ॥१५९॥

क्षायिकसम्यक्त्वका स्वरूप—

खीणे दंसणमोहे जं सद्दहणं सुणिम्मलं होइ।
तं खाइयसम्मत्तं णिच्चं कम्मक्खवणहेउं[2] ॥१६०॥
[3]वयणेहिं वि* हेऊहि य इंदियभयजणणगेहिं रूवेहिं।
वीभच्छ-दुगुंछेहि य णो तेल्लोकेण चालिज्जा[3] ॥१६१॥
एवं विउला बुद्धी ण य †विंभयमेदि किंचि दट्ठूणं।
पट्ठविए सम्मत्ते खइए जीवस्स लद्धीए ॥१६२॥

दर्शनमोहनीय कर्मके सर्वथा क्षय हो जाने पर जो निर्मल श्रद्धान होता है, उसे क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं। वह सम्यक्त्व नित्य है, अर्थात् होकरके फिर कभी छूटता नहीं है और सिद्धपद प्राप्त करने तक शेष कर्मोंके क्षपणका कारण है। यह क्षायिकसम्यक्त्व श्रद्धानको भ्रष्ट करनेवाले वचनोंसे, तर्कोंसे, इन्द्रियोंको भय उत्पन्न करनेवाले रूपों [आकारों] से तथा वीभत्स और जुगुप्सित पदार्थोंसे भी चलायमान नहीं होता। अधिक क्या कहा जाय, वह त्रैलोक्यके द्वारा भी चल-विचल नहीं होता। क्षायिकसम्यक्त्वके प्रस्थापन अर्थात् प्रारम्भ होने पर अथवा लब्धि अर्थात् प्राप्ति या निष्ठापन होने पर क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीवके ऐसी विशाल, गम्भीर एवं दृढ़ बुद्धि उत्पन्न हो जाती है कि वह कुछ (असंभव या अनहोनी घटनाएँ) देखकर भी विस्मय या क्षोभको प्राप्त नहीं होता ॥१६०–१६२॥

वेदकसम्यक्त्वका स्वरूप—

बुद्धी सुहाणुबंधी सुहकम्मरओ सुए य संवेगो।
तच्चत्थे सद्दहणं पियधम्मे‡ तिव्वणिव्वेदो ॥१६३॥

---

1. सं० पञ्चसं० १, २८९। 2. १, २९०। 3. १, २९३।

१. ध० भा० १ पृ० ३९५, गो० जी० ५६०। २. ध० भा० १ पृ० ३९५, गो० जी० ६४५। ३. ध० भा० १ पृ० ३९५, गो० जी० ६४६।

* ब वि। † ब -विम्मय। ‡ ब द धम्मो।

इच्चेवमाइया जे वेदयमाणस्स होंति ते य गुणा।
वेदयसम्मत्तमिणं सम्मत्तुदएण जीवस्स ॥१६४॥

वेदकसम्यक्त्वके उत्पन्न होने पर जीवकी बुद्धि शुभानुबन्धी या सुखानुबन्धी हो जाती है, शुचि कर्ममें रति उत्पन्न होती है, श्रुतमें संवेग अर्थात् प्रीति पैदा होती है, तत्त्वार्थमें श्रद्धान, प्रिय धर्ममें अनुराग, एवं संसारसे तीव्र निर्वेद अर्थात् वैराग्य जागृत हो जाता है। इन गुणोंको आदि लेकर इस प्रकारके जितने गुण हैं, वे सब वेदकसम्यक्त्वी जीवके प्रगट हो जाते हैं। सम्यक्त्वप्रकृतिके उदयका वेदन करनेवाले जीवको वेदकसम्यक्त्वी जानना चाहिए ॥१६३-१६४॥

उपशमसम्यक्त्वका स्वरूप—

देवे अणण्णभावो विसयविरागो य तच्चसद्दहणं।
दिट्ठीसु असम्मोहो सम्मत्तमणूणयं जाणे ॥१६५॥

दंसणमोहस्सुदए उवसंते सच्चभावसद्दहणं।
उवसमसम्मत्तमिणं पसण्णकलुसं जहा तोयं ॥१६६॥

उपशमसम्यक्त्वके होने पर जीवके सत्यार्थ देवमें अनन्य भक्तिभाव, विषयोंसे विराग, तत्त्वोंका श्रद्धान और विविध मिथ्या दृष्टियों (मतों) में असम्मोह प्रगट होता है, इसे क्षायिक-सम्यक्त्वसे कुछ भी कम नहीं जानना चाहिए। जिस प्रकार पंकादि-जनित कालुष्यके प्रशान्त होने पर जल निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार दर्शनमोहके उदयके उपशान्त होनेपर जो सत्यार्थ श्रद्धान उत्पन्न होता है उसे उपशमसम्यक्त्व कहते हैं ॥१६५-१६६॥

तीनों सम्यक्त्वोंका गुणस्थानोंमें विभाजन—

[1]खाइयमसंजयाइसु वेदयसम्मत्तमप्पमत्तंते।
उवसमसम्मत्तं पुण *उवसंततेसु णायव्वं ॥१६७॥

क्षायिकसम्यक्त्व असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानसे लेकर उपरिम सर्व गुणस्थानोंमें होता है। वेदकसम्यक्त्व अप्रमत्तसंयतगुणस्थान तक होता है और उपशमसम्यक्त्व उपशान्तमोह गुणस्थानान्त जानना चाहिए ॥१६७॥

सासादनसम्यक्त्वका स्वरूप—

[2]ण य मिच्छत्तं पत्तो सम्मत्तादो य जो हु परिवडिओ।
सो सासणो त्ति णेओ सादियपरिणामिओ भावो[1] ॥१६८॥

उपशमसम्यक्त्वसे परिपतित होकर जीव जब तक मिथ्यात्वको प्राप्त नहीं हुआ है, तब तक उसे सासादनसम्यग्दृष्टि जानना चाहिए। इसके सादि पारिणामिक भाव होता है ॥१६८॥

---

1. सं० पञ्चसं० २१८। 2. १, ३०२।

१. गो० जी० ६५३, परं तत्र चतुर्थचरणे 'पंचमभावेण संजुत्तो' इति पाठः।

* द ते -मुणेयव्वं।

सम्यग्मिथ्यात्वका स्वरूप—

[1]सद्दहणासद्दहणं जस्स य जीवेसु होइ तच्चेसु ।
विरयाविरएण समो सम्मामिच्छो त्ति णायव्वो[1] ॥१६९॥

जिसके उदयसे जीवोंके तत्त्वोंमें श्रद्धान और अश्रद्धान युगपत् प्रगट हो, उसे विरता-विरतके समान सम्यग्मिथ्यात्व जानना चाहिए ॥१६९॥

मिथ्यात्वका स्वरूप—

[2]मिच्छादिट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहइ ।
सद्दहइ असब्भावं उवइट्ठं अणुवइट्ठं वा[2] ॥१७०॥

मिथ्यात्वकर्मके उदयसे मिथ्यादृष्टि जीव जिन-उपदिष्ट प्रवचनका तो श्रद्धान करता नहीं, है, किन्तु कुदेवादिकके द्वारा उपदिष्ट या अनुपदिष्ट असद्भावका श्रद्धान करता है ॥१७०॥

उपशमसम्यक्त्वकी उत्पत्तिके विषयमें सर्वोपशम और देशोपशमका नियम—

[3]सम्मत्तपढमलंभो सयलोवसमा दु भव्वजीवाणं ।
णियमेण होइ अवरो सव्वोवसमा दु देसपसमा वा[3] ॥१७१॥

भव्यजीवोंके प्रथम वार उपशमसम्यक्त्वका लाभ नियमतः दर्शनमोहनीयके सकलोपशमसे ही होता है। किन्तु अपर अर्थात् द्वितीयादि वार सर्वोपशम अथवा देशोपशमसे होता है ॥१७१॥

सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके पश्चात् मिथ्यात्व-प्राप्तिका नियम—

[4]सम्मत्तादिमलंभस्साणंतरं णिच्छएण णायव्वो ।
मिच्छासंगो पच्छा अण्णस्स दु होइ भयणिज्जो[4] ॥१७२॥

आदिम सम्यक्त्वके लाभके अनन्तर मिथ्यात्वका संगम निश्चयसे जानना चाहिए। किन्तु अन्य अर्थात् द्वितीयादि वार सम्यक्त्व-लाभके पश्चात् मिथ्यात्वका संगम भजनीय है, अर्थात् किसीके होता भी है और किसीके नहीं भी होता ॥१७२॥

इस प्रकार सम्यक्त्वमार्गणा समाप्त हुई।

संज्ञिमार्गणा, संज्ञी और असंज्ञीका स्वरूप—

[5]सिक्खाकिरिओवएसा आलावगाही मणोवलंबेण ।
जो जीवो सो सण्णी तव्विवरीओ असण्णी य[5] ॥१७३॥

जो जीव मनके अवलम्बनसे शिक्षा, क्रिया, उपदेश और आलापको ग्रहण करता है, उसे संज्ञी कहते हैं। जो इससे विपरीत है, अर्थात् शिक्षा आदिको ग्रहण नहीं कर सकता, उसे असंज्ञी कहते हैं ॥१७३॥

विशेषार्थ—जिसके द्वारा हितका ग्रहण और अहितका त्याग किया जा सके, उसे शिक्षा कहते हैं। इच्छापूर्वक हस्त-पाद आदिके संचालनको क्रिया कहते हैं। वचनादिके द्वारा बताये हुए कर्तव्यको उपदेश कहते हैं। श्लोक आदिके पाठको आलाप कहते हैं।

---

1. सं० पञ्चसं० १, ३०३ । 2. १, ३०५ । 3. १, ३१७ । 4. १, ३१८ । 5. १, ३१९ ।

१. गो० जी० ६५४ । २. गो० जी० ६५५ । ३. तुलना—सम्मत्तपढमलंभो सव्वोवसमेण तह वियट्ठेण । भजियव्वो य अभिक्खं सव्वोवसमेण देसेण ॥ क० पा० गा० १०४ । ४. तुलना—सम्मत्तपढमलंभस्सऽणंतरं पच्छदो य मिच्छत्तं । लंभस्स अपढमस्स तु भजियव्वो पच्छदो होदि ॥ क० पा० गा० १०५ । ५. ध० भा० १ पृ० १५२ गो० जी० ६६० ।

संज्ञी-असंज्ञीके स्वरूपका और भी स्पष्टीकरण—

[1]मीमंसइ जो पुव्वं कज्जमकज्जं च तच्चमिदरं च ।
सिक्खइ णामेणेदि य समणो अमणो य विवरीओ[1] ॥१७४॥
एवं कए मए पुण एवं होदि त्ति कज्जणिप्पत्ती ।
जो दु विचारइ जीवो सो सण्णी असण्णि इयरो य ॥१७५॥

जो जीव किसी कार्यको करनेके पूर्व कर्त्तव्य और अकर्त्तव्यकी मीमांसा करे, तत्त्व और अतत्त्वका विचार करे, योग्यको सीखे और उसके नामसे पुकारने पर आवे, उसे समनस्क या संज्ञी कहते हैं। इससे विपरीत स्वरूपवालेको अमनस्क या असंज्ञी कहते हैं। जो जीव ऐसा विचार करता है कि मेरे इस प्रकारके कार्य करने पर इस प्रकारके कार्यकी निष्पत्ति होगी, वह संज्ञी है। जो ऐसा विचार नहीं करता है, वह असंज्ञी जानना चाहिए ॥१७४-१७५॥

इस प्रकार संज्ञिमार्गणा समाप्त हुई ।

आहारमार्गणा, आहारकका स्वरूप—

[2]आहारइ सरीराणं तिण्हं एकदरवग्गणाओ य ।
भासा मणस्स णियय तम्हा आहारओ भणिओ[2] ॥१७६॥

जो जीव औदारिक, वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीरोंमेंसे उदयको प्राप्त हुए किसी एक शरीरके योग्य शरीरवर्गणाको, तथा भाषावर्गणा और मनोवर्गणाको नियमसे ग्रहण करता है, वह आहारक कहा गया है ॥१७६॥

आहारक और अनाहारक जीवोंका विभाजन—

[3]विग्गहगइमावण्णा केवलिणो ※समुहदो अजोगी य ।
सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारया जीवा[3] ॥१७७॥

विग्रहगतिको प्राप्त हुए चारों गतिके जीव, प्रतर और लोकपूरण समुद्घातको प्राप्त सयोगिकेवली और अयोगिकेवली, तथा सिद्ध भगवान् ये सब अनाहारक होते हैं, अर्थात् औदारिकादि शरीरके योग्य पुद्गलपिंडको ग्रहण नहीं करते हैं। इनके अतिरिक्त शेष सब जीव आहारक होते हैं ॥१७७॥

इस प्रकार आहारमार्गणा समाप्त हुई ।

उपयोगप्ररूपणा, उपयोगका स्वरूप और भेद-निरूपण—

[4]वत्थुणिमित्तो भावो जादो जीवस्स होदि उवओगो ।
उवओगो सो दुविहो सागारो चेव अणगारो[4] ॥१७८॥

---

1. सं० पञ्चसं० १, ३२० । 2. १, ३२३ । 3. १, ३२४ । 4. १, ३३२ ।

१. गो० जी० ६६१ । २. ध० भा० १ पृ०१५२ गा० ९८ । गो०जी० ६६४ । ३. ध० भा०१ पृष्ठ १५३ गा० ९९ । गो० जी० ६६५ । ४. गो० जी० ६७१ ।

※ द -घदो ।

जीवका जो भाव वस्तुके ग्रहण करनेके लिए प्रवृत्त होता है, उसे उपयोग कहते हैं। वह साकार और अनाकारके भेदसे दो प्रकारका जानना चाहिए ॥१७८॥

साकार-उपयोगका स्वरूप—

[1]मइ-सुइ-ओहि-मणेहि य जं सयविसयं विसेसविण्णाणं।
अंतोमुहुत्तकालो उवओगो सो हु सागारो[1] ॥१७९॥

मति, श्रुत, अवधि और मनः पर्ययज्ञानके द्वारा जो अपने-अपने विषयका विशेष विज्ञान होता है, उसे साकार-उपयोग कहते हैं। यह अन्तर्मुहूर्त्तकाल तक होता है ॥१७९॥

अनाकार-उपयोगका स्वरूप—

[2]इंदियमणोहिणा वा अत्थे अविसेसिऊण जं गहणं।
अंतोमुहुत्तकालो उवओगो सो अणागारो[2] ॥१८०॥

इन्द्रिय, मन और अवधिके द्वारा पदार्थोंकी विशेषताको ग्रहण न करके जो सामान्य अंशका ग्रहण होता है, उसे अनाकार-उपयोग कहते हैं। यह भी अन्तर्मुहूर्त्तकाल तक होता है ॥ १८० ॥

[3]केवलिणं सागारो अणगारो जुगवदेव उवओगो।
सादी अणंतकालो पच्चक्खो सव्वभावगदो ॥१८१॥

केवलियोंके साकार और अनाकार उपयोग युगपत् ही होता है। उसका काल सादि और अनन्त है, अर्थात् उत्पन्न होनेके पश्चात् अनन्तकाल तक रहता है। वह प्रत्यक्ष है और सर्व भाव-गत है, अर्थात् चराचर जगद्-व्यापी समस्त पदार्थोंको जानता है ॥१८१॥

इस प्रकार उपयोगप्ररूपणा समाप्त हुई।

जीवसमास-अधिकारका उपसंहार—

[4]णिक्खेवे एयट्ठे णयप्पमाणे णिरुत्ति अणिओगे।
मग्गइ वीसं भेए सो जाणइ जीवसब्भावं ॥१८२॥

जो ज्ञानी पुरुष निक्षेप, एकार्थ, नय, प्रमाण, निरुक्ति और अनुयोगमें उपर्युक्त बीस प्ररूपणा-रूप भेदोंका अन्वेषण करता है, वह जीवके सद्भाव अर्थात् यथार्थ स्वरूपको जानता है ॥१८२॥

छहों लेश्याओंके वर्ण—

किण्हा भमर-सवण्णा णीला पुण णील-गुलियसंकासा।
काऊ कओद-वण्णा तेऊ तवणिज्ज-वण्णा हु ॥१८३॥
पम्हा पउमसवण्णा सुक्का पुणु कासकुसुमसंकासा।
वण्णंतरं च एदे हवंति परिमिता अणंता वा ॥१८४॥

---

1. सं० पंचसं० १, ३३३। 2. १, ३३४। 3. १, ३३५। 4. १, ३५३।

१. गो० जी० ६७३, परं तत्र द्वितीयचरणे 'जं सयविसयं' स्थाने 'समासगविसये' इति पाठः।
२. गो०जी० ६७४।

कृष्णलेश्या भौंरेके समान वर्णवाली है, नीललेश्या नीलकी गोली, नीलमणि या मयूरकंठके समान वर्णवाली है। कापोतलेश्या कपोत (कबूतर) के समान वर्णवाली है। तेजोलेश्या तपे हुए सोनेके समान वर्णवाली है। पद्मलेश्या पद्म (गुलाबी रंगके कमल) के सदृश वर्णवाली है और शुक्ललेश्या कांसके फूलके समान श्वेतवर्णवाली है। इन छहों लेश्याओंके वर्णान्तर अर्थात् तारतम्यकी अपेक्षा मध्यवर्ती वर्णोंके भेद इन्द्रियों-द्वारा ग्रहण करनेकी दृष्टिसे संख्यात हैं, स्कन्ध-गत जातियोंकी अपेक्षा असंख्यात हैं और परमाणु-गत भेदकी अपेक्षा अनन्त हैं ॥१८३-१८४॥

नरकोंमें लेश्याओंका निरूपण—

[1]काऊ काऊ तह काउ-णील णीला य णील-किण्हा य।
किण्हा य परमकिण्हा लेसा रयणादि-पुढवीसु[1] ॥१८५॥

रत्नप्रभादि पृथिवियोंमें क्रमशः कापोत, कापोत, कापोत और नील, नील, नील और कृष्ण, कृष्ण, तथा परमकृष्ण लेश्या होती है ॥१८५॥

विशेषार्थ—प्रथम पृथिवीके नारकियोंके कापोतलेश्याका जघन्य अंश होता है। द्वितीय पृथिवीके नारकियोंके कापोतलेश्याका मध्यम अंश होता है। तृतीय पृथिवीके नारकियोंके कापोत-लेश्याका उत्कृष्ट अंश और नीललेश्याका जघन्य अंश होता है। चतुर्थ पृथिवीके नारकियोंके नीललेश्याका मध्यम अंश होता है। पंचम पृथिवीके नारकियोंके नीललेश्याका उत्कृष्ट अंश और कृष्णलेश्याका जघन्य अंश होता है। षष्ठ पृथ्वीके नारकियोंके कृष्णलेश्याका मध्यम अंश होता है। सप्तम पृथ्वीके नारकियोंके परम कृष्णलेश्या अर्थात् कृष्णलेश्याका उत्कृष्ट अंश होता है।

तिर्यंच और मनुष्योंमें लेश्याओंका निरूपण—

[2]एइंदिय-वियलिंदिय-असण्णि-पंचिंदियाण पढमतियं।
संखदीदाऊणं सेसा सेसाण छप्पि लेसाओ ॥१८६॥

३।३।६।

एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रियतिर्यंचोंमें प्रथम तीन अशुभ लेश्याएँ होती हैं। संख्यातीत आयुवालोंके अर्थात् असंख्यात वर्षकी आयुवाले भोगभूमियाँ मनुष्य और तिर्यंचोंके शेष तीन शुभ लेश्याएँ होती हैं। शेष अर्थात् संख्यात वर्षकी आयुवाले कर्मभूमियाँ मनुष्य और तिर्यंचोंके छहों लेश्याएँ होती हैं ॥१८६॥ (इनकी अंकसंदृष्टि गाथाके नीचे दी है।)

गुणस्थानोंमें लेश्याओंका निरूपण—

[3]पढमाइचउ छलेसा सुहाउ जाणे हु तिस्सु तिण्णेव।
उवरिमगुणेसु सुक्का णिल्लेसो अंतिमो भणिओ ॥१८७॥

६।६।६।६।३।३।३।१।१।१।१।१।१।०।

प्रथम गुणस्थानसे लेकर चौथे गुणस्थान तक छहों लेश्याएँ होती हैं। पाँचवेंसे लेकर सातवें तक तीन गुणस्थानोंमें तीन शुभ लेश्याएँ ही होती हैं। उपरिम गुणोंमें अर्थात् आठवेंसे लेकर तेरहवें गुणस्थान तक एक शुक्ललेश्या ही होती है। अन्तिम अयोगकेवली गुणस्थान निर्लेश्य अर्थात् लेश्या-रहित कहा गया है ॥१८७॥ (इनकी अंकसंदृष्टि गाथाके नीचे दी है।)

---

1. सं० पञ्चसं० १, २६८। 2. १, २६७। 3. १, २६५।

१. जीवस० ७२, मूला० ११३४, गो० जी० ५२८।

देवोंमें लेश्याओंका निरूपण—

[1]तिण्हं दोण्हं दोण्हं छण्हं दुण्हं च तेरसण्हं च[1] ।
एदो य चउदसण्हं लेसाण समासओ मुणह ॥१८८॥
तेऊ तेऊ तह तेउ-पम्म पम्मा य पम्म-सुक्का य ।
सुक्का य परमसुक्का लेसा भवणाइदेवाणं[2] ॥१८९॥

भवनादि तीन देवोंके अर्थात् भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषियोंके जघन्य तेजोलेश्या होती है। सौधर्म और ईशान इन दो कल्पवासी देवोंके मध्यम तेजोलेश्या होती है। सनत्कुमार और महेन्द्र इन दो कल्पवासी देवोंके उत्कृष्ट तेजोलेश्या और जघन्य पद्मलेश्या होती है। ब्रह्म ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र इन छह कल्पवासी देवोंके मध्यम पद्मलेश्या होती है। शतार, सहस्रार इन दो कल्पवासी देवोंके उत्कृष्ट पद्मलेश्या और जघन्य शुक्ललेश्या होती है। आनत, प्राणत, आरण, अच्युत इन चार कल्पवासी देवोंके तथा नव ग्रैवेयकवासी कल्पातीत देवोंके, इन तेरहोंके मध्यम शुक्ललेश्या होती है। इससे ऊपर नव अनुदिश और पंच अनुत्तर इन चौदह कल्पातीत देवोंके परम अर्थात् उत्कृष्ट शुक्ललेश्या होती है ॥१८८-१८९॥

[2]पज्जत्तयजीवाणं सरीर-लेसा हवंति छब्भेया ।
सुक्का काऊ य तहा अपज्जत्ताणं तु बोहव्वा ॥१९०॥

पर्याप्तक जीवोंके शरीरकी लेश्या अर्थात् द्रव्य लेश्या छहों होती हैं। किन्तु अपर्याप्तकोंके शरीरलेश्या शुक्ल और कापोत जानना चाहिए ॥१९०॥

[3]विग्गहगइमावण्णा जीवाणं दव्वओ य सुक्का य ।
सरीरम्हि असंगहिए काऊ तह अपज्जत्तकाले य ॥१९१॥

विग्रहगतिको प्राप्त हुए चारों गतिके जीवोंके शरीरके ग्रहण नहीं करने अर्थात् जन्म नहीं लेनेतक द्रव्यसे शुक्ललेश्या होती है। पुनः जन्म लेनेके पश्चात् शरीरपर्याप्तिके पूर्ण नहीं होने तक अपर्याप्तकालमें कापोतलेश्या होती है ॥१९१॥

लेश्या-जनित भावोंका दृष्टान्त-द्वारा निरूपण—

[4]णिम्मूल खंध साहा गुंछा चुणिऊण÷ कोइ पडिदाइं ।
जह एदेसिं भावा तह वि य लेसा मुणेयव्वा[3] ॥१९२॥

जिस प्रकार कोई पुरुष किसी वृक्षके फलोंको जड़-मूलसे उखाड़कर, कोई स्कन्धसे काट-कर, कोई गुच्छोंको तोड़कर, कोई फलोंको चुनकर और कोई गिरे हुए फलोंको बीन करके खाना चाहे, तो उनके भाव जैसे उत्तरोत्तर विशुद्ध हैं, उसी प्रकार कृष्णादि लेश्याओंके भाव भी क्रमशः उत्तरोत्तर विशुद्ध चाहिए ॥१९२॥

---

1. १, २६६–२७१ । 2. १, २५३–२५६ । 3. १, २५७ । 4. १, २६४ ।

१. गो० जी० ५३३ । जीवस० गा० ७३, परं तत्र चतुर्थचरणे 'सक्कादिविमाणवासीणं' इति पाठः। २. गो० जी० ५३४ । तत्र चतुर्थचरणे भवणतियाऽपुण्णगे असुहा इति पाठः ।
३. गो० जी० ५०७ । उत्तरार्धे पाठभेदः ।

÷ द ब चुण्णिऊण ।

सम्यग्दृष्टि जीव मर कर कहाँ-कहाँ उत्पन्न नहीं होता—

[1]छसु हेट्ठिमासु पुढवीसु जोइस-वण-भवण-सव्वइत्थीसु ।
वारस मिच्छावादे सम्माइट्ठिस्स णत्थि उववादो[1] ॥१६३॥

प्रथम पृथ्वीके विना अधस्तन छहों पृथिवियोमें; ज्योतिषी, व्यन्तर, भवनवासी देवोंमें, सर्वप्रकारकी स्त्रियोंमें अर्थात् तिर्यंचनी, मनुष्यनी और देवियोंमें, तथा बारह मिथ्यावादमें अर्थात् जिनमें केवल एक मिथ्यात्व ही गुणस्थान होता है, ऐसे एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय और असंज्ञिपञ्चेन्द्रियसम्बन्धी तिर्यञ्चोंके बारह जीवसमासोंमें सम्यग्दृष्टि जीवका उत्पाद नहीं है, अर्थात् वह मरकर इनमें उत्पन्न नहीं होता है ॥१६३॥

एक जीवके कौन-कौन सी मार्गणाएँ एक साथ नहीं होती हैं—

[2]मणपज्जव परिहारो उवसमसम्मत्त दोण्णि आहारा ।
एदेसु एकपयदे णत्थि त्ति असेसयं जाणे[2] ॥१६४॥

मनःपर्ययज्ञान, परिहारविशुद्धिसंयम, प्रथमोपशमसम्यक्त्व और दोनों आहारक, अर्थात् आहारकशरीर और आहारकअंगोपांग; इन चारोंमेंसे किसी एकके होने पर शेष तीन मार्गणाएँ नहीं होतीं, ऐसा जानना चाहिए ॥१६४॥

संयमोंका गुणस्थानोंमें निरूपण—

[3]जा सामाइय छेदोऽणियट्टि परिहारमप्पमत्तो त्ति ।
सुहुमो सुहुमसराओ उवसंताई जहक्खाय ॥१६५॥

छठे गुणस्थानसे लेकर नवें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक सामायिक और छेदोपस्थापना संयम होता है। अप्रमत्तान्त अर्थात् छठें और सातवें गुणस्थानमें परिहारविशुद्धिसंयम होता है। सूक्ष्मसाम्परायसंयम सूक्ष्मसरागनामक दशवें गुणस्थानोंमें होता है और यथाख्यातसंयम उपशान्तकषायादि अन्तिम चार गुणस्थानमें होता है ॥१६५॥

समुद्घातके भेद—

[4]वेयण कसाय वेउव्विय मारणंतिओ समुग्घाओ ।
*तेजाऽऽहारो छट्ठो सत्तमओ केवलीणं च[3] ॥१६६॥

१ वेदनासमुद्घात २ कषायसमुद्घात ३ वैक्रियिकसमुद्घात ४ मारणान्तिकसमुद्घात, ५ तैजससमुद्घात, छट्ठा आहारकसमुद्घात और सातवाँ केवलियोंके होनेवाला केवलिसमुद्घात ये सात प्रकारके समुद्घात होते हैं। (वेदनादि कारणोंसे मूल शरीरके साथ सम्बन्ध रखते हुए आत्मप्रदेशोंके बाहर निकलनेको समुद्घात कहते हैं।)॥१६६॥

केवलिसमुद्घातका निरूपण—

[5]पढमे दंडं कुणइ य विदिए य कवाडयं तहा समए ।
तइए पयरं चेव य चउत्थए लोयपूरणयं ॥१६७॥

---

1. सं० पञ्चसं० १, २६७ । 2. १, ३४० । 3. १, २४४ । 4. १, ३३७ । 5. १, ३२६ ।

१. ध० भा० १ पृ० २०६, गा० १३३ । परं तत्रोत्तरार्धे 'णेदेसु समुप्पज्जइ सम्माइट्ठी दु जो जीवो' इति पाठः । गो० जी० १२७. तत्रायं पाठः—हेट्ठिमछप्पुढवीणं जोइसि-वण-भवण-सव्व-इत्थीणं । पुण्णिदरे ण हि सम्मो ण सासणो णारयापुण्णे ॥ २. गो०जी० ७२८ । ३. ध० १, ३, २ गो० जी० ६६६ ।

* प्रतिषु 'तेजा' इति पाठः ।

विवरं पंचमसमए जोई मंथाणयं तदो छट्ठे ।
सत्तमए य कवाडं संवरइ तदोऽट्ठमे दंडं ॥१९८॥

समुद्घातगतकेवली भगवान् प्रथम समयमें दंडरूप समुद्घात करते हैं। द्वितीय समयमें कपाटरूप समुद्घात करते हैं। तृतीय समयमें प्रतररूप और चौथे समयमें लोकपूरण समुद्घात करते हैं। पाँचवें समयमें वे सयोगिजिन लोकके विवर-गत आत्मप्रदेशोंका संवरण (संकोच) करते हैं। पुनः छट्ठे समयमें मन्थान-(प्रतर-) गत आत्मप्रदेशोंका संवरण करते हैं। सातवें समयमें कपाट-गत आत्मप्रदेशोंका संवरण करते हैं और आठवें समयमें दंडसमुद्घात-गत आत्मप्रदेशोंका संवरण करते हैं ॥१९७-१९८॥

केवलिसमुद्घातमें काययोगोंका निरूपण—

[1]दंडदुगे ओरालं कवाडजुगले य पयरसंवरणे ।
मिस्सोरालं भणियं कम्मइओ सेस तत्थ अणहारी ॥१९९॥

केवलिसमुद्घातके उक्त आठों समयोंमेंसे दण्ड-द्विक अर्थात् पहले और आठवें समयके दोनों दण्डसमुद्घातोंमें औदारिककाययोग होता है। कपाट-युगलमें अर्थात् विस्तार और संवरण-गत दोनों कपाटसमुद्घातोंमें तथा संवरण-गत प्रतरसमुद्घातमें यानी दूसरे, छठे और सातवें समयमें औदारिकमिश्रकाययोग होता है, ऐसा परमागममें कहा गया है। शेष समयोंमें अर्थात् तीसरे, चौथे और पांचवें समयमें कार्मणकाययोग होता है और उस समय केवली भगवान् अनाहारक रहते हैं ॥१९९॥

केवलिसमुद्घातका नियम—

[2]छम्मासाउगसेसे उप्पण्णं जेसिं केवलं णाणं ।
ते णियमा समुग्घायं सेसेसु हवंति भयणिज्जा[1] ॥२००॥

जिनके छह मास आयुके शेष रहने पर केवलज्ञान उत्पन्न होता है, वे केवली नियमसे समुद्घात करते हैं। शेष केवलियोंमें समुद्घात भजनीय है, अर्थात् कोई करते भी हैं और कोई नहीं भी करते ॥२००॥

सम्यक्त्व, अणुव्रत और महाव्रतकी प्राप्तिका नियम—

[3]चत्तारि वि *छेत्ताइं आउयबंधेण होइ सम्मत्तं ।
अणुवय-महव्वयाइं ण लहइ देवाउअं मोत्तुं[2] ॥२०१॥

जीव चारों ही क्षेत्रों (गतियों) की आयुका बन्ध होनेपर सम्यक्त्वको प्राप्त कर सकता है। किन्तु अणुव्रत और महाव्रत देवायुको छोड़कर शेष आयुका बन्ध होने पर प्राप्त नहीं कर सकता ॥२०१॥

दर्शनमोहनीयका क्षय कौन करता है—

[4]दंसणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजादो हु ।
णियमा मणुसगदीए णिट्ठवगो चावि सव्वत्थ[3] ॥२०२॥

1. सं पञ्चसं० १, ३२५ । 2. १, ३२७ । 3. १, ३०१ । 4. १, २६४ ।

१. मूलारा २१०२ । ध० भा० १ पृ० ३०३ गा० १६७ । २. ध० भा० १ पृ० ३२६ गा० १६१ । गो० जी० ६५२, गो० क० ३३४ । ३. क० पा० २ गा० १६७ गो०जी० ६४७ ।

* ब खेत्ताइं ।

मनुष्यगतिमें उत्पन्न हुआ कर्मभूमियाँ मनुष्य ही नियमसे दर्शनमोहनीयकर्मके क्षयका प्रस्थापक होता है अर्थात् प्रारम्भ करता है। किन्तु निष्ठापक सर्वत्र होता है। अर्थात् पूर्व-बद्ध आयुके वशसे किसी भी गतिमें उत्पन्न होकर उसकी निष्ठापना (पूर्णता) कर सकता है ॥२०२॥

क्षायिकसम्यग्दृष्टिके संसार-वासका नियम—

[1]खवणाए पट्ठवगो जम्मि भवे णियमदो तदो †अण्णे।
णादिक्कदि तिण्णि भवे दंसणमोहम्मि खीणम्मि[1] ॥२०३॥

जो मनुष्य जिस भवमें दर्शनमोहकी क्षपणाका प्रस्थापन करता है, वह दर्शनमोहके क्षीण होने पर नियमसे उससे अन्य तीन भवोंका अतिक्रमण नहीं करता है। अर्थात् दर्शनमोहके क्षीण हो जानेपर तीन भवमें नियमसे मुक्त हो जाता है ॥२०३॥

दर्शमोहनीयका उपशम कौन करता है—

[2]दंसणमोह-उवसामगो दु चउसु वि गईसु बोहव्वो।
पंचिंदिओ य सण्णी णियमा सो होइ पज्जत्तो[2] ॥२०४॥

दर्शनमोहका उपशम करनेवाला जीव चारों ही गतियोंमें जानना चाहिए। किन्तु वह नियमसे पंचेन्द्रिय, संज्ञी और पर्याप्तक होता है। अर्थात् चारों ही गतिके संज्ञी, पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव उपशमसम्यक्त्व प्राप्त कर सकते हैं ॥२०४॥

विरह (अन्तर) कालका नियम—

[3]सम्मत्ते सत्त दिणा विरदाविरदे य चउदसा होंति।
विरदेसु य पण्णरसं विरहियकालो य बोहव्वो[3] ॥२०५॥

उपशमसम्यक्त्वका विरहकाल सात दिन, उपशमसम्यक्त्व-सहित विरताविरतका विरह-काल चौदह दिन और उपशमसम्यक्त्व-सहित विरत अर्थात् प्रमत्त-अप्रमत्तसंयतका विरहकाल पन्द्रह दिन जानना चाहिए ॥२०५॥

नारकियोंके विरहकालका नियम—

पणयालीस मुहुत्ता पक्खो मासो य विण्णि चउ मासा।
छम्मास वरिसमेयं च अंतरं होइ पुढवीणं ॥२०६॥

जीवसमासो समत्तो

रत्नप्रभादि सातों पृथिवियोंमें नारकियोंकी उत्पत्तिका अन्तरकाल क्रमशः पैंतालीस मुहूर्त्त, एक पक्ष, एक मास, दो मास, चार मास, छह मास और एक वर्ष होता है ॥२०६॥

इस प्रकार जीवसमास नामक प्रथम अधिकार समाप्त हुआ।

---

1. सं० पञ्चसं० १, २९५। 2. १, २९६। 3. १, ३३९।

१. क० पा०, गा० ११३। २. क०पा० गा० ९५। ३. गो० जी० १४४ 'परं तत्र प्रथमचरणे पढमुवसमसहिदाए' इति पाठः।

† द अण्णो।

द्वितीय अधिकार

प्रकृतिसमुत्कीर्त्तन

मंगलाचरण और प्रतिज्ञा—

[1]पयडि-विबंधणमुक्कं पयडिसरूवं विसेसदेसयरं ।
पणविय वीरजिणिंदं पयडिसमुक्कित्तणं वुच्छं ॥१॥

कर्म-प्रकृतियोंके बन्धनसे विमुक्त, एवं प्रकृतियोंके स्वरूपका विशेषरूपसे उपदेश करनेवाले ऐसे श्रीवीर जिनेन्द्रको प्रणाम करके मैं प्रकृतिसमुत्कीर्त्तन नामक अधिकारको कहूँगा ॥१॥

पयडीओ दुविहाओ मूलपयडीओ उत्तरपयडीओ । तं जहा—

प्रकृतियाँ दो प्रकारकी होती हैं—मूलप्रकृतियाँ और उत्तरप्रकृतियाँ । उनका विशेष विवरण इस प्रकार है—

[2]णाणस्स दंसणस्स य आवरणं वेयणीय मोहणियं ।
आउग णामागोदं तहंतरायं च मूलाओ[1] ॥२॥

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये कर्मोंकी आठ मूलप्रकृतियाँ हैं ॥२॥

कर्मोंके स्वभावका दृष्टान्त-द्वारा निरूपण—

पड पडिहारसिमज्जा हडि चित्त कुलाल भंडयारीणं ।
जह एदेसिं भावा तह वि य कम्मा मुणेयव्वा[2] ॥३॥

पट (देव-मुखका आच्छादक वस्त्र) प्रतीहार (राजद्वार पर बैठा हुआ द्वारपाल) असि (मधु-लिप्त तलवार) मद्य (मदिरा) हडि (पैर फंसानेका खोड़ा) चित्रकार (चितेरा) कुम्भकार (वर्त्तन बनानेवाला कुम्भार) और भंडारी (कोषाध्यक्ष) इन आठोंके जैसे अपने-अपने कार्य करनेके भाव होते हैं, उस ही प्रकार क्रमशः कर्मोंके भी स्वभाव समझना चाहिए ॥३॥

---

1. सं० पञ्चसं० २, १ । 2. २, २ ।

१. कर्मस्त० ६ । गो० क० ८, परं तत्र चतुर्थ-चरणे–'तरायमिदि अट्ठ पयडीओ' इति पाठः ।
२. गो० क० २१ । कर्मवि० ६ ।

कर्मोंकी उत्तरप्रकृतियोंका निरूपण—

[1]पंच णव दोण्णि अट्ठावीसं चउरो तहेव तेणउदी ।
दोण्णि य पंच य भणिया पयडीओ उत्तरा होंति[1] ॥४॥

ज्ञानावरणादि आठों मूल-प्रकृतियोंकी उत्तरप्रकृतियाँ क्रमसे पाँच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, तेरानवे, दो और पाँच कही गई हैं ॥४॥

प्रत्येक कर्मकी उत्तरप्रकृतियोंका पृथक्-पृथक् निरूपण—

[2]जं तं णाणावरणीयं कम्मं तं पंचविहं—आभिणिबोहियणाणावरणीयं सुदणाणावरणीयं ओहिणाणावरणीयं केवलणाणावरणीयं चेदि[2] । जं दंसणावरणीयं कम्मं तं णवविहं—णिद्दाणिद्दा पयलापयला थीणगिद्धी णिद्दा य पयला य । चक्खुदंसणावरणीयं अचक्खुदंसणावरणीयं ओहिदंसणावरणीयं केवलदंसणावरणीयं चेदि[3] । जं वेयणीयं कम्मं तं दुविहं—सादावेयणीयं असादावेयणीयं चेदि[4] ।

जो ज्ञानावरणीयकर्म है, वह पाँच प्रकारका है—आभिनिबोधिकज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय, अवधिज्ञानावरणीय, मनःपर्ययज्ञानावरणीय और केवलज्ञानावरणीय । जो दर्शनावरणीयकर्म है, वह नौ प्रकारका है—निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, निद्रा और प्रचला । तथा चक्षुदर्शनावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय और केवलदर्शनावरणीय । जो वेदनीयकर्म है, वह दो प्रकारका है—सातावेदनीय और असातावेदनीय ।

जं मोहणीयं कम्मं तं दुविहं—दंसणमोहणीयं चारित्तमोहणीयं चेदि[5] । जं दंसणमोहणीयं कम्मं तं बंधादो एयविहं । संतकम्मं पुण तिविहं—मिच्छत्तं सम्मत्तं सम्मामिच्छत्तं चेदि[6] । जं चारित्तमोहणीयं कम्मं तं दुविहं—कसायवेयणीयं णोकसायवेयणीयं चेदि[7] । जं कसायवेयणीयं कम्मं तं सोलसविहं—अणंताणुबंधिकोह-माण-माया-लोहा, अपच्चक्खाणावरणकोह-माण-माया-लोहा, पच्चक्खाणावरणकोह-माण-माया-लोहा, संजलणकोह-माण-माया-लोहा चेदि[8] । जं णोकसायवेयणीयं कम्मं तं णवविहं※—इत्थिवेदं पुरिसवेदं णउंसयवेदं हास रइ अरइ सोय भय दुगुंछा चेदि[9] ।

जो मोहनीयकर्म है, वह दो प्रकारका है—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय । जो दर्शनमोहनीयकर्म है, वह बन्धकी अपेक्षा एक प्रकारका है । किन्तु सत्कर्म (सत्त्व) की अपेक्षा तीन प्रकारका है—मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्व । जो चारित्रमोहनीयकर्म है, वह दो प्रकारका है—कषायवेदनीय और नोकषायवेदनीय । जो कषायवेदनीयकर्म है, वह

1. सं० पञ्चसं० २, ३ । 2. २, ५–३५ ।

१. कर्मस्त० १०, परं तत्र 'तेणउदी' स्थाने 'बायाला' इति पाठः । गो० क० २२, परं तत्रोत्तरार्धे 'ते उत्तरं सयं वा दुग पणगं उत्तरा होंति' इति पाठः । २. षट्० प्र० समु० चू० सू० १४ ३. षट्० प्र० स० चू०. सू० १६ । ४. षट्० प्र० स० चू० सू० १८ । ५. षट्० प्र० स० चू० सू० २० । ६. षट्० प्र० स० चू० सू० २१ । ७. षट्० प्र० स० चू० सू० २२ । ८. षट्० प्र० स० चू० सू० २३ । ९. षट्० प्र० स० चू० सू० २४ ।

※ द 'भणिदं' इत्यधिकः पाठः ।

सोलह प्रकारका है—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ; अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ; प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ; और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ। जो नोकषायवेदनीयकर्म है, वह नौ प्रकारका है—स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, और जुगुप्सा।

जं आउकम्मं तं चउव्विहं—णिरियाउगं तिरियाउगं मणुयाउगं देवाउगं चेदि[1]।

जो आयुकर्म है, वह चार प्रकारका है—नरकायुष्क, तिर्यगायुष्क, मनुष्यायुष्क और देवायुष्क।

जं णामकम्मं तं वायालीसं पिंडापिंडपयडीओ[2]। पिंडपयडीओ चउद्दस १४। अपिंडपयडीओ अट्ठावीसं २८। तं जहा—गइणामं जाइणामं सरीरणामं सरीरबंधणणामं सरीरसंघायणामं सरीरसंठाणणामं सरीरअंगोवंगणामं सरीरसंघयणणामं वण्णणामं गंधणामं रसणामं फासणामं आणुपुव्वीणामं विहायगइणामं अगुरुगलहुगणामं उवघादणामं परघादणामं उस्सासणामं आदावणामं उज्जोवणामं तसणामं थावरणामं बादरणामं सुहुमणामं पज्जत्तणामं अपज्जत्तणामं पत्तेयसरीरणामं साहारणसरीरणामं थिरणामं अथिरणामं सुहणामं असुहणामं सुभगणामं दुब्भगणामं सुस्सरणामं दुस्सरणामं आदेज्जणामं अणादेज्जणामं जसकित्तिणामं अजसकित्तिणामं णिमिणणामं तित्थयरणामं चेदि[3]।

जो नामकर्म है, वह पिंड और अपिंड प्रकृतियोंके समुच्चयकी अपेक्षा ब्यालीस प्रकारका है। उनमें पिंडप्रकृतियाँ चौदह हैं और अपिंडप्रकृतियाँ अट्ठाईस हैं। उनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—गतिनाम, जातिनाम, शरीरनाम, शरीर-बन्धननाम शरीर-संघातनाम, शरीर-संस्थाननाम, शरीर-अंगोपांगनाम, शरीर-संहनननाम, वर्णनाम, गन्धनाम, रसनाम, स्पर्शनाम, आनुपूर्वीनाम, विहायोगतिनाम, अगुरुलघुनाम, उपघातनाम, परघातनाम, उच्छ्वासनाम, आतापनाम, उद्योतनाम, त्रसनाम, स्थावरनाम, बादरनाम, सूक्ष्मनाम, पर्याप्तनाम, अपर्याप्तनाम, प्रत्येकशरीरनाम, साधारणशरीरनाम, स्थिरनाम, अस्थिरनाम, शुभनाम, अशुभनाम, सुभगनाम, दुर्भगनाम, सुस्वरनाम, दुःस्वरनाम, आदेयनाम, अनादेयनाम, यशःकीर्त्तिनाम, अयशःकीर्तिनाम, निर्माणनाम और तीर्थकरनाम।

जं गइणामकम्मं तं चउव्विहं—णिरयगइणामं तिरियगइणामं मणुयगइणामं देवगइणामं चेदि[4]। जं जाइणामकम्मं तं पंचविहं—एइंदियजाइणामं वेइंदियजाइणामं तेइंदियजाइणामं चउरिंदियजाइणामं पंचेंदियजाइणामं चेदि[5]। जं सरीरणामकम्मं तं पंचविहं—ओरालियसरीरणामं वेउव्वियसरीरणामं आहारसरीरणामं तेयसरीरणामं कम्मइयसरीरणामं चेदि[6]।

---

१. षट्० प्र० स० चू० सू० २५-२६। २. षट्० प्र०स० चू० सू० २७। ३. षट्० प्र०स०चू० सू०२८। ४. षट्० प्र० स० चू० सू० २९। ५. षट्० प्र० स० चू० सू० ३०। ६. षट्० प्र० स० चू० सू० ३१।

इनमें जो गतिनामकर्म है, वह चार प्रकारका है—नरकगतिनाम, तिर्यग्गतिनाम, मनुष्यगतिनाम और देवगतिनाम। जो जातिनामकर्म है, वह पाँच प्रकारका है—एकेन्द्रियजातिनाम, द्वीन्द्रियजातिनाम, त्रीन्द्रियजातिनाम, चतुरिन्द्रियजातिनाम, और पंचेन्द्रियजातिनाम। जो शरीरनामकर्म है, वह पाँच प्रकारका है—औदारिकशरीरनाम, वैक्रियिकशरीरनाम, आहारकशरीरनाम, तैजसशरीरनाम और कार्मणशरीरनाम।

जं सरीरबंधणणामकम्मं तं पंचविहं—ओरालियसरीरबंधणणामं वेउव्वियसरीरबंधणणामं आहारसरीरबंधणणामं तेयसरीरबंधणणामं कम्मइयसरीरबंधणणामं चेदि[1]। जं सरीरसंघायणामकम्मं तं पंचविहं—ओरालियसरीरसंघायणामं वेउव्वियसरीरसंघायणामं आहारसरीरसंघायणामं तेयसरीरसंघायणामं कम्मइयसरीरसंघायणामं चेदि[2]।

जो शरीर-बन्धननामकर्म है, वह पाँच प्रकारका है—औदारिकशरीरबन्धननाम, वैक्रियिकशरीरबन्धननाम, आहारकशरीरबन्धननाम, तैजसशरीरबन्धननाम और कार्मणशरीरबन्धननाम। जो शरीर-संघात नामकर्म है, वह पाँच प्रकारका है—औदारिकशरीरसंघातनाम, वैक्रियिकशरीरसंघातनाम, आहारकशरीरसंघातनाम, तैजसशरीरसंघातनाम और कार्मणशरीरसंघातनाम।

जं सरीरसंठाणणामकम्मं तं छव्विहं—समचउरससरीरसंठाणणामं णिग्गोहपरिमंडलसरीरसंठाणणामं साइयसरीरसंठाणणामं खुज्जयसरीरसंठाणणामं वामणसरीरसंठाणणामं हुंडसरीरसंठाणणामं चेदि[3]। जं सरीरअंगोवंगणामकम्मं तं तिविहं—ओरालियसरीरअंगोवंगणामं वेउव्वियसरीरअंगोवंगणामं आहारसरीरअंगोवंगणामं चेदि[4]।

जो शरीरसंस्थाननामकर्म है, वह छह प्रकारका है—समचतुरस्रशरीरसंस्थाननाम, न्यग्रोधपरिमंडलशरीरसंस्थाननाम, स्वातिशरीरसंस्थाननाम, कुब्जकशरीरसंस्थाननाम, वामनशरीरसंस्थाननाम और हुंडकशरीरसंस्थाननाम। जो शरीर-अंगोपांगनामकर्म है, वह तीन प्रकारका है—औदारिकशरीर-अंगोपांगनाम वैक्रियिकशरीर-अंगोपांगनाम और आहारकशरीर-अंगोपांगनाम।

जं सरीरसंघयणणामकम्मं तं छव्विहं—वज्जरिसहणारायसरीरसंघयणणामं वज्जणारायसरीरसंघयणणामं णारायसरीरसंघयणणामं अद्धणारायसरीरसंघयणणामं खीलियसरीरसंघयणणामं असंपत्तसेवट्टसरीरसंघयणणामं चेदि[5]।

जो शरीरसंहनननामकर्म है, वह छह प्रकारका है—वज्रऋषभनाराचशरीरसंहनननाम, वज्रनाराचशरीरसंहनननाम, नाराचशरीरसंहनननाम, अर्धनाराचशरीरसंहनननाम, कीलकशरीरसंहनननाम और असंप्राप्तसृपाटिकाशरीरसंहनननाम।

जं वण्णणामकम्मं तं पंचविहं—किण्हवण्णणामं णीलवण्णणामं रत्तवण्णणामं पीतवण्णणामं सुक्कवण्णणामं चेदि[6]। जं गंधणामकम्मं तं दुविहं—सुरहिगंधणामं

१. षट्० प्र० स० चू० सू० ३२। २. षट्० प्र० स० चू० सू० ३३। ३. षट्० प्र० स० चू० सू० ३४। ४. षट्० प्र० स० चू० सू० ३५। ५. षट्० प्र० स० चू० सू० ३६। ६. षट्० प्र० स० चू० सू० ३७।

दुरहिगंधणामं चेदि[1]। जं रसणामकम्मं तं पंचविहं—तित्तणामं कडुयणामं कसाय-णामं अंबिलणामं महुरणामं चेदि[2]। जं फासणामकम्मं तं अट्ठविहं—कक्खडणामं मउयणामं गरुयणामं लहुयणामं णिद्धणामं लुक्खणामं सीयणामं उण्हणामं चेदि[3]।

जो वर्णनामकर्म है, वह पाँच प्रकारका है—कृष्णवर्णनाम, नीलवर्णनाम, रक्तवर्णनाम, पीतवर्णनाम और शुक्लवर्णनाम। जो गन्धनामकर्म है, वह दो प्रकारका है—सुरभिगन्धनाम और दुरभिगन्धनाम। जो रसनामकर्म है, वह पाँच प्रकारका है—तिक्तनाम, कटुकनाम, कषाय-नाम, आम्लनाम और मधुरनाम। जो स्पर्शनामकर्म है, वह आठ प्रकारका है—कर्कशनाम, मृदुनाम, गुरुनाम, लघुनाम, स्निग्धनाम, रूक्षनाम, शीतनाम और उष्णनाम।

जं आणुपुव्वीणामकम्मं तं तं चउव्विहं—णिरयगइपाओग्गाणुपुव्वीणामं तिरियगइपाओग्गाणुपुव्वीणामं मणुयगइपाओग्गाणुपुव्वीणामं देवगइपाओग्गाणुपुव्वी-णामं चेदि[4]। जं विहायगइणामकम्मं तं दुविहं—पसत्थविहायगइणामं अपसत्थ-विहायगइणामं चेदि[5]।

जो आनुपूर्वी नामकर्म है, वह चार प्रकारका है—नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वीनाम, तिर्यग्गति-प्रायोग्यानुपूर्वीनाम, मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वीनाम और देवगतिप्रायोग्यानुपूर्वीनाम। जो विहायो-गतिनामकर्म है, वह दो प्रकारका है—प्रशस्तविहायोगतिनाम और अप्रशस्तविहायोगतिनाम।

जं गोयकम्मं तं दुविहं—उच्चगोयं णीचगोयं चेदि[6]। जं अंतरायकम्मं तं पंचविहं—दाणंतराइयं लाहंतराइयं भोयंतराइयं उवभोयंतराइयं विरियंतराइयं चेदि[7]।

जो गोत्रकर्म है, वह दो प्रकारका है—उच्चगोत्र और नीचगोत्र। जो अन्तरायकर्म है, वह पांच प्रकारका है—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय।

बन्ध-योग्य प्रकृतियोंका निरूपण—

[1]पंच णव दोण्णि छव्वीसमवि य चउरो कमेण सत्तट्ठी।
दोण्णि य पंच य भणिया एयाओ बंधपयडीओ ॥५॥

ज्ञानावरणीयकी पाँच, दर्शनावरणीयकी नौ, वेदनीयकी दो, मोहनीयकी छव्वीस, आयु-कर्मकी चार, नामकर्मकी सड़सठ, गोत्रकर्मकी दो और अन्तरायकर्मकी पाँच; इस प्रकार एक सौ बीस (१२०) बंधने योग्य उत्तरप्रकृतियाँ कही गई हैं ॥५॥[8]

बन्ध-प्रकृतियाँ १२०।

बन्धके अयोग्य प्रकृतियोंका निरूपण—

[2]वण्ण-रस-गंध-फासा चउ चउ इगि सत्त सम्ममिच्छत्तं।
होंति अबंधा बंधण पण पण संघाय सम्मत्तं ॥६॥

1. सं० पञ्चसं० २, ३६। 2. २, ३७।

१. षट्० प्र० स० चू० सू० ३८। २. षट्० प्र० स० चू० सू० ३९। ३. षट्० प्र० स० चू० सू० ४०। ४. षट्० प्र० स० चू० सू० ४१। ५. षट्० प्र० स० चू० सू० ४३। ६. षट्० प्र० स० चू० सू० ४५। ७. षट्० प्र० स० चू० सू० ४६। ८. गो० क० ३५।

चार वर्ण, चार रस, एक गन्ध, सात स्पर्श, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति, पाँच बन्धन और पाँच संघात; ये अट्ठाईस (२८) प्रकृतियाँ बन्धके अयोग्य होती हैं ॥६॥

अबन्ध-प्रकृतियाँ २८ ।

उदयके अयोग्य प्रकृतियोंका निरूपण—

[1]वण्ण-रस-गंध-फासा चउ चउ सत्तेक्कमणुदयपयडीओ ।
एए पुण सोलसयं बंधण-संघाय पंचेवं ॥७॥

अणुदयपयडीओ २६ । उदयपयडीओ १२२ ।

चार वर्ण, चार रस, एक गन्ध, सात स्पर्श, पाँच बन्धन और पाँच संघात; ये छब्बीस प्रकृतियाँ उदयके अयोग्य हैं । शेष एक सौ बाईस (१२२) प्रकृतियाँ उदयके योग्य होती हैं ॥७॥

अनुदय-प्रकृतियाँ २६ । उदय-प्रकृतियाँ १२२ ।

उद्वेलना-योग्य प्रकृतियाँ—

[2]आहारय-वेउव्विय-णिर-णर-देवाण होंति जुगलाणि ।
सम्मत्तुच्चं मिस्सं एया उव्वेल्लणा-पयडी ॥८॥

। १३ ।

आहारक-युगल (आहारकशरीर, आहारक-अंगोपांग) वैक्रियिक-युगल (वैक्रियिकशरीर, वैक्रियिक-अंगोपांग) नरक-युगल (नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी) नर-युगल (मनुष्यगति, मनुष्य-गत्यानुपूर्वी) देव-युगल (देवगति, देवगत्यानुपूर्वी) सम्यक्त्वप्रकृति, मिश्रप्रकृति (सम्यग्मिथ्यात्व) और उच्चगोत्र ये तेरह उद्वेलना प्रकृतियाँ हैं, अर्थात् इन प्रकृतियोंका उद्वेलनसंक्रमण होता है ॥८॥

उद्वेलन-प्रकृतियाँ ११ ।

ध्रुवबन्धी प्रकृतियाँ—

[3]आवरण विग्घ सव्वे कसाय मिच्छत्त णिमिण वण्णचदुं ।
भय णिंदाऽगुरु तेयाकम्मुवघायं धुवाउ सगदालं ॥९॥

। ४७ ।

ज्ञानावरणीय पाँच, दर्शनावरणीय पाँच, अन्तराय पाँच, कषाय सोलह, मिथ्यात्व, निर्माण वर्णचतुष्क (वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श) भय, जुगुप्सा, अगुरुलघु, तैजस, कार्मण और उपघात ये सैंतालीस ध्रुवबन्धी प्रकृतियाँ हैं; क्योंकि बन्ध-योग्य गुणस्थानमें इनका निरन्तर बन्ध होता है ॥९॥

ध्रुवबन्धी प्रकृतियाँ ४७ ।

अध्रुवबन्धी प्रकृतियाँ—

[4]परघादुस्सासाणं आयवउज्जोयमाउ चत्तारि ।
तित्थयराहारदुगं एगारह होंति सेसाओ ॥१०॥

। ११ ।

परघात, उच्छ्वास, उद्योत, चारों आयु कर्म, तीर्थंकर, आहारकशरीर और आहारक-अंगोपांग ये ग्यारह शेष अर्थात् अध्रुवबन्धी प्रकृतियाँ हैं ॥१०॥

अध्रुवबन्धी प्रकृतियाँ ११ ।

---

1. सं० पञ्चसं० २, ३८ । 2. २, ४० । 3. २, ४२–४३ । 4. २, ४४ ।

परिवर्त्तमान प्रकृतियाँ—

[1]साइयरं वेदतियं हस्सादिचउक्क पंच जाईयो।
संठाणं संघडणं छ छक्क चउक्क आणुपुव्वी य ॥११॥
गइचउ दो य सरीरं गोयं च य दोण्णि अंगवंगा य।
दह जुवलाणि [1]तसाई गयणगइदुगं विसट्ठि परिवत्ता ॥१२॥

। ६२ ।

एवं पयडिसमुक्कित्तणं समत्तं।

सातावेदनीय असातावेदनीय, तीनों वेद, हास्यादि-चतुष्क, पाँचों जातियाँ, छहों संस्थान, छहों संहनन, चारों आनुपूर्वियाँ, चारों गतियाँ, औदारिक और वैक्रियिक ये दो शरीर, दोनों गोत्रकर्म, औदारिक और वैक्रियिक ये दो अंगोपांग, त्रसादि दश युगल और विहायोगति-युगल ये बासठ प्रकृतियाँ परिवर्तमान जानना चाहिए ॥११-१२॥

विशेषार्थ—जिन परस्पर-विरोधी प्रकृतियोंका उदय एक साथ संभव नहीं है, उन्हें परिवर्तमान कहते है। जैसे सातावेदनीयका उदय जिस समय किसी जीवके होगा, उस समय उसके असातावेदनीयका उदय संभव नहीं है। किसी एक वेदके उदय होने पर उस समय दूसरे वेदका उदय नहीं हो सकता। इसलिए इन्हें परिवर्तमान प्रकृति कहते हैं। ऐसी परिवर्तमान प्रकृतियाँ ६२ होती हैं जिन्हें ऊपर गिनाया गया है। उनमें जो त्रसादि दश युगल बतलाये हैं, वे इस प्रकार हैं—१ त्रस-स्थावर, २ बादर-सूक्ष्म, ३ पर्याप्त-अपर्याप्त, ४ प्रत्येकशरीर-साधारण-शरीर, ५ स्थिर-अस्थिर, ६ शुभ-अशुभ, ७ सुभग-दुर्भग, ८ सुस्वर-दुःस्वर, ९ आदेय-अनादेय और १० यशःकीर्त्ति-अयशःकीर्त्ति।

इसप्रकार प्रकृतिसमुत्कीर्त्तन नामक द्वितीय अधिकार समाप्त हुआ।

---

1. सं० पञ्चसं० २, ४५-४६।

१. तस-थावरं च बादर-सुहुमं पज्जत्त तह अपज्जत्तं।
पत्तेयसरीरं पुण साहारणसरीर थिरमथिरं ॥१॥
सुह-असुह सुहग दुब्भग सुस्सर-दुस्सर तहेव णायव्वा।
आदिज्जमणादिज्जं जसकित्ति-अजसकित्ती य ॥२॥ द ब टिप्पणी।

तृतीय अधिकार

कर्मस्तव

मंगलाचरण और प्रतिज्ञा—

[मूलगा० १] [1]णमिऊण अणंतजिणे तिहुअणवरणाण-दंसणपईवे ।
बंधोदयसंतजुयं वोच्छामि *थवं [†]णिसामेह[1] ॥१॥

त्रिभुवनको प्रकाशित करनेके लिए उत्कृष्ट ज्ञान-दर्शनरूपी प्रदीपस्वरूप अनन्त जिनोंको नमस्कार करके कर्मोंके बन्ध, उदय और सत्त्वसे युक्त स्तवको कहूँगा, सो (हे जिज्ञासु जनो, तुम लोग) सुनो ॥१॥

विशेषार्थ—जिसमें विवक्षित विषयसे सम्बन्ध रखनेवाले सभी अंगोंका विस्तार या संक्षेपसे वर्णन किया जावे उसे स्तव कहते हैं। प्रकृत प्रकरणमें कर्म-सम्बन्धी बन्ध, उदय, उदीरणा आदि सभी विषयोंका साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है, इसलिए इसका नाम कर्मस्तव है।

बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्त्वका स्वरूप—

[2]कंचण-रुप्पदव्वाणं एयत्तं जेम अणुपवेसो त्ति ।
अण्णोण्णपवेसाणं तह बंधं जीव-कम्माणं ॥२॥
[3]धण्णस्स× संगहो वा संतं जं पुव्वसंचियं कम्मं ।
[4]भुंजणकालो उदओ उदीरणाऽपक्कपाचणफलं व‡ ॥३॥

जिस प्रकार कांचन (स्वर्ण) और रूपा (चाँदी) द्रव्यके प्रदेश परस्पर एक-दूसरेमें अनुप्रविष्ट होकर एकत्वको प्राप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार जीव और कर्मोंके परस्पर एक-दूसरेमें प्रविष्ट हुए प्रदेशोंके एकमेक होकर बंधनेको बन्ध कहते हैं। धान्यके संग्रहके समान जो पूर्व-संचित कर्म हैं, उनके आत्मामें अवस्थित रहनेको सत्त्व कहते हैं। कर्मोंके फल भोगनेके कालको उदय कहते हैं। तथा अपक्व कर्मोंके पाचनको उदीरणा कहते हैं ॥२-३॥

---

1. सं० पञ्चसं० ३, १ । 2. ३, २, ६ । 3. ३, ५ । 4. ३, ३-४ ।

१. कर्मस्त० गा० १, परं तत्र 'अणंतजिणे' इति स्थाने 'जिणवरिंदे' इति पाठः ।

* द ब पयं । † तुलना—णमिऊण णेमिचंदं असहायपरक्कमं महावीरं । बंधुदयसत्तजुत्तं ओघादेसे थवं वोच्छं ॥ गो० क० ८७ । × द ब धणस्स । ‡ द ब वा ।

गुणस्थानोंमें मूल प्रकृतियोंके बन्धका निरूपण—

[1]सत्तट्ठछक्कठाणा मिस्सापुव्वाणियट्टिणो सत्त ।
छह सुहुमे तिण्णेगं बंधंति अबंधओऽजोओ ॥४॥

आउस्स बंधकाले अट्ठ कम्माणि, सेसकाले सत्त ।

७	७	७	७	७	७	७	७	७	६
८	८	०	८	८	८	८	०	०	०

मोहाउगेहिं विणा ६ । वेयणीयं १ । १ । १ । ० ।+

मिश्रगुणस्थानको छोड़कर अप्रमत्तगुणस्थान तकके छह गुणस्थानवर्ती जीव आयुकर्मके विना सात कर्मोंको, अथवा आयुकर्म-सहित आठ कर्मोंको बाँधते हैं। मिश्र, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवाले जीव आयुकर्मके विना शेष सात कर्मोंको बाँधते हैं। सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानवर्ती जीव आयु और मोहनीय कर्मके विना छह कर्मोंको बाँधते हैं। ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें ये तीन गुणस्थानवर्ती जीव केवल एक वेदनीय कर्मको ही बाँधते हैं। अयोगिकेवली जिन किसी भी कर्मका बन्ध नहीं करते हैं ॥४॥

मिश्रके विना आदिके छह गुणस्थानोंमें आयुकर्मके बंधकालमें आठ कर्म बँधते हैं और शेष कालमें सात कर्म बँधते हैं। आठवें और नवें गुणस्थानमें आयुके विना सात कर्म बँधते हैं। दशवें गुणस्थानमें मोह और आयु कर्मके विना छह कर्म बँधते हैं। शेषमें एक वेदनीय कर्म बँधता है। चौदहवें गुणस्थानमें कोई कर्म नहीं बँधता। इनकी संदृष्टि इस प्रकार है—

मि०	सा०	मि०	अ०	दे०	प्र०	अ०	अ०	अ०	सू०	उ०	क्षी०	स०	अ०
७	७	७	७	७	७	७	७	७	६	१	१	१	०
८	८	०	८	८	८	८	०	०	०				

गुणस्थानोंमें मूलप्रकृतियोंके उदयका निरूपण—

[2]सुहुमं ति× अट्ठ वि कम्मा खीणुवसंता य सत्त मोहूणा ।
घाइचउक्केणूणा वेयंति य केवली वि चत्तारि ॥५॥

८ । ८ । ८ । ८ । ८ । ८ । ८ । ८ । ८ । ८ । ७ । ७ । ४ । ४ । उदयः ।*

सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान तकके जीव आठों ही कर्मोंका वेदन करते हैं। उपशान्तकषाय और क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती जीव मोहकर्मके विना सात कर्मोंका वेदन करते हैं। तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवर्ती केवली भगवान् घातिचतुष्कके विना चार कर्मोंका वेदन करते हैं ॥५॥

गुणस्थानोंमें मूल कर्मोंके उदयकी संदृष्टि इस प्रकार है—

मि०	सा०	मि०	अ०	दे०	प्र०	अ०	अ०	अ०	सू०	उ०	क्षी०	स०	अ०
८	८	८	८	८	८	८	८	८	८	७	७	४	४

1. सं० पञ्चसं० ३, ११–१२ । 2. ३, १३ ।

\+ द 'इति कर्मणां बन्धः कथितः' इत्यधिकः पाठः । × द तिट्ठवि । * द 'इति कर्मणां उदयः कथितः' ईदृक् पाठः ।

गुणस्थानोंमें मूलप्रकृतियोंकी उदीरणाका निरूपण—

[1]घाइतियं खीणंता तह मोहमुदीरयंति सुहुमंता ।
तइ आउ पमत्तंता णामं गोयं सजोअंता ॥६॥

क्षीणकषायगुणस्थान तकके जीव ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातिया कर्मोंकी उदीरणा करते हैं। सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान तकके जीव मोहकर्मकी उदीरणा करते हैं। प्रमत्तसंयतगुणस्थान तकके जीव वेदनीय और आयुकर्मकी उदीरणा करते हैं। तथा सयोगिकेवली गुणस्थान तकके जीव नाम और गोत्रकर्मकी उदीरणा करते हैं ॥६॥

[2]एत्थ मिस्सं वज्ज मिच्छाइपमत्तंताणं मरणावलियासेसे आउस्स उदीरणा णत्थि, तेण सत्त, मिस्सो अट्ठ चेव उदीरेइ, आउस्स मरणावलियासेसे मिस्सगुणाभावादो।

८	८	८	८	८	८	६	६	६
७	७	०	७	७	७	०	०	०

यहाँ पर इतना विशेष जानना चाहिए कि मिश्रगुणस्थानको छोड़कर मिथ्यात्वसे लेकर प्रमत्तसंयतगुणस्थान तकके जीवोंके मरणावलीके शेष रहनेपर आयुकर्मकी उदीरणा नहीं होती है। इसलिए वे सात कर्मोंकी उदीरणा करते हैं। मिश्रगुणस्थानवाला आठों ही कर्मोंको उदीरणा करता है, क्योंकि आयुकर्मकी मरणावली शेष रहनेपर मिश्रगुणस्थान नहीं होता।

नौ गुणस्थानोंमें उदीरणाकी संदृष्टि इस प्रकार है--

मि०	सा०	मि०	अ०	दे०	प्र०	अ०	अपू०	अनि०
८	८	८	८	८	८	६	६	६
७	७	०	७	७	७			

दशवें और बारहवें गुणस्थानमें उदीरणाका नियम—

[3]सगुणा अद्धावलिआसेसे सुहुमोदीरेइ पंचेव ।

६	५
५	०

अद्धावलियासेसे खीणो णाम-गोदे चेव उदीरेइ ॥७॥

५	२	०
२		

*

सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानवर्ती जीव अपने गुणस्थानके कालमें आवलीमात्र शेष रह जानेपर नाम और गोत्रको छोड़कर शेष पाँचों ही कर्मोंकी उदीरणा करता है। क्षीणकषायगुणस्थानवर्ती जीव अपने गुणस्थानके कालमें आवलीमात्र शेष रह जानेपर नाम और गोत्र इन दो ही कर्मोंकी उदीरणा करता है ॥७॥

शेष गुणस्थानोंमें उदीरणाकी संदृष्टि इस प्रकार है--

सू०	उ०
६	५
५	

क्षी०	स०	अ०
५	२	०
२		

---

1. सं पञ्चसं० ३, १४ । 2. ३, १५ । 3. ३, १६ ।

* द 'इति उदीरणा समाप्ता' इत्यधिकः पाठः ।

गुणस्थानोंमें मूलप्रकृतियोंके सत्त्वका निरूपण—

[1]जा उवसंता संता अड सत्त य मोहवज्ज खीणम्मि ।
जोयम्मि अजोयम्मि य चत्तारि अघाइकम्माणि ॥८॥

८ । ८ । ८ । ८ । ८ । ८ । ८ । ८ । ८ । ८ । ८ । ७ । ४ । ४ ।

उपशान्तकषाय गुणस्थान तक आठों ही कर्मोंका सत्त्व रहता है। क्षीणकषायगुणस्थानमें मोहकर्मको छोड़कर शेष सात कर्मोंका सत्त्व रहता है। सयोगिकेवली और अयोगिकेवलीमें चार अघातिया कर्म विद्यमान रहते हैं ॥८॥

गुणस्थानोंमें मूलकर्मोंके सत्त्वकी संदृष्टि इस प्रकार है—

मि०	सा०	मि०	अ०	दे०	प्र०	अ०	अ०	अ०	सू०	उ०	क्षी०	स०	अ०
८	८	८	८	८	८	८	८	८	८	८	७	४	४

गुणस्थानोंमें बन्धसे व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियोंका निरूपण—

[मूलगा० २] [2]मिच्छे सोलस पणुवीस सासणे अविरए य दह पयडी[1] ।
चउ छक्कमेयकमसो विरयाविरयाइ बंधवोछिण्णा ॥९॥

[मूलगा० ३] दुअ तीस चउरपुव्वे पंचऽणियट्टिम्हि† बंधवुच्छेओ ।
सोलस सुहुमसराए सायं सजोइ-जिणवरिंदे[2] ॥१०॥

मिथ्यात्वगुणस्थानमें सोलह, सासादनमें पच्चीस, अविरतमें दश, देशविरतमें चार, प्रमत्तविरतमें छह और अप्रमत्तविरतमें एक प्रकृति बन्धसे व्युच्छिन्न होती है। अपूर्वकरणमें क्रमसे दो, तीस और चार अर्थात् छत्तीस प्रकृतियाँ, तथा अनिवृत्तिकरणमें पाँच प्रकृतियोंका बन्धसे व्युच्छेद होता है। सूक्ष्मसाम्परायमें सोलह प्रकृतियाँ बन्धसे व्युच्छिन्न होती हैं और सयोगि-जिनवरेन्द्रके एक सातावेदनीय बन्धसे व्युच्छिन्न होतो है ॥९-१०॥

बन्ध-व्युच्छिन्न प्रकृतियोंकी संदृष्टि इस प्रकार है—

मि०	सा०	मि०	अ०	दे०	प्र०	अ०	अ०	अ०	सू०	उ०	क्षी०	स०	अ०
१६	२५	०	१०	४	६	१	३६	५	१६	०	०	१	०

बन्धके विषयमें कुछ विशेष नियम—

सव्वासिं‡ पयडीणं मिच्छादिट्ठी दु बंधओ भणिओ ।
तित्थयराहारदुअं मुत्तण य सेसपयडीणं ॥११॥

[3]सम्मत्तगुणणिमित्तं तित्थयरं संजमेण आहारं ।
बज्झंति सेसियाओ मिच्छत्तादीहिं हेऊहिं ॥१२॥

मिथ्यादृष्टि जीव तीर्थंकर और आहारकद्विक, इन तीन प्रकृतियोंको छोड़ करके शेष सभी प्रकृतियोंका बन्ध करनेवाला कहा गया है। इसका कारण यह है कि तीर्थंकर प्रकृतिका सम्यक्त्वगुणके निमित्तसे और आहारकद्विकका संयमके निमित्तसे बन्ध होता है। किन्तु शेष एक सौ सत्तरह प्रकृतियाँ मिथ्यात्व आदि कारणोंसे बन्धको प्राप्त होती हैं। ॥११-१२॥

---

1. सं० पञ्चसं० ३, १७ । 2. ३, १९-२० । 3. ३, १८ ।

१. कर्मस्त० गा० २ । २. कर्मस्त० गा० ३ ।

† प्रतिषु 'णियट्टीहिं' इति पाठः । ‡ प्रतिषु 'सव्वेसिं' इति पाठः ।

	१६		२५		०
[1] तित्थयराहारदुगूणा मिच्छम्मि	११७	सासादने	१०१	मणुय-देवाउं विणा मिस्से	७४
	३		१९		४६
	३१		४७		७४

	१०		४		६		१
तित्थयर-मणुय-देवाऊहिं सह अविरदे	७७	देसे	६७	पमत्ते	६३	आहारदुगेण सह अप्पमत्ते	५९
	४३		५३		५७		६१
	७१		८१		८५		८९

	२	०	०	०	०	३०	४		१	१	१	१	१
अपुव्वकरणे सत्तसु	५८	५६	५६	५६	५६	५६	२६	अणियट्टिपंचसु	२२	२१	२०	१९	१८
भाएसु	६२	६४	६४	६४	६४	६४	९४	भाएसु	९८	९९	१००	१०१	१०२
	९०	९२	९२	९२	९२	९२	१२२		१२६	१२७	१२८	१२९	१३०

	१६	०	०	०	०
सुहुमाइसु	१७	१	१	१	०
	१०३	११९	११९	११९	१२०
	१३१	१४७	१४७	१४७	१४८

आठों कर्मोंकी एक सौ अड़तालीस प्रकृतियोंमेंसे बन्धके योग्य प्रकृतियाँ एक सौ बीस पहले बतला आये हैं, उनमेंसे मिथ्यात्वगुणस्थानमें तीर्थंकर और आहारकद्विक ये तीन बन्धके अयोग्य हैं, अतः इन तीनके बिना शेष एक सौ सत्तरह प्रकृतियाँ बँधती हैं, मिथ्यात्व आदि सोलह प्रकृतियोंकी बन्धसे व्युच्छित्ति होती है और इकतीसका अबन्ध रहता है। सासादन गुणस्थानमें एक सौ एक प्रकृतियाँ बँधती है, अनन्तानुबन्धीचतुष्क आदि पच्चीस प्रकृतियाँ बन्धसे व्युच्छिन्न होती हैं, उन्नीस बन्धके अयोग्य होती हैं और सैंतालीसका अबन्ध रहता है। मिश्रगुणस्थानमें मनुष्यायु और देवायुके विना शेष चौहत्तर प्रकृतियाँ बँधती हैं। यहाँपर किसी भी प्रकृतिका बन्ध-व्युच्छित्ति नहीं होती। यहाँ बन्धके अयोग्य छयालीस प्रकृतियाँ हैं और चौहत्तरका अबन्ध रहता है। अविरतसम्यक्त्वगुणस्थानमें तीर्थंकर, मनुष्यायु और देवायुका बन्ध होने लगता है, अतः उनको मिलाकर सतहत्तर प्रकृतियाँ बँधती हैं, अप्रत्याख्यानावरण-चतुष्क आदि दश प्रकृतियाँ बन्धसे व्युच्छिन्न होती हैं, तेतालीस प्रकृतियाँ बन्धके अयोग्य हैं और इकहत्तरका अबन्ध रहता है। देशविरतमें सड़सठका बन्ध होता है, तिरेपन बन्धके अयोग्य हैं, इक्यासीका अबन्ध रहता है और प्रत्याख्यानावरणचतुष्ककी बन्ध-व्युच्छित्ति होती है। प्रमत्तविरतमें तिरेसठका बन्ध होता है, सत्तावन बन्धके अयोग्य हैं, पचासीका अबन्ध रहता है और असातावेदनीय आदि छह प्रकृतियाँ बन्धसे व्युच्छिन्न होती हैं। अप्रमत्तविरतमें आहारकद्विकका बन्ध होने लगता है, अतः उनसठ प्रकृतियोंका बन्ध होता है, इकसठबन्धके अयोग्य हैं, नवासीका अबन्ध रहता है और एक देवायुकी बन्धसे व्युच्छित्ति होती है। अपूर्वकरणके सात भागोंमेंसे प्रथम भागमें अट्ठावन प्रकृतियोंका बन्ध होता है, बासठ बन्धके अयोग्य हैं, नब्बैका अबन्ध रहता है और निद्राद्विककी बन्ध-व्युच्छित्ति होती है। अपूर्वकरणके दूसरे, तीसरे, चौथे और

1. सं० पञ्चसं० ३, 'एतास्तीर्थकराहार' इत्यादिगद्यभागः।

पाँचवें भागमें छप्पन प्रकृतियाँ बँधती हैं, चौसठ बन्धके अयोग्य हैं, बानबैका अबन्ध रहता है। इन भागोंमें बन्ध-व्युच्छित्ति किसी भी प्रकृतिकी नहीं होती है। अपूर्वकरणके छठे भागमें बन्धादि तो पाँचवें भागके ही समान ही रहता है किन्तु यहाँ पर देवद्विक आदि तीस प्रकृतियों-की बन्धव्युच्छित्ति होती है। अपूर्वकरणके सातवें भागमें छब्बीस प्रकृतियाँ बँधती हैं, चौरानबै बन्धके अयोग्य हैं, एक सौ बाईसका अबन्ध रहता है और हास्यादि चार प्रकृतियोंको बन्ध-व्युच्छित्ति होती है। अनिवृत्तिकरणके पाँच भागोंमें से प्रथम भागमें बाईस प्रकृतियाँ बँधती हैं, अट्ठानबै बन्धके अयोग्य हैं, एक सौ छब्बीसका अबन्ध है और एक पुरुषवेदकी बन्ध-व्युच्छित्ति होती है। द्वितीय भागमें इक्कीस प्रकृतियाँ बँधती हैं, निन्यानबै बन्धके अयोग्य हैं, एक सौ सत्ताईसका अबन्ध है और एक संज्वलन क्रोधकी बन्ध-व्युच्छित्ति होती है। तृतीय भागमें बीस प्रकृतियाँ बँधती हैं, सौ प्रकृतियाँ बन्धके अयोग्य हैं, एक सौ अट्ठाईसका अबन्ध है और एक संज्वलन मानकी बन्ध-व्युच्छित्ति होती है। चतुर्थ भागमें उन्नीस प्रकृतियाँ बँधती हैं, एक सौ एक प्रकृतियाँ बन्धके अयोग्य हैं, एक सौ उनतीसका अबन्ध है और एक संज्वलन मायाकी बन्ध-व्युच्छित्ति होती है। पाँचवें भागमें अट्ठारह प्रकृतियाँ बँधती हैं, एक सौ दो प्रकृतियाँ बन्धके अयोग्य हैं, एक सौ तीसका अबन्ध है और एक संज्वलन लोभकी बन्ध-व्युच्छित्ति होती है। सूक्ष्मसाम्परायमें सत्तरह प्रकृतियाँ बँधती हैं, एक सौ तीन प्रकृतियाँ बन्धके अयोग्य हैं, एक सौ इकतीसका अबन्ध है और ज्ञानावरण-पंचक आदि सोलह प्रकृतियाँ बन्धसे व्युच्छिन्न होती हैं। उपशान्तमोह और क्षीणमोहमें केवल एक सातावेदनीयका बन्ध होता है, एक सौ उन्नीस बन्धके अयोग्य हैं और एक सौ सैंतालीसका अबन्ध रहता है। इन दोनों गुणस्थानोंमें बन्ध-व्युच्छित्ति नहीं होती। सयोगिकेवलीके बन्ध-अबन्धादिप्रकृतियोंकी संख्या तो क्षीणमोहके ही समान है, विशेष बात यह है कि यहाँ पर एकमात्र अवशिष्ट सातावेदनीय भी बन्धसे व्युच्छिन्न हो जाती है। अयोगिकेवलीके न किसी प्रकृतिका बन्ध ही होता है और न बन्ध-व्युच्छित्ति ही। अतएव यहाँ पर बन्धके अयोग्य एक सौ बीस और अबन्ध प्रकृतियाँ एक सौ अड़तालीस कहीं गई हैं, ऐसा जानना चाहिए। (देखो संदृष्टि सं० १०)

मिथ्यात्वगुणस्थानमें बन्धसे व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियाँ—

[मूलगा० ४] [1]मिच्छ णउंसयवेयं णिरयाउ तह य चेव णिरयदुअं।
इगि-वियलिंदियजाई हुंडमसंपत्तमायावं[1] ॥१३॥

[मूलगा० ५] थावर सुहुमं च तहा साहारणयं तहेव अपज्जत्तं।
एए सोलह पयडी मिच्छम्मि अ बंधवुच्छेओ[2] ॥१४॥

।१६।

मिथ्यात्व, नपुंसकवेद, नरकायु तथा नरकद्विक (नरकगति-नरकगत्यानुपूर्वी) एकेन्द्रिय-जाति, विकलेन्द्रिय जातियाँ (द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति) हुंडकसंस्थान, असंप्राप्तसृपाटिकासंहनन, आताप, स्थावर, सूक्ष्म तथा साधारण और अपर्याप्त; ये सोलह प्रकृतियाँ मिथ्यात्वगुणस्थानमें बन्धसे व्युच्छिन्न होती हैं ॥१३-१४॥

मिथ्यात्वमें बन्धसे व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ १६।

---

1. सं० पञ्चसं० ३, २१-२२।

१. कर्मस्त० गा० ११। २. कर्मस्त० गा० १२।

सासादनगुणस्थानमें बन्धसे व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियाँ—

[मूलगा० ६] [1]थीणतियं इत्थी वि य अण तिरियाऊ तहेव तिरियदुगं।
मज्झिमचउसंठाणं मज्झिमचउ चेव संघयणं[1] ॥१५॥

[मूलगा० ७] उज्जोयमप्पसत्था विहायगइ दुब्भगं अणादेज्जं।
दुस्सर णिच्चागोयं सासणसम्मम्हि वोच्छिण्णा[2] ॥१६॥

।२५।

स्त्यानत्रिक (स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला) स्त्रीवेद, अनन्तानुबन्धीचतुष्क, तिर्यगायु तथा तिर्यग्-द्विक (तिर्यग्गति-तिर्यग्गत्यानुपूर्वी) मध्यम चार संस्थान और मध्यम ही चार संहनन, उद्योत, अप्रशस्तविहायोगति, दुर्भग, अनादेय, दुःस्वर और नीचगोत्र; ये पच्चीस प्रकृतियाँ सासादनसम्यक्त्वमें बन्धसे व्युच्छिन्न होती हैं ॥१५-१६॥

सासादनमें बन्धसे व्युच्छिन्न २५।

अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानमें बन्धसे व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियाँ—

[मूलगा० ८] [2]विदियकसायचउक्कं मणुयाऊ मणुयदुव य ओरालं।
तस्स य अंगोवंगं संघयणादी अविरदस्स[3] ॥१७॥

।१०।

द्वितीयकषायचतुष्क, अर्थात् अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ; मनुष्यायु, मनुष्यद्विक (मनुष्यगति-मनुष्यगत्यानुपूर्वी) औदारिकशरीर, औदारिक-अंगोपांग और प्रथम संहनन; ये दश प्रकृतियाँ अविरतसम्यग्दृष्टिके बन्धसे व्युच्छिन्न होती हैं ॥१७॥

अविरतसम्यग्दृष्टिमें बन्धसे व्युच्छिन्न १०।

देशविरतगुणस्थानमें बन्धसे व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियाँ—

[मूलगा० ९] [3]तइयकसायचउक्कं विरयाविरयम्हि बंधवोच्छिण्णा।

।४।

तृतीय कषायचतुष्क अर्थात् प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार प्रकृतियाँ विरताविरत गुणस्थानमें बन्धसे व्युच्छिन्न होती हैं।

देशविरतमें बन्धसे व्युच्छिन्न ४।

प्रमत्तविरतगुणस्थानमें बन्धसे व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियाँ—

साइयरमरइसोयं तह चेव य अथिरमसुहं च[4] ॥१८॥

[मूलगा०१०] अजसकित्ती य तहा पमत्तविरयम्हि बंधवुच्छेओ।

।६।

असातावेदनीय, अरति, शोक, अस्थिर, अशुभ और अयशःकीर्ति; ये छह प्रकृतियाँ प्रमत्तविरत गुणस्थानमें बन्धसे व्युच्छिन्न होती है ॥१८॥

प्रमत्तविरतमें बन्धसे व्युच्छिन्न ६।

---

1. सं० पञ्चसं० ३, २३-२५। 2. ३, २६-२७। 3. ३, २८-२९।

१. कर्मस्त०गा० १३। २. कर्मस्त०गा० १४। ३. कर्मस्त०गा० १५। ४. कर्मस्त० गा० १६।

अप्रमत्तविरतगुणस्थानमें बन्धसे व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियाँ—

देवाउअं च एयं पमत्तइयरम्हि णायव्वो[1] ॥१६॥

।१।

अप्रमत्तविरतनामक सातवें गुणस्थानमें एक देवायु ही बन्धसे व्युच्छिन्न होती है, ऐसा जानना चाहिए ॥१६॥

अप्रमत्तविरतमें बन्धसे व्युच्छिन्न १।

अपूर्वकरणगुणस्थानमें बन्धसे व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियाँ—

[मूलगा०११] [1]णिद्दा पयला य तहा अपुव्वपढमम्हि बंधवुच्छेओ।

।२।

देवदुयं पंचिंदिय ओरालियवज्ज चदुसरीरं च[2] ॥२०॥

[मूलगा०१२] समचउरस वेउव्विय आहारयअंगुवंगणामं च।

वण्णचउक्कं च तहा अगुरुयलहुयं च चत्तारि[3] ॥२१॥

[मूलगा०१३] तसचउ पसत्थमेव य विहाइगइ थिर सुहं च णायव्वा।

सुहयं सुस्सरमेव य आइज्जं चेव णिमिणं च[4] ॥२२॥

[मूलगा०१४] [2]तित्थयरमेव तीसं अपुव्वछब्भाए बंधवोच्छिण्णा।

।३०।

हास रइ भय दुगुंछा अपुव्वचरिमम्हि बंधवोच्छिण्णा[5] ॥२३॥

।४।

अपूर्वकरणके प्रथम भागमें निद्रा और प्रचला, ये दो प्रकृतियाँ बन्धसे व्युच्छिन्न होती हैं। अपूर्वकरणके छठे भागमें देवद्विक (देवगति-देवगत्यानुपूर्वी) पंचेन्द्रियजाति, औदारिक-शरीरको छोड़कर शेष चार शरीर, समचतुरस्रसंस्थान, वैक्रियिक-अंगोपांग, आहारक-अंगोपांग, वर्णचतुष्क (वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श) अगुरुलघुचतुष्क (अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास) त्रसचतुष्क, (त्रस, बादर, प्रत्येकशरीर, पर्याप्त) प्रशस्तविहायोगति, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, निर्माण और तीर्थंकर, ये तीस प्रकृतियाँ बन्धसे व्युच्छिन्न होती हैं। अपूर्वकरणके अन्तिम सातवें भागमें हास्य, रति, भय और जुगुप्सा; ये चार प्रकृतियाँ बन्धसे व्युच्छिन्न होती हैं, ऐसा जानना चाहिए ॥२०-२३॥

अपूर्वकरणके प्रथम भागमें बन्धसे व्युच्छिन्न	२	३६
अपूर्वकरणके छठे भागमें बन्धसे व्युच्छिन्न	३०	
अपूर्वकरणके सातवें भागमें बन्धसे व्युच्छिन्न	४	

अनिवृत्तिकरणगुणस्थानमें बन्धसे व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियाँ—

[मूलगा०१५] [3]पुरिसं चउसंजलणं पंच य पयडी य पंचभागम्हि।

अणियट्टी-अद्धाए जहाकमं बंधवुच्छेओ[6] ॥२४॥

।५।

1. सं० पञ्चसं० ३, ३०-३३। 2. ३, ३४। 3. ३, ३५।

१. कर्मस्त० गा० १७। २. कर्मस्त० गा० १८। ३. कर्मस्त० गा० १९। ४. कर्मस्त० गा० २०। ५. कर्मस्त० गा० २१। ६. कर्मस्त० गा० २२।

अनिवृत्तिकरणकालके पाँचों भागोंमें यथाक्रमसे पुरुषवेद, संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ; ये पाँच प्रकृतियाँ बन्धसे व्युच्छिन्न होती हैं ॥२४॥

अनिवृत्तिकरणमें बन्ध-व्युच्छिन्न ५।

सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानमें बन्धसे व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियाँ—

[मूलगा०१६] [1]णाणंतरायदसयं दंसणचत्तारि उच्च जसकित्ती।
एए सोलह पयडी सुहुमकसायम्हि वोच्छेओ[1] ॥२५॥

।१६।

ज्ञानावरणीयकी पाँच, अन्तरायकी पाँच, दर्शनावरणकी चार (चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन) उच्चगोत्र और यशःकीर्त्ति; ये सोलह प्रकृतियाँ सूक्ष्मकषायमें बन्धसे व्युच्छिन्न होती हैं ॥२५॥

सूक्ष्मसाम्परायमें बन्धसे व्युच्छिन्न १६।

सयोगिकेवलीके बन्धसे व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृति—

[मूलगा०१७] [2]उवसंत खीण चत्ता जोगिम्हि य सायबंधवोच्छेदो।
णायव्वो पयडीणं बंधस्संतो* अणंतो य[2] ॥२६॥

।१।

उपशान्तमोह और क्षीणमोहगुणस्थानमें कोई प्रकृति बन्धसे व्युच्छिन्न नहीं होती है, अतएव उन्हें छोड़कर सयोगीजिनके एक सातावेदनीय ही बन्धसे व्युच्छिन्न होती है। (अयोगिकेवलीके न कोई प्रकृति बँधती है और न व्युच्छिन्न ही होती है।) इस प्रकार गुणस्थानोंमें बन्धका अन्त अर्थात् व्युच्छेद और अनन्त अर्थात् बन्ध जानना चाहिए ॥२६॥

सयोगिकेवलीमें बन्धसे व्युच्छिन्न १।

इस प्रकार बन्धसे व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियोंका वर्णन समाप्त हुआ।

गुणस्थानोंमें उदयसे व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियोंकी संख्याका निरूपण—

[मूलगा०१८] [3]पण णव इगि सत्तरसं अड पंच चउर छक्क छच्चेव।
इगि दुग सोलह तीसं बारह उयए अजोयंता[3] ॥२७॥

पहले मिथ्यात्वगुणस्थानसे लेकर चौदहवें अयोगिकेवली तक क्रमसे पाँच, नौ, एक, सत्तरह, आठ, पाँच, चार, छह, छह, एक, दो, सोलह, तीस और बारह प्रकृतियाँ उदयसे व्युच्छिन्न होती हैं ॥२७॥

कुछ विशेष प्रकृतियोंके उदय-विषयक नियम—

[4]मिस्सं उदेइ मिस्से अविरयसम्माइचउसु सम्मत्तं।
तित्थयराहारदुअं कमेण जोए पमत्ते य ॥२८॥

---

1. सं० पञ्चसं० ३, ३६। 2. ३, ३९–४०। 3. ३, ३७।

1. कर्मस्त० गा० २३। 2. कर्मस्त०गा० २४। गो०क० १०२। केवलमुत्तरार्धे साम्यम्।

3. कर्मस्त० गा० ४। गो० क० २६४।

* द ब बंधो संतो।

मिश्रप्रकृतिका उदय तीसरे मिश्रगुणस्थानमें होता है। सम्यक्त्वप्रकृतिका उदय चौथे अविरतसम्यक्त्व आदि चार गुणस्थानोंमें होता है। तीर्थङ्करप्रकृतिका उदय तेरहवें सयोगिकेवली गुणस्थानमें और आहारकद्विकका उदय छठे प्रमत्तसंयतगुणस्थानमें होता है ॥२८॥

आनुपूर्वीके उदय-विषयक कुछ विशेष नियम—

[1]णिरयाणुपुव्वि उदओ णासाए जण्ण णिरयउप्पत्ती।
सव्वाणुपुव्वि-उदओ ण होइ मिस्से जदो ण मरणं से ॥२६॥

यतः सासादनसम्यग्दृष्टिकी नरकमें उत्पत्ति नहीं होती, अतः सासादनगुणस्थानमें नरक-गत्यानुपूर्वीका उदय नहीं होता। सभी आनुपूर्वियोंका उदय मिश्रगुणस्थानमें नहीं होता है; क्योंकि, सम्यग्मिथ्यादृष्टिका मरण नहीं होता। (अतएव मिथ्यात्व और अविरतसम्यक्त्वगुणस्थानमें चारोंका और सासादनगुणस्थानमें तीन आनुपूर्वियोंका उदय होता है।) ॥२६॥

*सम्मत्त-सम्मामिच्छत्त-आहारदुय-तित्थयरेहिं विणा मिच्छादिट्ठिम्मि	५	११७	५	३१
णिरयाणुपुव्विविणा सासणे	६	१११	११	३७
तिरिय-मणुय-देवाणुपुव्वी विणा सम्मामिच्छत्तेण सह मिस्से	१	१००	२२	४८
सव्वाणुपुव्वि-सम्मत्तेण सह अविरदे	१७	१०४	१८	४४
देसे	८	८७	३५	६१
आहारदुगेण सह पमत्ते	५	८१	४१	६७
अप्पमत्ते	४	७६	४६	७२
अपुव्वे	६	७२	५०	७६
अणियट्टीए	६	६६	५६	८२
सुहुमाइसु	१	६०	६२	८८
	२	५९	६३	८९
खीणदुचरिमसमए	२	५७	६५	९१
खीणचरिमसमए	१४	५५	६७	९३
तित्थयरेण सह सजोगम्मि	३०	४२	८०	१०६
अजोगम्मि	१२	१२	११०	१३६

आठों कर्मोंकी एक सौ अड़तालीस प्रकृतियोंमेंसे उदयके योग्य प्रकृतियाँ एक सौ बाईस होती हैं, यह बात पहले बतला आये हैं। उनमेंसे मिथ्यात्वगुणस्थानमें सम्यक्त्वप्रकृति, सम्यग्मिथ्यात्व, आहारकद्विक और तीर्थङ्करप्रकृति; ये पाँच प्रकृतियाँ उदयके योग्य नहीं हैं, अतः उनके विना शेष रही एक सौ सत्तरह प्रकृतियोंका उदय है। सर्व अनुदय-प्रकृतियाँ इकतीस हैं। यहाँ पर मिथ्यात्व आदि पाँच प्रकृतियोंकी उदयसे व्युच्छित्ति होती है। सासादन गुणस्थानमें नरकानुपूर्वीका उदय नहीं होता, अतः वहाँ पर उदय-योग्य प्रकृतियाँ एक सौ ग्यारह हैं, उदयके अयोग्य ग्यारह और अनुदय-प्रकृतियाँ सैंतीस हैं। यहाँ पर अनन्तानुबन्धीचतुष्क आदि नौ प्रकृतियाँ उदयसे व्युच्छिन्न होती हैं। मिश्रगुणस्थानमें तिर्यगानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी और देवानु-

1. सं० पञ्चसं० ३, ३८। * २, 'एताः सम्यक्त्व' इत्यादिगद्यभागः पृ० (५६)।

पूर्वीका भी उदय नहीं होता, किन्तु सम्यग्मिथ्यात्वका उदय होता है, अतः उदय-योग्य प्रकृतियाँ सौ और उदयके अयोग्य बाईस हैं। अनुदयप्रकृतियाँ अड़तालीस हैं। यहाँ पर एक सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिकी उदयसे व्युच्छित्ति होती है। अविरतसम्यक्त्व गुणस्थानमें उदयके योग्य प्रकृतियाँ एक सौ चार हैं; क्योंकि यहाँ पर सभी अर्थात् चारों आनुपूर्वियोंका और सम्यक्त्वप्रकृतिका उदय होता है। उदयके अयोग्य प्रकृतियाँ अट्ठारह और अनुदय-प्रकृतियाँ चवालीस हैं। यहाँ पर अप्रत्याख्यानावरण-चतुष्क आदि सत्तरह प्रकृतियाँ उदयसे व्युच्छिन्न होती हैं। देशविरतमें सत्तासी प्रकृतियोंका उदय होता है, उदयके अयोग्य पैंतीस हैं, अनुदयप्रकृतियाँ इकसठ हैं और प्रत्याख्यानावरणचतुष्क आदि आठ प्रकृतियाँ उदयसे व्युच्छिन्न होती हैं। प्रमत्तविरतमें आहारक-द्विकका उदय होता है, अतः उनके साथ उदयके योग्य प्रकृतियाँ इक्यासी हैं, उदयके अयोग्य इकतालीस हैं और अनुदय सड़सठका है। यहाँ पर स्त्यानगृद्धि आदि पाँच प्रकृतियोंकी उदयसे व्युच्छित्ति होती है। अप्रमत्तविरतमें उदयके योग्य छिहत्तर, उदयके अयोग्य छयालीस और अनुदय प्रकृतियाँ बहत्तर हैं। यहाँ पर सम्यक्त्वप्रकृति आदि चारकी उदय-व्युच्छित्ति होती है। अपूर्वकरणमें उदय-योग्य बहत्तर, उदयके अयोग्य पचास और अनुदय-प्रकृतियाँ छिहत्तर हैं। यहाँ पर हास्यादि छह प्रकृतियोंकी उदय-व्युच्छित्ति होती है। अनिवृत्तिकरणमें उदय-योग्य छयासठ, उदयके अयोग्य छप्पन और अनुदय प्रकृतियाँ बियासी हैं। यहाँ पर वेद-त्रिकादि छह प्रकृतियाँ उदयसे व्युच्छिन्न होती हैं। सूक्ष्मसाम्परायमें उदय-योग्य साठ, उदयके अयोग्य बासठ और अनुदय-प्रकृतियाँ अठासी हैं। यहाँ पर एकमात्र संज्वलन लोभकी उदय-व्युच्छित्ति होती है। उपशान्तमोहमें उदय-योग्य उनसठ, उदयके अयोग्य तिरेसठ और अनुदयप्रकृतियाँ नवासी हैं। यहाँ पर वज्रनाराच और नाराचसंहनन इन दो प्रकृतियोंकी उदय-व्युच्छित्ति होती है। क्षीण-मोहके द्विचरम समय तक सत्तावनका उदय रहता है अतः उदयके अयोग्य पैंसठ और अनुदय प्रकृतियाँ इक्यानवे जानना चाहिए। यहाँ पर द्विचरम समयमें निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियोंकी उदय-व्युच्छित्ति होती है। इसी गुणस्थानके चरम समयमें उदय-योग्य पचपन, उदयके अयोग्य सड़सठ और अनुदय-प्रकृतियाँ तेरानवे हैं। चरम समयमें ज्ञानावरण-पंचकादि चौदह प्रकृतियोंकी उदयसे व्युच्छित्ति होती है। सयोगिकेवली गुणस्थानमें तीर्थङ्कर-प्रकृतिका उदय होता है, अतः उदयके योग्य बियालीस, उदयके अयोग्य अस्सी और अनुदयप्रकृतियाँ एक सौ छह हैं। यहाँ पर संस्थान, संहनन आदि तीस प्रकृतियाँ उदयसे व्युच्छिन्न होती हैं। अयोगि-केवली गुणस्थानमें अवशिष्ट रही बारह प्रकृतियोंका उदय होता है, उदयके अयोग्य एक सौ दश और अनुदय-प्रकृतियाँ एक सौ छत्तीस हैं। यहाँ पर मनुष्यगति आदि जिन बारह प्रकृतियोंका उदय होता है, अन्तिम समयमें उन सबकी उदयसे व्युच्छित्ति हो जाती है। (देखो, संदृष्टि-संख्या ११)

मिथ्यात्वगुणस्थानमें उदयसे व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियाँ—

[मूलगा०१९] [1]मिच्छत्तं आयावं सुहुममपज्जत्तया य तह चेव।
साहारणं च पंच य मिच्छम्हि य उदयवुच्छेओ ॥३०॥

।५।

मिथ्यात्व, आताप, सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण; ये पाँच प्रकृतियाँ मिथ्यात्वगुणस्थानमें उदयसे व्युच्छिन्न होती है ॥३०॥

मिथ्यात्वमें उदय-व्युच्छिन्न ५।

1. सं० पञ्चसं० ३, ४१।

१. कर्मस्त० गा० २५।

सासादनगुणस्थानमें उदयसे व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियाँ—

[मूलगा०२०] [1]अण एइंदियजाई वियलिंदियजाइमेव थावरयं।
एए णव पयडीओ सासणसम्मम्हि उदयवोच्छेओ[1] ॥३१॥

।९।

अनन्तानुबन्धीचतुष्क, एकेन्द्रियजाति, तीनों विकलेन्द्रिय जातियाँ, तथा स्थावर; ये नौ प्रकृतियाँ सासादनसम्यक्त्वमें उदयसे व्युच्छिन्न होती हैं ॥३१॥

सासादनमें उदय-व्युच्छिन्न ९।

सम्यग्मिथ्यात्वगुणस्थानमें उदयसे व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृति—

[मूलगा०२१] [2]सम्मामिच्छत्तेयं सम्मामिच्छम्हि उदयवोच्छिण्णो।

।१।

सम्यग्मिथ्यात्वगुणस्थानमें एक सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति ही उदयसे व्युच्छिन्न होती है।

सम्यग्मिथ्यात्वमें उदय-व्युच्छिन्न १।

अविरतसम्यक्त्वगुणस्थानमें उदयसे व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियाँ—

[3]विदियकसायचउक्कं तह चेव य णिरय-देवाऊ[2] ॥३२॥

[मूलगा०२२] मणुय-तिरियाणुपुव्वी वेउव्वियछक्क दुब्भगं चेव।
अणादिज्जं च तहा अजसकित्ती अविरयम्हि[3] ॥३३॥

।१७।

द्वितीयकषायचतुष्क, नरकायु, देवायु, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, वैक्रियिकषट्क (वैक्रियिक-शरीर, वैक्रियिक-अंगोपांग, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी) दुर्भग, अनादेय और अयशःकीर्त्ति, इस प्रकार सत्तरह प्रकृतियाँ अविरतसम्यक्त्वगुणस्थानमें उदयसे व्युच्छिन्न होती हैं ॥३२-३३॥

अविरतसम्यक्त्वमें उदय-व्युच्छिन्न १७।

देशविरतगुणस्थानमें उदयसे व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियाँ—

[मूलगा०२३] [4]तदियकसायचउक्कं तिरियाऊ तह य चेव तिरियगदी।
उज्जोअ णिच्चगोदं विरयाविरयम्हि उदयवुच्छेओ[4] ॥३४॥

।८।

तृतीयकषायचतुष्क, तिर्यगायु, तिर्यग्गति, उद्योत और नीचगोत्र, ये आठ प्रकृतियाँ विरताविरतगुणस्थानमें उदयसे व्युच्छिन्न होती हैं ॥३४॥

विरताविरतमें उदय-व्युच्छिन्न ८।

1. सं० पंचसं० ३, ४२। 2. ३, ४३ पूर्वार्ध। 3. ३, ४३ उत्तरार्ध, ४४-४५। 4. ३, ४६।

१. कर्मस्त० गा० २६। २. कर्मस्त० गा० २७। ३. कर्मस्त० गा० २८। ४. कर्मस्त० गा० २९।

प्रमत्तविरतगुणस्थानमें उदयसे व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियाँ—

[मूलगा०२४] [1]थीणतियं चेव तहा आहारदुअं पमत्तविरयम्हि ।

।५।

स्त्यानत्रिक (स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला) तथा आहारकद्विक ये पाँच प्रकृतियाँ प्रमत्तविरतमें उदयसे व्युच्छिन्न होती हैं ।

प्रमत्तविरतमें उदय-व्युच्छिन्न ५ ।

अप्रमत्तविरतगुणस्थानमें उदयसे व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियाँ—

[2]सम्मत्तं संघयणं अंतिमतियमप्पमत्तम्हि[1] ॥३५॥

।४।

सम्यक्त्वप्रकृति और अन्तिम तीन संहनन, ये चार प्रकृतियाँ अप्रमत्तविरतगुणस्थानमें उदयसे व्युच्छिन्न होती हैं ॥३५॥

अप्रमत्तविरतमें उदय-व्युच्छिन्न ४ ।

अपूर्वकरणगुणस्थानमें उदयसे व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियाँ—

[मूलगा०२५] [3]तह णोकसायछक्कं अपुव्वकरणे* य उदयवोच्छिण्णं ।

।६।

नोकषायषट्क अर्थात् हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा; ये छह प्रकृतियाँ अपूर्वकरणगुणस्थानमें उदयसे व्युच्छिन्न होती हैं ।

अपूर्वकरणमें उदय-व्युच्छिन्न ६ ।

अनिवृत्तिकरणगुणस्थानमें उदयसे व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियाँ—

[4]वेयतियं कोह-माण-मायासंजलण अणियट्टिम्हि[2] ॥३६॥

।६।

तीनों वेद, तथा संज्वलन क्रोध, मान, माया; ये छह प्रकृतियाँ अनिवृत्तिकरणगुणस्थानमें उदयसे व्युच्छिन्न होती हैं ॥३६॥

अनिवृत्तिकरणमें उदय-व्युच्छिन्न ६ ।

सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानमें उदयसे व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियाँ—

[मूलगा०२६] [5]संजलणलोहमेयं सुहुमकसायम्हि उदयवोच्छिण्णा ।

।१।

सूक्ष्मकषायगुणस्थानमें एक संज्वलनलोभ प्रकृति ही उदयसे व्युच्छिन्न होती है ।

सूक्ष्मसाम्परायमें उदय-व्युच्छिन्न १ ।

उपशान्तमोहगुणस्थानमें उदयसे व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियाँ—

[6]तह वज्जयणारायं णारायं चेव उवसंते[3] ॥३७॥

।२।

---

1. सं० पञ्चसं० ३, ४७ । 2. ३, ४८ पूर्वार्ध । 3. ३, ४८ उत्तरार्ध । 4. ३, ४९ पूर्वार्ध । 5. ३, ४९ उत्तरार्ध । 6. ३, ५० पूर्वार्ध ।

१. कर्मस्त० गा० ३० । २. कर्मस्त० गा० ३१ । २. कर्मस्त० गा० ३२ ।

* प्रतिषु 'अपुव्वकरणाय' इति पाठः ।

वज्रनाराचसंहनन और नाराचसंहनन ये दो प्रकृतियाँ उपशान्तमोहगुणस्थानमें उदयसे व्युच्छिन्न होती हैं ॥३७॥

उपशान्तमोहमें उदय-व्युच्छिन्न २।

क्षीणमोहगुणस्थानमें उदयसे व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियाँ—

[मूलगा०२७] [1]णिद्दा पयला य तहा खीणदुचरिमम्हि उदयवोच्छिण्णा।

।२।

निद्रा और प्रचला ये दो प्रकृतियाँ क्षीणकषायके द्विचरम समयमें उदयसे व्युच्छिन्न होती हैं।

क्षीणमोहके द्विचरमसमयमें उदय-व्युच्छिन्न २।

[2]णाणंतरायदसयं दंसणचत्तारि चरिमम्हि[1] ॥३८॥

।१४।

ज्ञानावरणकी पाँच, अन्तरायकी पाँच और दर्शनावरणकी चक्षुदर्शनावरणादि चार; ये चौदह प्रकृतियाँ क्षीणमोहके अन्तिम समयमें उदयसे व्युच्छिन्न होती हैं ॥३८॥

क्षीणमोहके चरमसमयमें उदय-व्युच्छिन्न १४।

सयोगिकेवलीगुणस्थानमें उदयसे व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियाँ—

[मूलगा०२८] [3]अण्णयरवेयणीयं ओरालियतेयणामकम्मं च।
छच्चेव य संठाणं ओरालिय-अंगवंगं च[2] ॥३९॥

[मूलगा०२९] आदी वि य संघयणं वण्णचउक्कं च दो विहायगई।
अगुरुगलहुयचउक्कं पत्तेय थिराथिरं चेव[3] ॥४०॥

[मूलगा०३०] सुह-सुस्सरजुयला वि य णिमिणं च तहा हवंति णायव्वा।
एए तीसं पयडी सजोयचरिमम्हि वोच्छिण्णा[4] ॥४१॥

।३०।

[अन्यतरद्वेदनीयं १ औदारिकशरीरं १ तैजसनाम १ कार्मणशरीरनाम १ संस्थानषट्कं ६ औदारिकाङ्गोपाङ्गं १ वज्रवृषभनाराचसंहननं १ वर्णचतुष्कं ४ विहायोगतिद्विकं २ अगुरुलघुचतुष्कं ४] प्रत्येकशरीरं १ स्थिरास्थिरे २ शुभाशुभे २ सुस्वर-दुःस्वरौ २ निर्माणं १ चेति एतास्त्रिंशत्प्रकृतयः ३० सयोगकेवलिगुणस्थानस्य चरमसमये उदयतो व्युच्छिन्ना भवन्तीति ज्ञातव्याः ॥३९-४१॥

साता-असातावेदनीयमेंसे कोई एक वेदनीय, औदारिकशरीर, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, छहों संस्थान, औदारिक-अंगोपांग, आदिका वज्रवृषभनाराचसंहनन, वर्णचतुष्क, प्रशस्त और अप्रशस्त विहायोगति, अगुरुलघुचतुष्क, प्रत्येकशरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ-युगल, सुस्वर-युगल, तथा निर्माण; ये तीस प्रकृतियाँ सयोगिकेवलीके चरमसमयमें उदयसे व्युच्छिन्न होती हैं, ऐसा जानना चाहिए ॥३९-४१॥

सयोगिकेवलीमें उदय-व्युच्छिन्न ३०।

1. सं० पंचसं० ३, ५० उत्तरार्ध। 2. ३, ५१। 3. ३, ५२-५४ पूर्वार्ध।

१. कर्मस्त० गा० ३३। गो० क० २७०। २. कर्मस्त० गा० ३४। ३. कर्मस्त० गा० ३५। ४. कर्मस्त० गा० ३६।

[मूलगा०३१] [1]अण्णयरवेयणीयं मणुयाऊ मणुयगई य बोहव्वा ।
पंचिंदियजाई वि य तस सुभगादेज्ज पज्जत्तं [1] ॥४२॥
बायरजसकित्ती वि य तित्थयरं उच्चगोइयं चेव ।
[मूलगा०३२] एए+ बारह पयडी अजोइम्हि× उदयवोच्छिण्णा [2] ॥४३॥

।१२।

अयोगगुणस्थाने अन्यतरदेकं वेदनीयं १ मनुष्यायुः १ मनुष्यगतिः १ पञ्चेन्द्रियजातिनाम १ त्रस-सुभगादेय-पर्याप्तानि ४ बादरः १ यशःकीर्तिः १ तीर्थंकरत्वं १ उच्चैर्गोत्रं १ चेति एता द्वादश प्रकृतयः अयोगिकेवलिगुणस्थानचरमसमये व्युच्छित्तयो भवन्तीति ज्ञातव्याः । नानाजीवापेक्षयैव उक्ताः । सयोगा-योगयोस्त्वेकं जीवं प्रति साते असाते वा व्युच्छिन्ने त्रिंशद् द्वादश ३०।१२ । नानाजीवान् प्रति उभयच्छेदा-भावादेकत्रिंशत् ३१ त्रयोदश १३ ज्ञातव्याः ॥४२–४३॥

इति गुणस्थानेषु उत्तरप्रकृतीनामुदयभेदः समाप्तः ।

कोई एक वेदनीय, मनुष्यायु, मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, त्रस, सुभग, आदेय, पर्याप्त, बादर, यशःकीर्ति, तीर्थंकर और उच्चगोत्र; ये बारह प्रकृतियाँ अयोगि-जिनके चरम समयमें उदयसे व्युच्छिन्न होती हैं, ऐसा जानना चाहिए ॥४२–४३ ॥

अयोगि-जिनके उदय-व्युच्छिन्न १२ ।

इस प्रकार उदयसे व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियोंका वर्णन समाप्त हुआ ।

[मूलगा०३३] [2]उदयस्सुदीरणस्स य सामित्तादो ण विज्जइ विसेसो ।
मोत्तूण तिण्णि ठाणं पमत्त जोई अजोई य [3] ॥४४॥

अथोदीरणाभेदं गाथाचतुष्केणाह—['उदयस्सुदीरणस्स य' इत्यादि ।] उदयस्योदीरणायाश्च स्वामित्वाद् विशेषो न विद्यते, प्रमत्त-योग्यऽयोगित्रयं स्थानं मुक्त्वा अन्यत्र विशेषो नेत्यर्थः ॥४४॥

स्वामित्वकी अपेक्षा उदय और उदीरणामें प्रमत्तविरत, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली; इन तीन गुणस्थानोंको छोड़कर कोई विशेष (अन्तर) नहीं है ॥४४॥

[मूलगा०३४] [3]तीसं बारस उदयं केवलिणं मेलणं च काऊण ।
सायासायं च तहा मणुआउगमवणियं किच्चा [4] ॥४५॥

[मूलगा०३५] सेसं उगुदालीसं जोगीसु उदीरणा य बोहव्वा ।
अवणिय तिण्णि य पयडी पमत्तउदयम्हि पक्खित्ता [5] ॥४६॥

तत्र को विशेषः इति चेदाह—सयोगाऽयोगयोः उदयव्युच्छित्ती त्रिंशद्-द्वादश एकीकृत्य ४२ तत्र साताऽसातमनुष्यायूंष्यपनेतव्यानि ३९ । शेषैकोनचत्वारिंशत्प्रकृत्युदीरणाः ३९ सयोगकेवलिगुणस्थाने भव-न्तीति बोधव्याः । तदपनीतसाताऽसातामनुष्यायुःप्रकृतित्रयं प्रमत्तसंयते उदयप्रकृतिपञ्चके प्रक्षेपणीयम् । ततः कारणात् प्रमत्ते अष्टौ ८ व्युच्छिद्यन्ते, नाप्रमत्तादिषु तत्त्रयोदीरणाऽस्ति; अप्रमत्तादित्वात् संक्लिष्टेभ्योऽ-न्यत्र तदसम्भवात् ॥४५–४६॥

---

1. सं० पञ्चसं० ३, ५४ उत्त०–५५ । 2. ३,६० । 3. ३, ५८–५९ ।

१. कर्मस्त० गा० ३७ । २. कर्मस्त० गा० ३८ । ३. कर्मस्त० गा० ३९ । गो० क० २७८ ।
४. कर्मस्त० गा० ४० । गो० क० २७९ । ५. कर्मस्त० गा० ४१ ।

+ द एदे । × ब अजोइहि; द अजोगिम्हि ।

[मूलगा०३६] तह चेव अट्ठ पयडी पमत्तविरदे उदीरणा होंति ।
[1]णत्थि त्ति अजोयजिणे उदीरणा इत्ति णायव्वा[1] ॥४७॥

तथा चैव प्रमत्तविरते षष्ठे गुणस्थाने स्त्यानत्रिकं ३ आहारकद्विकं २ साताऽसाताद्विकं २ मनुष्यायुश्चेति १ अष्टौ प्रकृतयः प्रमत्तसंयतान्तानामुदीरणा भवन्ति; अयोगिजिने उदयप्रकृतीनामुदीरणा नास्तीति ज्ञातव्यम् । उदीरणा नाम अपक्वपाचनं दीर्घकाले उदेष्यतोऽग्रनिषेकान् अपकृष्याऽल्पस्थितिकाऽधस्तननिषेकेषु उदयावल्यां दत्वा उदयमुखेनाऽनुभूय कर्मरूपं त्याजयित्वा पुद्गलान्तररूपेण परिणमयतीत्यर्थः ॥४७॥

सयोगिकेवलीके उदयमें आनेवाली तीस और अयोगिकेवलीके उदयमें आनेवाली बारह; इन दोनोंको मिला करके, तथा सातावेदनीय, असातावेदनीय और मनुष्यायु, इन तीनको घटा करके जो उनतालीस प्रकृतियाँ शेष रहती हैं, उनकी उदीरणा सयोगिकेवलीके जानना चाहिए। जो सातावेदनीय आदि तीन प्रकृतियाँ घटाई हैं, उन्हें प्रमत्तविरतके उदयमें आनेवाली पाँच प्रकृतियोंमें प्रक्षेप करना चाहिए। इस प्रकार प्रमत्तविरतमें आठ प्रकृतियोंकी उदीरणा होती है। अयोगिजिनके किसी भी प्रकृतिकी उदीरणा नहीं होती है, ऐसा नियम जानना चाहिए ॥४५-४७॥

[मूलगा०३७] [2]पण णव इगि सत्तरसं अट्ठट्ठ य चउरछक्क छच्चेव ।
इगि दुय* सोलगुदालं उदीरणा होंति जोअंता ÷ ॥४८॥

उदीरणाव्युच्छित्तिमाह—['पण णव इगि सत्तरसं' इत्यादि ।] सयोगपर्यन्तत्रयोदशगुणस्थानेषु यथाक्रममुदीरणाव्युच्छित्तिः पञ्च ५ नवै ९ क १ सप्तदश १७ ऽष्टा ८ ऽष्ट ८ चतुः ४ षट्क ६ षट्कै ६ क १ द्विक २ षोडशै १६ कोनचत्वारिंशत् ३९ प्रकृतयः स्युः ॥४८॥

मिथ्यात्वगुणस्थानसे लेकर सयोगिकेवली पर्यन्त क्रमसे पाँच, नौ, एक, सत्तरह, आठ, आठ, चार, छह, छह, एक, दो, सोलह और उनतालीस प्रकृतियोंकी उदीरणा होती है ॥४८॥

[3]सम्मत्त-सम्मामिच्छत्त-तित्थयराहारदुगेण विणा मिच्छे	५ ११७ ५ ३१	णिरयाणुपुव्वी विणा सासणे	९ १११ ११ ३७

तिरिय-मणुय-देवाणुपुव्वी विणा मिस्सेण सह मिस्से	१ १०० २२ ४८	सव्वाणुपुव्वी-सम्मत्तेण सह असंजदे	१७ १०४ १८ ४४	देसे	८ ८७ ३५ ६१	आहारदुगेण सह अप्पमत्ते	८ ८१ ४१ ६७

अप्पमत्तादिसु	४ ७३ ४९ ७५	६ ६९ ५३ ७९	६ ६३ ५९ ८५	१ ५७ ६५ ९१	२ ५६ ६६ ९२	२ ५४ ६८ ९४	१६ ५२ ७० ९६	तित्थयरेण सह सजोगे	३९ ३९ ८३ १०९	अजोगे	० ० १२२ १४८

तस्यां सत्यां सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्व-तीर्थंकराऽऽहारकद्विकैर्विना मिच्छे (मिथ्यात्वे), नरकगत्यानुपूर्व्यं विना सासादने, तिर्यग्मनुष्यदेवगत्यानुपूर्व्यैर्विना मिश्रेण सह मिश्रे, नरकतिर्यग्मनुष्यदेवगत्यानुपूर्व्य-सम्यक्त्वैः सह असंयते, देशसंयमे, आहारकद्वयेन सह प्रमत्ते, अप्रमत्तादिषु [उक्तप्रकारेण उदीरणाप्रकृतयो ज्ञेयाः] ।

इति गुणस्थानेषु उदीरणाप्रकृतयः कथिताः ।

1. सं० पंचसं० ३, ५७ । 2. ३, ५६ । 3. ३, 'एताः सम्यक्त्व' इत्यादि गद्यभागः (पृ० ६१) ।
१. कर्मस्त० गा० ४२ । २. कर्मस्त० गा० ४३ । गो० क० २८१ ।
* द दुग । ÷ द जोगंता ।

उदीरणा-योग्य एक सौ बाईस प्रकृतियोंमेंसे सम्यक्त्वप्रकृति, सम्यग्मिथ्यात्व, तीर्थंकर और आहारकद्विकके विना मिथ्यात्वगुणस्थानमें एक सौ सत्तरह प्रकृतियोंकी उदीरणा होती है। यहाँ पर उदीरणाके अयोग्य पाँच, और सर्व अनुदीर्ण प्रकृतियाँ इकतीस हैं। मिथ्यात्व आदि पाँच प्रकृतियोंकी उदीरणा-व्युच्छित्ति होती है। सासादनमें नरकानुपूर्वीके विना उदीरणा-योग्य प्रकृतियाँ एक सौ ग्यारह हैं, उदीरणाके अयोग्य ग्यारह और अनुदीर्ण प्रकृतियाँ सैंतीस हैं। यहाँ पर अनन्तानुबन्धी-चतुष्क आदि नौ प्रकृतियोंकी उदीरणा-व्युच्छित्ति होती है। मिश्रमें तिर्यञ्च, मनुष्य और देव-आनुपूर्वीके विना, तथा सम्यग्मिथ्यात्वके साथ उदीरणाके योग्य प्रकृतियाँ सौ हैं। उदीरणाके अयोग्य बाईस और अनुदीर्ण प्रकृतियाँ अड़तालीस हैं। यहाँ पर एक सम्यग्मिथ्यात्वकी उदीरणा-व्युच्छित्ति होती है। अविरतमें उदीरणाके योग्य एक सौ चार हैं, क्योंकि यहाँ सभी आनुपूर्वियोंकी और सम्यक्त्वप्रकृतिकी उदीरणा होने लगती है। उदीरणाके अयोग्य अट्ठारह और अनुदीर्ण प्रकृतियाँ चवालीस हैं। यहाँ पर अप्रत्याख्यानावरण-चतुष्क आदि सत्तरह प्रकृतियोंकी उदीरणा-व्युच्छित्ति होती है। देशविरतमें सत्तासी प्रकृतियोंकी उदीरणा होती है, उदीरणाके अयोग्य पैंतीस है, अनुदीर्ण प्रकृतियाँ इकसठ हैं और प्रत्याख्यानावरण-चतुष्क आदि आठ प्रकृतियोंकी उदीरणा-व्युच्छित्ति होती है। प्रमत्तविरतमें आहारकद्विकके साथ उदीरणा-योग्य प्रकृतियाँ इक्यासी हैं, उदीरणाके अयोग्य इकतालीस हैं अनुदीर्ण प्रकृतियाँ सड़सठ हैं। सातावेदनीय, असातावेदनीय और मनुष्यायुकी उदीरणा छठे गुणस्थान तक ही होती है आगे नहीं होती, ऐसा बतला आये हैं, अतएव इस गुणस्थानमें स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, आहारक-शरीर, आहारक-अंगोपांग, सातावेदनीय, असातावेदनीय और मनुष्यायु; इन आठ प्रकृतियोंकी उदीरणा-व्युच्छित्ति होती है। अप्रमत्तविरतमें उदीरणाके योग्य तिहत्तर, उदीरणाके अयोग्य उनंचास और अनुदीर्ण प्रकृतियाँ पिचहत्तर हैं। यहाँ पर सम्यक्त्वप्रकृति आदि चार प्रकृतियाँ उदीरणासे व्युच्छिन्न होती हैं। अपूर्वकरणमें उदीरणाके योग्य उनहत्तर, उदीरणाके अयोग्य तिरेपन, और अनुदीर्ण प्रकृतियाँ उन्यासी हैं। यहाँ पर हास्यादि छह नोकषायोंकी उदीरणा-व्युच्छित्ति होती है। अनिवृत्तिकरणमें उदीरणाके योग्य तिरेसठ, उदीरणाके अयोग्य उनसठ और अनुदीर्ण प्रकृतियाँ पचासी है। यहाँ पर तीनों वेद और संज्वलन क्रोध, मान, मायाकषाय, इन छह प्रकृतियोंकी उदीरणा-व्युच्छित्ति होती है। सूक्ष्मसाम्परायमें उदीरणाके योग्य सत्तावन, उदीरणाके अयोग्य पैंसठ और अनुदीर्ण प्रकृतियाँ इक्यानवे हैं। यहाँ पर एकमात्र संज्वलनलोभकी उदीरणा-व्युच्छित्ति होती है। उपशान्तकषायमें उदीरणा-योग्य छप्पन, उदीरणाके अयोग्य छयासठ और अनुदीर्ण प्रकृतियाँ बानवे हैं। यहाँ पर वज्रनाराचादि दो संहननोंकी उदीरणा-व्युच्छित्ति होती है। क्षीणकषायके उपान्त्य समय तक चौवन प्रकृतियोंकी उदीरणा होती है, अतः वहाँ पर उदीरणाके अयोग्य अड़सठ और अनुदीर्ण प्रकृतियाँ चौरानवे जानना चाहिए। यहाँ पर निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियोंकी उदीरणाव्युच्छित्ति होती है। इसी गुणस्थानके अन्तिम समयमें उदीरणाके योग्य बावन, उदीरणाके अयोग्य सत्तर और अनुदीर्ण प्रकृतियाँ छ्यानवे हैं। अन्तिम समयमें ज्ञानावरणकी पाँच, दर्शनावरणकी चार और अन्तरायकी पाँच; इन चौदह प्रकृतियोंकी उदीरणा-व्युच्छित्ति होती है। सयोगिकेवली गुणस्थानमें तीर्थङ्कर-प्रकृतिको मिलानेसे उदीरणाके योग्य उनतालीस, उदीरणाके अयोग्य तेरासी और अनुदीर्ण प्रकृतियाँ एक सौ नौ हैं। यतः अयोगिकेवली गुणस्थानमें किसी भी प्रकृतिकी उदीरणा नहीं होती, अतः वहाँ पर उदयसे व्युच्छिन्न होनेवाली बारह प्रकृतियोंमेंसे नौकी उदीरणा सयोगिकेवली गुणस्थानमें ही होती है। शेष तीन (साता-असाता वेदनीय और मनुष्यायु) की उदीरणा छठे गुणस्थानमें होती है, यह पहले बतला आये हैं। इस प्रकार तेरहवें गुणस्थानमें उनतालीस प्रकृतियोंकी उदीरणा-व्युच्छित्ति होती है। अयोगिकेवलीके उदीरणा और उदीरणा-व्युच्छित्तिके

योग्य कोई भी प्रकृति शेष नहीं रही है। अतएव उदीरणाके अयोग्य एक सौ बाईस और अनुदीर्ण प्रकृतियाँ एक सौ अड़तालीस जानना चाहिए। (देखो संदृष्टि-संख्या १२)

इस प्रकार उदीरणासे व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियोंका वर्णन समाप्त हुआ।

गुणस्थानोंमें प्रकृतियोंके क्षयका क्रम—

[मूलगा०३८] [1]अण मिच्छ मिस्स सम्मं अविरयसम्माइ-अप्पमत्तंता।
सुर-णिरय-तिरिय-आऊ णिययभवे चेय खीयंति[1] ॥४६॥

[मूलगा०३९] [2]सोलह अट्ठेक्केक्कं छक्केक्कं चेय खीणमणियट्टी।
एयं सुहुमसराए खीणकसाए य सोलसयं[2] ॥५०॥

[मूलगा०४०] बावत्तरी दुचरिमे तेरह चरिमे अजोइणो खीणा।
अडयालं पयडिसयं खविय जिणं णिव्वुयं वंदे[3] ॥५१॥

अथ गुणस्थानेषु प्रकृतिसत्त्वं गाथापञ्चदशकेनाऽऽह—क्षपकश्रेण्यपेक्षयेदं गाथासूत्रं कथ्यते—['अण मिच्छ मिस्स सम्मं' इत्यादि।] अविरतसम्यक्त्वाद्यप्रमत्तान्ताः अविरतसम्यग्दृष्टयो वा देशसंयता वा प्रमत्तसंयता वा अप्रमत्तसंयता वा अनन्तानुबन्धि-क्रोध-मान-माया-लोभकषायान् ४ मिथ्यात्वं १ मिश्रं सम्यग्मिथ्यात्वं २ सम्यक्प्रकृतिं च क्षयं कुर्वन्ति क्षायिकसम्यग्दृष्टयो भवन्ति। पश्चात् वैमानिकदेवाः सञ्जाताः। बद्धायुष्कात् घर्मायां नारकाः सञ्जाताः, पश्चात् भोगभूमिजास्तिर्यञ्चो वा जाताः। तत्र सुर-नरक-तिर्यगायूंषि निज-निजभवे सुर-नरक-तिर्यग्भवे क्षयन्ति क्षपयन्ति। अबद्धतत्त्रयायुष्को जीवो मनुष्यायुष्कं भुज्यमानः सन् क्षपकश्रेणिषु चटति ॥४९॥

अनिवृत्तिकरणादिषु क्षययोग्यप्रकृतीनां क्रममाह—['सोलह अट्ठेक्केक्कं' इत्यादि।] सप्तप्रकृतीनां असंयतादिचतुर्गुणस्थानेषु कस्मिंश्चिदेकस्मिन् क्षपितत्वात् नरक-तिर्यग्-देवायुषां चाऽबद्धायुष्कत्वेनाऽसत्त्वात् तत्तद्भवे तत्तदायुः क्षपित्वाच्च वा अनिवृत्तिकरणगुणस्थाने षोडशा १६ ष्टा ८ वेक १ मेकं १ षट्क ६ मेक १ मेक १ मेक १ मेकं १ सत्त्वप्रकृतिव्युच्छित्तिः। अनिवृत्तिकरण-गुणस्थान-संयमधरः क्षपकः अनिवृत्तिकरणस्य प्रथमे भागे षोडश प्रकृतीः क्षपयति, द्वितीये अष्टौ ८, तृतीये एकाम् १, चतुर्थे एकाम्, पञ्चमे षट् ६, षष्ठे एकाम् १, सप्तमे एकाम् १, अष्टमे एकाम् १, नवमे भागे एकाम् १ च क्षपयतीत्यर्थः। ततः उपरि सूक्ष्मसाम्पराये एकां प्रकृतिं क्षपयति १। क्षीणकषाये षोडश प्रकृतीः क्षपयति। तत्र सत्त्वम् १६। अयोगे द्विचरमसमये द्वासप्ततिप्रकृतीः क्षपयति, तत्र तासां व्युच्छेदः ७२। चरमसमये त्रयोदश प्रकृतीः क्षपयति, तत्र तासां व्युच्छेदः १३। अयोगिनः क्षीणाः अष्टचत्वारिंशदुत्तरप्रकृतिशतं १४८ क्षयं नीता वा ताः, अयोगिनो जिनान् क्षपयित्वा निर्वृतिं निर्वाणं प्राप्तान् अहं वन्दे नमस्करोमि ॥५०-५१॥

अनन्तानुबन्धी-चतुष्क, मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्त्वप्रकृति, ये सात प्रकृतियाँ अविरत-सम्यक्त्वसे लेकर अप्रमत्तपर्यन्त क्षयको प्राप्त होती हैं। तथा देवायु, नरकायु और तिर्यगायु अपने-अपने भवमें ही क्षयको प्राप्त होती हैं। अनिवृत्तिकरणके नौ भागोंमें क्रमसे सोलह, आठ, एक, एक, छह, और एक, एक, एक, एक प्रकृति क्षयको प्राप्त होती है। सूक्ष्मसाम्परायमें एक

1. सं० पञ्चसं० ३, ६२। 2. ३, ६३-६५।

१. कर्मस्त० गा० ६। २. कर्मस्त० गा० ७। ३. कर्मस्त० गा० ८।

प्रकृति और क्षीणकषायमें सोलह प्रकृतियाँ क्षय होती हैं। अयोगिकेवलीके द्विचरम समयमें बहत्तर और चरम समयमें तेरह प्रकृतियाँ क्षीण होती हैं। इस प्रकार एक सौ अड़तालीस प्रकृतियोंका क्षय करके निर्वाणको प्राप्त हुए जिन भगवान्‌की मैं वन्दना करता हूँ ॥४६-५१॥

कुछ विशेष प्रकृतियोंका सत्त्व-असत्त्व-विषयक नियम—

[1]तित्थयराहारदुअं सासणसम्मम्मि णत्थि संतेण।
मिस्सम्मि य तित्थयरं सत्तं खलु णत्थि णियमेण ॥५२॥

सत्त्वसम्भवाऽसम्भवनियममाह—['तित्थयराहारदुअं' इत्यादि।] सासादनसम्यग्दृष्टौ तीर्थङ्कराऽऽहारकद्विकं सत्त्वेन नास्ति। यस्य तीर्थङ्करप्रकृतिसत्त्वं आहारकद्वयस्य सत्त्वं च भवति, स सासादने नाऽऽगच्छतीत्यर्थः। मिथ्यादृष्टौ तीर्थंकृत्वसत्त्वे आहारकसत्त्वं न, 'तित्थाहारं जुगवं' इति वचनात्। मिश्रे सम्यग्मिथ्यात्वे गुणस्थाने तीर्थंकृत्वसत्त्वं खलु नियमेन नास्ति ॥५२॥

तीर्थङ्कर और आहारकद्विक इन तीन प्रकृतियोंका सत्त्व निश्चयसे सासादन-सम्यक्त्व-गुणस्थानमें नहीं होता है। तथा तीर्थङ्कर प्रकृतिका सत्त्व नियमसे मिश्रगुणस्थानमें नहीं होता है ॥५२॥

[2]सुर-णिरय-तिरियाऊहिं विणा मिच्छे	० १४५ ३	तित्थयराहारदुगूणा सासणे	० १४२ ६	आहारदुगेण सह मिस्से	० १४४ ४

तित्थयरेण सह असंजदे	७ १४५ ३	देसे	७ १४५ ३	पमत्ते	७ १४५ ३	अप्पमत्ते	७ १४५ ३	अपुव्वे	० १३८ १०

अणियट्टिणवभाएसु	१६ १३८ १०	८ १२२ २६	१ ११४ ३४	१ ११३ ३५	६ ११२ ३६	१ १०६ ४२	१ १०५ ४३	१ १०४ ४४	१ १०३ ४५

सुहुमे	१ १०२ ४६	उवसंते	० १०१ ४७	खीणदुचरिमे समए	२ १०१ ४७	खीणचरिमसमए	१४ ९९ ४९	सजोगे	० ८५ ६३

अजोगे दुचरिमसमए	७२ ८५ ६३	चरिमसमए	१३ १३ १३५

सुर-नरक-तिर्यगायुस्त्रिकसत्त्वैर्विना मिच्छे (मिथ्यात्वे), तीर्थंकराऽऽहारकद्विकोनाः सासादने, आहारकद्विकेन सह मिश्रे, तीर्थंकृत्वसत्त्वेन सह असंयते, अथ सप्तप्रकृतीनां असंयतादिचतुर्गुणस्थानेषु एकत्र क्षपयित्वात् नरक-तिर्यग्देवायुषां चाबद्धत्वेन वा तद्भवे क्षपितत्वात् असत्त्वमायुस्त्रिकं एवं दशप्रकृत्यभावात् [उक्तप्रकारेण सत्त्वप्रकृतयो ज्ञेयाः]।

---

1. सं० पञ्चसं० ३, ६१। 2. ३, 'एताः श्वभ्र' इत्यादि गद्यभागः (पृ० ६३)।

मिथ्यात्वगुणस्थानमें देवायु, नरकायु और तिर्यगायुके विना एक सौ पैंतालीस प्रकृतियोंका सत्त्व और तीनका असत्त्व रहता है। सत्त्व-व्युच्छित्ति किसी भी प्रकृतिकी नहीं होती। सासादन गुणस्थानमें तीर्थङ्कर और आहारक-द्विकके विना एक सौ ब्यालीस प्रकृतियोंका सत्त्व और छहका असत्त्व रहता है। मिश्रगुणस्थानमें आहारक-द्विककी भी सत्ता पाई जाती है, अतः एक सौ चवालीसका सत्त्व और चार प्रकृतियोंका असत्त्व रहता है। अविरतसम्यक्त्वमें तीर्थंकर प्रकृतिकी भी सत्ता पाई जाती है, अतः एक सौ पैंतालीस प्रकृतियोंका सत्त्व और तीन प्रकृतियों-का असत्त्व रहता है, इस गुणस्थानमें क्षायिकसम्यग्दृष्टिजीवकी अपेक्षा अनन्तानुबन्धी-चतुष्क और दर्शनमोह-त्रिक इन सात प्रकृतियोंका अभाव पाया जाता है इसलिए सात प्रकृतियोंकी सत्त्व-व्युच्छित्ति होती है। अविरतके समान देशविरत, प्रमत्तविरत और अप्रमत्तविरतमें भी एक सौ पैंतालीस प्रकृतियोंका सत्त्व, तीनका असत्त्व और सातकी सत्त्व-व्युच्छित्ति जानना चाहिए। अपूर्वकरणमें एक सौ अड़तीस प्रकृतियोंका सत्त्व होता है, क्योंकि क्षायिकसम्यक्त्व होते समय अनन्तानुबन्धी-चतुष्क और दर्शनमोह-त्रिकका तो क्षय पहले ही कर दिया था। तथा नरकायु, तिर्यगायु और देवायु, इन तीनकी भी सत्ता यहाँ नहीं पाई जाती है, अतः दश प्रकृतियों-का असत्त्व रहता है। अनिवृत्तिकरणके नौ भागोंमें क्रमसे सोलह, आठ, एक, एक, छह, एक, एक, एक और एक प्रकृतिकी सत्त्वव्युच्छित्ति होती है, अतः उन भागोंमेंसे पहले भागमें एक सौ अड़तीस प्रकृतियोंका सत्त्व और दशका असत्त्व है। यहाँ स्त्यानगृद्धि आदि सोलहकी सत्त्व-व्युच्छित्ति होती है। दूसरे भागमें एक सौ बाईसका सत्त्व और छब्बीसका असत्त्व है, तथा आठ मध्यम कषायोंकी सत्त्व-व्युच्छित्ति होती है। तीसरे भागमें एक सौ चौदहका सत्त्व और चौंतीसका सत्त्व है। यहाँ पर एक नपुंसकवेदकी सत्त्वव्युच्छित्ति होती है। चौथे भागमें एक सौ तेरहका सत्त्व और पैंतीसका असत्त्व है। एक स्त्रीवेदकी सत्त्व-व्युच्छित्ति होती है। पाँचवें भागमें एक सौ बारहका सत्त्व और छत्तीसका असत्त्व है। यहाँ पर हास्यादि छह नोकषायोंकी सत्त्वव्युच्छित्ति होती है। छठे भागमें एक सौ छहका सत्त्व और ब्यालीसका असत्त्व है। एक पुरुषवेदकी सत्त्व-व्युच्छित्ति होती है। सातवें भागमें एक सौ पाँचका सत्त्व और तेतालीसका असत्त्व है तथा एक संज्वलनक्रोधकी सत्त्व-व्युच्छित्ति होती है। आठवें भागमें एक सौ चारका सत्त्व और चवालीसका असत्त्व है, तथा एक संज्वलन मानकी सत्त्व-व्युच्छित्ति होती है। नवें भागमें एक सौ तीनका सत्त्व और पैंतालीसका असत्त्व है, तथा एक संज्वलन मायाकी सत्त्व-व्युच्छित्ति होती है। सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानमें एक सौ दो प्रकृतियोंका सत्त्व और छ्या-लीसका असत्त्व है, तथा एक संज्वलन लोभकी सत्त्व-व्युच्छित्ति होती है। उपशान्तमोहमें एक सौ एक प्रकृतियोंका सत्त्व और सैंतालीसका असत्त्व है। यहाँ पर किसी भी प्रकृतिकी सत्त्व-व्युच्छित्ति नहीं होती। क्षीणमोहके द्विचरम समयमें एक सौ एकका सत्त्व और सैंतालीसका असत्त्व रहता है। यहाँ पर निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियोंकी सत्त्व-व्युच्छित्ति होती है। क्षीणमोहके चरमसमयमें निन्यानवे प्रकृतियोंका सत्त्व और उनंचास प्रकृतियोंका असत्त्व रहता है। यहाँ पर ज्ञानावरणकी पाँच, दर्शनावरणकी चार और अन्तरायकी पाँच; इन चौदह प्रकृतियोंकी सत्त्व-व्युच्छित्ति होती है। सयोगिकेवलीके पचासीका सत्त्व और तिरेसठका असत्त्व रहता है; यहाँ पर किसी भी प्रकृतिकी सत्त्व-व्युच्छित्ति नहीं होती। अयोगिकेवलीके द्विचरम समयमें पचासीका सत्त्व और तिरेसठका असत्त्व रहता है। यहाँ पर आगे कही जानेवाली देव-द्विक आदि बहत्तर प्रकृतियोंकी सत्त्व-व्युच्छित्ति होती है। अयोगिकेवलीके चरम समयमें तेरहका सत्त्व और एक सौ पैंतीसका असत्त्व रहता है। इसी समय मनुष्य-द्विक आदि आगे कही जानेवाली तेरह प्रकृतियोंकी सत्त्व-व्युच्छित्ति होती है। इस प्रकार सर्व गुणस्थानोंमें कर्मोंकी उत्तर प्रकृतियोंका सत्त्व-असत्त्वादि जानना चाहिए। (देखो, संदृष्टि-संख्या १३)

अनिवृत्तिकरणके नौ भागोंमें सत्त्वसे व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियाँ—

[मूलगा० ४१] [1]थीणतियं चेव तहा णिरयदुअं चेव तह य तिरियदुयं ।
इगि-वियलिंदियजाई आयाउज्जोवथावरयं[1] ॥५३॥

[मूलगा० ४२] साहारण सुहुमं चिय सोलस पयडी य होंति णायव्वा ।
।१६।
विदियकसायचउक्कं तइयकसायं च अट्ठे*ए[2] ॥५४॥
।८।

[मूलगा० ४३] [2]एय णउंसयवेयं इत्थीवेयं तहेव एयं च ।
छण्णोकसायछक्कं पुरिसं कोवं च माणो य[3] ॥५५॥

[मूलगा० ४४] मायं चिय अणियट्टीभायं गंतूण संतवोछिण्णा ।
१।१।६।१।१।१।१

अनिवृत्तिवृत्तिकरणगुणस्थानादिषु ताः षोडशादिप्रकृतयः का इति चेदाह—['थीणतियं चेव तहा' इत्यादि ।] अनिवृत्तिकरणस्य नवसु भागेषु सत्त्वव्युच्छेदस्य गाथासार्धत्रयेण सम्बन्धः । स्त्यानगृद्धित्रयं ३ नरकगति-तदानुपूर्व्यद्विकं २ तिर्यग्गति-तदानुपूर्व्यद्विकं २ एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय-जातिचतुष्कं ४ आतपः १ उद्योतः १ स्थावरं १ साधारणं १ सूक्ष्मं १ चेति षोडश प्रकृतयः अनिवृत्तिकरणस्य प्रथमे भागे क्षयं गताः, तत्र तासां व्युच्छेदः १६ ज्ञातव्यः । द्वितीयभागे अप्रत्याख्यानावरणद्वितीयकषायचतुष्कं ४ प्रत्याख्यानावरण-तृतीयकषायचतुष्कं ४ चेति अष्टौ कषायाः क्षयं गताः, तत्र तासां व्युच्छेदः ८ । तृतीयभागे एको नपुंसकवेदो क्षयं गतः १ । चतुर्थभागे एकस्य स्त्रीवेदस्य क्षयः १ । पञ्चमे भागे 'षण्णोकषायषट्कं' हास्यरत्यऽरति-शोक-भय-जुगुप्सानां षण्णां क्षयः ६ । षष्ठे भागे पुंवेदः क्षयं गतः १ । सप्तमे भागे संज्वलनक्रोधः क्षयं गतः १ । अष्टमे भागे संज्वलनमानः क्षयं गतः १ । नवमे भागे संज्वलनमाया क्षयं गता १ । यत्र क्षयस्तत्र तद्-व्युच्छित्तिः, अनिवृत्तिकरणस्य भागान् गत्वा सत्त्वव्युच्छित्तिः ॥५३–५५॥

अनिवृत्तिकरणके प्रथम भागमें स्त्यानत्रिक, नरकद्विक, तिर्यद्विक, एकेन्द्रियजाति, तीन विकलेन्द्रियजातियाँ, आतप, उद्योत, स्थावर, साधारण और सूक्ष्म; ये सोलह प्रकृतियाँ सत्त्वसे व्युच्छिन्न होती हैं, ऐसा जानना चाहिए। अनिवृत्तिकरणके द्वितीय भागमें द्वितीय अप्रत्याख्यानावरणकषाय-चतुष्क और तृतीय प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क; ये आठ प्रकृतियाँ सत्त्वसे व्युच्छिन्न होती हैं। तृतीय भागमें एक नपुंसकवेद, चतुर्थभागमें एक स्त्रीवेद, पंचम भागमें छह नोकषाय, छठे भागमें पुरुषवेद, सातवें भागमें संज्वलन क्रोध, आठवें भागमें संज्वलन मान और अनिवृत्तिकरणके नवें भागमें जाकर संज्वलन माया सत्त्वसे व्युच्छिन्न होती है ॥५३–५५॥

अनिवृत्तिकरणके नवों भागोंमें क्रमशः सत्त्व-व्युच्छिन्न प्रकृतियोंको अंक-संदृष्टि—

१६, ८, १, १, ६, १, १, १, १

---

1. सं० पञ्चसं० ३, ६८–६६ । 2. ३, ७० ।

१. कर्मस्त० गा० ४३ । २. कर्मस्त० गा० ४४ । ३. कर्मस्त० गा० ४५ ।

* द -'व' ।

सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानमें सत्त्वसे व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृति—

[1]लोभं च य संजलणं सुहुमकसायम्हि वोच्छिण्णा[1] ॥५६॥

।१।

तद्गाथार्थमाह—['लोभं च य संजलणं' इत्यादि ।] सूक्ष्मसाम्पराये सूक्ष्मसंज्वलनलोभः व्युच्छिन्नः क्षयं गतः ॥५६॥

सूक्ष्मकषायमें एक संज्वलनलोभप्रकृति सत्त्वसे व्युच्छिन्न होती है ॥५६॥

सूक्ष्मसाम्परायमें सत्त्व-व्युच्छिन्न १

क्षीणकषायगुणस्थानमें सत्त्वसे व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियाँ—

[मूलगा०४५] [2]खीणकसायदुचरिमे णिद्दा पयला य हणइ छदुमत्थो ।
णाणंतरायदसयं दंसण चत्तारि चरिमम्हि[2] ॥५७॥

।२।१४।

क्षीणकषायस्य द्विचरमे उपान्त्यसमये निद्रा-प्रचलाद्वयं छद्मस्थक्षीणकषायो मुनिर्हन्ति, क्षयं नयतीत्यर्थः । चरमसमये ज्ञानावरणपञ्चकं ५ दानाद्यन्तरायपञ्चकं ५ चक्षुर्दर्शनावरणादीनि चत्वारि ४, एवं चतुर्दश प्रकृतयः १४ क्षयं गतास्तत्र व्युच्छेदः ॥५७॥

क्षीणकषायके द्विचरम समयमें छद्मस्थ वीतरागसंयत निद्रा और प्रचला; इन दो प्रकृतियोंका क्षय करता है । तथा चरम समयमें ज्ञानावरणकी पाँच, अन्तरायकी पाँच और दर्शनावरणकी चक्षुदर्शनावरणादि चार; इन चौदह प्रकृतियोंका घात करता है ॥५७॥

क्षीणकषायके उपान्त्य समयमें सत्त्व-व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ २, अन्त्य समयमें १४

अयोगिकेवलीके द्विचरम समयमें सत्त्वसे व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियाँ—

[मूलगा०४६] [3]देवदुअ× पणसरीरं पंच सरीरस्स बंधणं चेव ।
पंचेव य संघायं संठाणं तह य छक्कं च[3] ॥५८॥

[मूलगा०४७] तिण्णि य अंगोवंगं संघयणं तह य होइ छक्कं च ।
पंचेव य वण्ण-रसं दो गंधं अट्ठ फासं च[4] ॥५९॥

[मूलगा०४८] अगुरुयलहुयचउक्कं विहायगइ-दुग थिराथिरं चेव ।
सुह-सुस्सरजुवला वि य पत्तेयं दुब्भगं अजसं[5] ॥६०॥

[मूलगा०४९] आणादेज्जं णिमिणं च य अपज्जत्तं तह य णीचगोदं च ।
अण्णयरवेयणीयं अजोगिदुचरिमम्हि वोच्छिण्णा[6] ॥६१॥

।७२।

1. सं० पञ्चसं० ३, ७१ प्रथमचरणम् । 2. ३, ७१ चरणत्रयम् । 3. ३, ७२–७५ ।

१. कर्मस्त० गा० ४६ । २. कर्मस्त० गा० ४७ । ३. कर्मस्त० गा० ४८ । ४. कर्मस्त० गा० ४९ । ५. कर्मस्त० गा० ५० । ६. कर्मस्त० गा० ५१ ।

×द—दुगं ।

सयोगे क्षयः सत्त्वव्युच्छेदश्च नास्ति। अयोगस्य द्विचरमसमये द्वासप्ततिक्षयः व्युच्छेदः गाथाचतुष्केण कथ्यते—['देवदुअ पणसरीरं' इत्यादि।] देवगति देवगत्याऽऽनुपूर्व्यद्विकं २ औदारिकादिशरीरपञ्चकं ५ औदारिकादिशरीरसंघातपञ्चकं ५ समचतुरस्रादिसंस्थानषट्कं ६ औदारिक-वैक्रियिकाऽऽहारकशरीराङ्गोपाङ्गत्रिकं ३ वज्रऋषभनाराचादिसंहननषट्कं ६ श्वेत-पीतादिवर्णपञ्चकं ५ कटु-तिक्तादिरसपञ्चकं ५ सुगन्ध-दुर्गन्धौ द्वौ २ कर्कश-कोमलादिस्पर्शाष्टकं ८ अगुरुलघूपघातपरघातोच्छ्वासचतुष्कं ४ प्रशस्ताऽप्रशस्तविहायोगतिद्विकं २ स्थिराऽस्थिरे द्वे २ शुभाशुभौ द्वौ २ सुस्वर-दुःस्वरौ द्वौ २ प्रत्येकशरीरं १ दुर्भगः १ अयशःकीर्त्तिः १ अनादेयं १ निर्माणं १ अपर्याप्तं १ नीचैर्गोत्रं १ अन्यतरद् वेदनीयं सातमसातं वा एकं १ चेत्येवं द्वासप्ततिप्रकृतीः अयोगिद्विचरमसमये अयोगिकेवली क्षपयति क्षयं नयति, तत्र तासां सत्त्वव्युच्छेदः ॥५८-६१॥

देवद्विक, पाँचों शरीर, पाँचों शरीरोंके पाँच बन्धन, पाँच संघात, तथा छह संस्थान, तीन अंगोपांग, तथा छह संहनन, पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध, आठ स्पर्श, अगुरुलघुचतुष्क, विहायोगतिद्विक, स्थिर-अस्थिर, शुभ-युगल, सुस्वर-युगल, प्रत्येकशरीर, दुर्भग, अयशःकीर्त्ति, अनादेय, निर्माण, अपर्याप्त, तथा नीचगोत्र और कोई एक वेदनीय; ये बहत्तर प्रकृतियाँ अयोगिकेवलीके द्विचरम समयमें सत्त्वसे व्युच्छिन्न होती हैं ॥५८-६१॥

अयोगीके द्विचरम समयमें सत्त्व-व्युच्छिन्न ७२।

अयोगिकेवलीके चरम समयमें सत्त्वसे व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियाँ—

[मूलगा०५०] [1]अण्णयरवेयणीयं मणुयाऊ मणुअदुअं च बोहव्वा।
पंचिंदियजाई वि य तस सुभगादेज्ज पज्जत्तं[1] ॥६२॥

[मूलगा०५१] बायर जसकित्ती वि य तित्थयरं उच्चगोयरं चेव।
एए तेरस पयडी अजोइचरिमम्हि संतवोच्छिण्णा[2] ॥६३॥

।१३।

अयोगिचरमसमये त्रयोदशप्रकृतिसत्त्वव्युच्छेदं गाथाद्वयेनाह—['अण्णयरवेयणीयं' इत्यादि।] अयोगिचरमसमये अन्यतरद्वेदनीयं सातमसातं वा एकं १ मनुष्यायुः १ मनुष्यगति-मनुष्यगत्यानुपूर्व्यद्वयं २ पञ्चेन्द्रियजातिः १ त्रस-सुभगादेय-पर्याप्तानि चत्वारि ४ बादरत्वं १ यशःकीर्त्तिः १ तीर्थकरत्वं १ उच्चैर्गोत्रं १ चेत्येताः त्रयोदश प्रकृतीः अयोगिचरमसमयस्थः केवली क्षपयति, तत्र तत्सत्त्वव्युच्छेदः १३ ॥६२-६३॥

कोई एक वेदनीय, मनुष्यायु, मनुष्यद्विक, पंचेन्द्रियजाति, त्रस, सुभग, आदेय, पर्याप्त, बादर, यशःकीर्त्ति, तीर्थङ्कर और उच्चगोत्र; ये तेरह प्रकृतियाँ अयोगीके चरम समयमें सत्त्वसे व्युच्छिन्न होती हैं ॥६२-६३॥

अयोगीके चरम समयमें सत्त्व-व्युच्छिन्न १३।

अन्तिम मंगल-कामना—

[मूलगा०५२] *सो मे तिहुअणमहिओ सिद्धो बुद्धो णिरंजणो णिच्चो।
दिसउ वरणाण-दंसण-चरित्तसुद्धिं समाहिं च[3] ॥६४॥

---

1. सं० पञ्चसं० ३, ७६-७७।

१. कर्मस्त० गा० ५२। २. कर्मस्त० गा० ५३। ३. कर्मस्त० गा० ५४।

* गो० क० ३५७। परं तत्रोत्तरार्धे 'दिसदु वरणाणलाहं बुहजणपरिपत्थणं परमसुद्धं' इति पाठः।

कविः स्वात्मलाभं याचते—['सो मे तिहुअणमहिओ' इत्यादि] स सिद्धः स्वात्मोपलब्धिं प्राप्तः मे मह्यं वर-विशिष्ट-केवलज्ञान-दर्शन-यथाख्यातचारित्र-शुद्धिं समाधिं च रत्नत्रयलाभं धर्मध्यान-शुक्लध्यानं वा दिशतु प्रयच्छतु ददातु। स सिद्धः कथम्भूतः? त्रिभुवनेन जनेन महितः पूजितः। पुनः कथम्भूतः? बुद्धः केवलज्ञान-दर्शनमयः, निरञ्जनः—द्रव्य-भाव-नोकर्ममलेभ्यो निःक्रान्तः, नित्यः—स्वस्वरूपादच्युतः। एवम्भूतः सिद्धः मह्यं वरज्ञानादिकं दिशतु ॥६४॥

सर्व कर्म-प्रकृतियोंसे रहित, ऐसे वे शुद्ध, बुद्ध, निरंजन और नित्य सिद्ध भगवान् मुझे उत्कृष्ट ज्ञान, दर्शन, चारित्रकी शुद्धि और समाधिको देवें ॥६४॥

सूरीश्वरश्रेणिशिरोऽवतंसो लोकत्रयी-निर्मित-सत्प्रशंसः।
श्रीमद्गुरुर्ज्ञानविभूषणेन्द्रो जीयात्प्रभाचन्द्रमुनीन्द्रचन्द्रः ॥*

इस प्रकार सत्त्वसे व्युच्छिन्न होनेवाली प्रकृतियोंका वर्णन समाप्त हुआ।

कर्मस्तव-चूलिका

बन्ध, उदय और सत्त्व-व्युच्छित्तिके स्पष्टीकरणार्थ नौ प्रश्न—

[1]छिज्जइ× पढमं बंधो किं उदओ किं च दो वि जुगवं किं।
किं सोदएण बंधो किं वा अण्णोदएण उभएणं ॥६५॥
संतर† णिरंतरो वा किं वा बंधो हवेज्ज उभयं वा।
एवं णवविहपण्हं+ कमसो वोच्छामि एयं तु ॥६६॥

लक्ष्मीवीरेन्दुचिद्भूषान् पाठकान् परमेष्ठिनः।
प्रणम्य चूलिकां वक्ष्ये नवधा-प्रश्नपूर्विकाम् ॥

अथ नवभेदबन्धस्य नवधाप्रश्नोत्तरस्वरूपं गाथात्रयोदशकेनाऽऽह। के नव प्रश्ना इति चेदाऽऽह—['छिज्जइ पढमं बंधो' इत्यादि।] श्रीगुरूणामग्रे शिष्यः नवविधं प्रश्नं करोति—हे भगवन्, प्रथमं पूर्वं बन्धः छिद्यते विनश्यति व्युच्छेदं प्राप्यते, किमिति प्रश्ने १? उदयः विपाकः पूर्वं किं च छिद्यते व्युच्छेदः क्रियते २? द्वावपि बन्धोदयौ युगपत् समं किं वा छिद्यते ३? हे गुरो, स्वोदयेन स्वकीयप्रकृत्युदयेन बन्धः स्वकीयप्रकृतिबन्धः किं वा भवति ४? अन्योदयेन किं बन्धो भवति ५? किं उभयेन स्वपरोदयेन बन्धो भवति ६? हे भगवन्, किं वा सान्तरो बन्धो भवति ७? किं वा निरन्तरः अविच्छिन्नः बन्धो भवति ८? किं वा उभयः सान्तर-निरन्तरो बन्धो भवति ९? एवममुना प्रकारेण शिष्येण नवविधप्रश्ने कृते सति श्रीगुरुराऽऽह—हे शिष्य, क्रमशः अनुक्रमेण नवविधप्रश्नोत्तरान् एतान् अहं वक्ष्यामि; त्वं शृणु ॥६५-६६॥

गुणस्थानोंमें पहले जो बन्ध-उदयादि व्युच्छित्ति बतलाई गई है, उनमेंसे क्या बन्ध प्रथम व्युच्छिन्न होता है १, क्या उदयकी पहले व्युच्छित्ति होती है २, अथवा क्या वे दोनों ही एक साथ व्युच्छिन्न होते हैं ३, क्या स्वोदयसे बन्ध होता है ४, क्या परोदयसे बन्ध होता है

1. सं० पञ्चसं० ३, ७८-७९।

* इतोऽग्रेऽधस्तनः सन्दर्भ उपलभ्यते—

इति श्रीपञ्चसंग्रहाऽपरनामलघुगोमट्टसारसिद्धान्तटीकायां कर्मकाण्डे बन्धोदयोदीरणासत्त्व-प्ररूपणो नाम द्वितीयोऽध्यायः।

× ब छुज्जइ। † द संतरो। + ब द पण्हे।

५, अथवा क्या उभयके उदयसे बन्ध होता है ६, क्या बन्ध सान्तर होता है ७, अथवा निरन्तर होता है ८, अथवा क्या उभयरूप होता है ९ ? ये नौ प्रकारके प्रश्न हैं। अब मैं क्रमसे इनका उत्तर कहूँगा ॥६५-६६॥

उक्त नौ प्रश्नोंमेंसे अल्प वक्तव्यके कारण सर्वप्रथम द्वितीय प्रश्नका समाधान करते हैं—

[1]देवाउ अजसकित्ती वेउव्वाहार-देवजुयलाइं ।
पुव्वं उदओ णस्सइ पच्छा बंधो वि अट्ठण्हं ॥६७॥

।८।

देवायुष्कं १ अयशःकीर्त्तिः १ वैक्रियिकयुगलं २ आहारकयुगलं २ देवयुगलं २ चेत्यष्टानां प्रकृतीनां पूर्वं प्रथमं उदयः नश्यति, पश्चात् बन्धो नश्यति । तथाहि—देवायुषः असंयते उदयव्युच्छित्तिः ४, अप्रमत्ते बन्धव्युच्छेदः ७ । अयशस्कीर्त्तेरसंयते उदयव्युच्छित्तिः ४, प्रमत्ते बन्धव्युच्छित्तिः ६ । वैक्रियिकशरीर-तदङ्गोपाङ्गद्वयस्य २ देवगति-तदानुपूर्व्यद्वयस्य २ च असंयते उदयव्युच्छित्तिः ४, अपूर्वकरणस्य षष्ठे भागे बन्धव्युच्छित्तिः ८ । आहारकद्वयस्य प्रमत्ते उदयव्युच्छित्तिः ६, अपूर्वकरणस्य षष्ठे भागे बन्ध-व्युच्छित्तिः ८ ॥६७॥

देवायु, अयशःकीर्त्ति, वैक्रियिक-युगल, आहारक-युगल और देव-युगल, इन आठ प्रकृतियों-का पहले उदय नष्ट होता है, पीछे बन्ध व्युच्छिन्न होता है ॥६७॥

बन्धसे पूर्व उदय-व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ ८ ।

तृतीय प्रश्नका समाधान—

[2]हस्स रइ भय दुगुंछा सुहुमं साहारणं अपज्जत्तं ।
जाइ-चउक्कं थावर सव्वे व कसाय अंत-लोहूणा ॥६८॥
पुंवेदो मिच्छत्तं णराणुपुव्वी य आयवं चेव ।
इगितीसं पयडीणं जुगवं बंधुदयणासो त्ति ॥६९॥

।३१।

	हासस्य	अपूर्वकरणे		बन्धोदयौ		व्युच्छित्तौ(त्तौ)	युगपत्	समं	भवतः।
बं० ८	रतेः	८	जुगुप्सायाः	८	भयस्य	८	बन्धोदयौ	समं	भवतः।
उ० ८		८		८		८			

सूक्ष्म-साधारणाऽपर्याप्तैकेन्द्रियादिजातिचतुष्क-स्थावराणां अष्टानां प्रकृतीनां ८ मिथ्यात्वगुणस्थाने बन्धोदयौ समं भवतः $\frac{\text{बं० १}}{\text{उ० १}}$ । अन्तलोभोना संज्वलनलोभरहिताः सर्वे कषायाः तेषां युगपत् बन्धोदय-व्युच्छेदौ भवतः। तथा हि—अनन्तानुबन्धिचतुष्टयस्य सासादने बन्धोदयौ समं व्युच्छेदं प्राप्तौ भवतः $\frac{२}{२}$ अप्रत्याख्यानचतु-ष्टयस्य देशविरते युगपद् बन्धोदयौ विच्छेदौ भवतः $\frac{५}{५}$ । क्रोध-मान-मायासंज्वलनत्रयस्य अनिवृत्तिकरणे समं बन्धोदयौ व्युच्छिन्नौ भवतः $\frac{९}{९}$ । पुंवेदस्य अनिवृत्तिकरणे बन्धोदयौ विच्छेदौ समं भवतः $\frac{९}{९}$ । मिथ्यात्वस्य मि-थ्यात्वगुणस्थाने बन्धोदयौ समं व्युच्छेदौ भवतः $\frac{१}{१}$ । नरानुपूर्व्याः असंयते बन्धोदयौ व्युच्छिन्नौ समं $\frac{४}{४}$ भवतः।

1. सं० पञ्चसं० ३, ८० । 2. ३, ८१-८२ ।

आतपस्य मिथ्यात्वे बन्धोदयौ व्युच्छिन्नौ[समं]भवतः $\frac{१}{१}$ । इति एकत्रिंशत्प्रकृतीनां युगपद् बन्धोदयनाश- इति । उदयव्युच्छित्तिर्बन्धव्युच्छित्तिश्च द्वे समं स्त इत्यर्थः ॥६८-६९॥

हास्य, रति, भय, जुगुप्सा, सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त, एकेन्द्रियादि चार जातियाँ, स्थावर, अन्तिम संज्वलनलोभके विना सभी (१५) कषाय, पुरुषवेद, मिथ्यात्व, मनुष्यगत्यानुपूर्वी और आताप; इन इकतीस प्रकृतियोंके बन्ध और उदयका नाश एक साथ होता है ॥६८-६९॥

युगपत् बन्धोदय-व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ ३१ ।

प्रथम प्रश्नका समाधान—

[1]एक्कासी पयडीणं णाणावरणाइयाण सेसाणं ।
पुव्वं बंधो *छिज्जइ पच्छा उदओ त्ति णियमेण ॥७०॥

।८१।

शेषाणां एकाशीतिप्रकृतीनां ज्ञानावरणादीनां पूर्वं प्रथमं बन्धः छिद्यते, पश्चात् उदयः छिद्यते । तथा हि—(उपरि उदयोच्छेदगुणस्थानाङ्कसंख्या, अधस्तात् बन्धोच्छेदगुणस्थानाङ्कसंख्या ।) पञ्चानां ज्ञानावरणानां चतुर्णां दर्शनावरणानां पञ्चानामन्तरायाणां एतासां चतुर्दशप्रकृतीनां १४ क्षीणकषायान्ते उदयव्युच्छेदः, सूक्ष्मसाम्पराये बन्धव्युच्छेदः $\frac{१२}{१०}$ यशस्कीर्त्युच्चगोत्रयोः $\frac{१४}{१०}$ स्त्यानगृद्धित्रयस्य $\frac{६}{२}$ निद्रा-प्रचलयोः $\frac{१२}{८}$ सद्वेद्यस्य $\frac{१४}{१३}$ असद्वेद्यस्य $\frac{१४}{६}$ संज्वलनलोभस्य $\frac{१०}{९}$ स्त्रीवेदस्य $\frac{९}{२}$ नपुंसकवेदस्य $\frac{९}{१}$ अरति-शोकयोः $\frac{८}{६}$ नरकायुषः $\frac{४}{१}$ तिर्यगायुषः $\frac{५}{२}$ मनुष्यायुषः $\frac{१४}{४}$ नरकगतेः $\frac{४}{१}$ तिर्यग्गतेः $\frac{५}{२}$ मनुष्यगतेः $\frac{१४}{४}$ पञ्चेन्द्रियजातेः $\frac{१४}{८}$ औदारिकशरीरस्य $\frac{१३}{४}$ तैजसस्य $\frac{१३}{८}$ कार्मणस्य $\frac{१३}{८}$ समचतुरस्रस्य $\frac{१३}{८}$ मध्यमसंस्थानचतुष्टयस्य $\frac{१३}{२}$ हुण्डकस्य $\frac{१३}{१}$ औदारिकशरीराङ्गोपाङ्गस्य $\frac{१३}{४}$ वज्रवृषभनाराचसंहननस्य $\frac{१३}{४}$ वज्रनाराच-नाराचयोः $\frac{११}{२}$ अर्धनाराच-कीलिकासंहननयोः $\frac{७}{२}$ असम्प्राप्तसृपाटिकासंहननस्य $\frac{७}{२}$ वर्णादिचतुष्टयस्य $\frac{१३}{८}$ नरकगत्यानु-पूर्व्याः $\frac{४}{१}$ तिर्यग्गत्यानुपूर्व्याः $\frac{४}{२}$ अगुरुलघ्वादिचतुष्टयस्य $\frac{१३}{८}$ प्रशस्तविहायोगतेः $\frac{१३}{८}$ अप्रशस्तविहा-योगतेः $\frac{१३}{२}$ त्रस-बादर-पर्याप्तानां $\frac{१४}{८}$ प्रत्येकशरीरस्य $\frac{१३}{८}$ स्थिरस्य $\frac{१३}{८}$ अस्थिरस्य $\frac{१३}{६}$ अशुभस्य $\frac{१३}{६}$ सुभगस्य $\frac{१४}{८}$ दुर्भगस्य $\frac{४}{२}$ सुस्वरस्य $\frac{१३}{८}$ दुःस्वरस्य $\frac{१३}{२}$ आदेयस्य $\frac{१४}{८}$ अनादेयस्य $\frac{४}{२}$ निर्माणस्य $\frac{१३}{८}$ तीर्थविधायितायाः $\frac{१३}{८}$ नीचगोत्रस्य $\frac{५}{२}$ ॥७०॥

शेष बचीं ज्ञानावरणादि कर्मोंकी इक्यासी प्रकृतियोंकी नियमसे पहले बन्ध-व्युच्छित्ति होती है और पीछे उदय-व्युच्छित्ति होती है ॥७०॥

उदयसे पूर्व बन्ध-व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ ८१ ।

---

1. सं० पञ्चसं० ३, ८३-८७ ।

* ब छज्जइ ।

पाँचवें प्रश्नका समाधान—

[1]तित्थयराहारदुअं वेउव्वियछक्क णिरय-देवाऊ ।
एयारह पयडीओ बज्झंति परस्स उदयाहिं ॥७१॥

।११।

यासां परोदयेन बन्धः, ताः प्रकृतयः—तीर्थंकरत्वं १ आहारकद्विकं २ वैक्रियिकषट्कं ६ नरक-देवायुषी २ चेत्येकादश प्रकृतीः परेषामुदयैः बध्नन्ति । तीर्थंकरनाम्नोऽपि परोदयेन बन्धः । कुतः ? तीर्थंकरकर्मोदयसम्भविगुणस्थानयोः सयोगाऽयोगयोस्तद्बन्धाऽनुपलम्भात् । आहारकद्वयस्यापि परोदयेन बन्धः । कुतः ? आहारकद्वयोदयरहितयोरप्रमत्तापूर्वयोर्बन्धोपलम्भात् । नरकगति-नरकगत्यानुपूर्वी-देवगति-देवगत्यानुपूर्वी-वैक्रियिकशरीर-वैक्रियिकशरीराङ्गोपाङ्गानां षण्णां बन्धयोग्येषु गुणेषु परोदयेन बन्धः । कुतः ? स्वोदयेन बन्धस्य विरोधात् । देवनारकायुषोः परोदयेन बन्धः, स्वोदयेन बन्धस्य विरोधात् ॥७१॥

तीर्थङ्कर, आहारक-द्विक, वैक्रियिकषट्क, नरकायु और देवायु; ये ग्यारह प्रकृतियाँ परके उदयमें बँधती हैं ॥७१॥

परोदयसे बँधनेवाली प्रकृतियाँ ११ ।

चौथे प्रश्नका समाधान—

[2]णाणंतरायदसयं दंसणचउ तेय कम्म णिमिणं च ।
थिर-सुहजुयले य तहा वण्णचउं अगुरु मिच्छत्तं ॥७२॥
सत्ताहियवीसाए पयडीणं सोदया दु बंधो त्ति ।

।२७।

ज्ञानावरणान्तरायस्य दश प्रकृतयः १० दर्शनावरणस्य चतस्रः ४ बन्धयोगेषु गुणस्थानेषु स्वोदयेन बध्यन्ते, मिथ्यादृष्ट्यादि-क्षीणकषायान्तेषु एतासां १४ निरन्तरोदयोपलम्भात् । तैजस-कार्मण-निर्माण-स्थिरा-स्थिर-शुभाशुभ-वर्णचतुष्कागुरुलघु-प्रकृतयः द्वादश स्वोदयेनैव बध्यन्ते; ध्रुवोदयत्वात् । मिथ्यात्वस्य स्वोद-येनैव बन्धो भवति; मिथ्यात्वकारणकषोडशप्रकृतिषु पाठात्, बन्धोदययोः समानकाले प्रवृत्तित्वाद्वा । एवं सप्ताधिकविंशतिप्रकृतीनां २७ स्वोदयाद् बन्धो भवतीत्यर्थः ॥७२॥

ज्ञानावरणकी पाँच, अन्तरायकी पाँच, दर्शनावरणकी चक्षुदर्शनावरणादि चार, तैजस-शरीर, कार्मणशरीर, निर्माण, स्थिर-युगल, शुभ-युगल, तथा वर्णचतुष्क, अगुरुलघु और मिथ्यात्व; इन सत्ताईस प्रकृतियोंका स्वोदयसे बन्ध होता है ॥७२॥

स्वोदयसे बँधनेवाली प्रकृतियाँ २७ ।

छठे प्रश्नका समाधान—

सपरोदया दु बंधो हवेज्ज वासीदि सेसाणं ॥७३॥

।८२।

शेषाणां द्व्यशीति-प्रकृतीनां ८२ स्व-परोदयाद् बन्धो भवेत् । तद्यथा—दर्शनावरणपञ्चक ५ वेद्यद्वय २ कषाय षोडश १६ नोकषाय-नवक ९ तिर्यगायुर्मनुष्यायुर्युग्म २ तिर्यग्गति-मनुष्यगतियुगल २ एक-द्वि-त्रि-चतुःपञ्चेन्द्रियजात्यौ ५ दारिकौदारिकाङ्गोपाङ्गं २ संस्थानषट्क ६ संहननषट्क ६ तिर्यग्गति-मनुष्यगति-प्रायोग्यानुपूर्व्यं २ उपघात १ परघातो १ च्छ्वासा १ तपो १ द्योत १ प्रशस्ताप्रशस्तविहायोगति २ त्रस १

1. सं० पञ्चसं० ३,८८, तथाऽग्रेतनगद्यभागः । 2. ३,८९–९० तथाग्रेतनगद्यभागः ।

स्थावर १ बादर १ सूक्ष्म १ पर्याप्तापर्याप्त २ प्रत्येक १ साधारण १ सुभग १ दुर्भग १ सुस्वर १ दुःस्वरा १ देयानादेय २ यशोऽयशःकीर्ति २ नीचोच्चगोत्र २ नामिकानां द्व्यशीतिप्रकृतीनां ८२ स्वपरोदयाद् बन्धो द्रष्टव्यः, स्वोदयेनेव परोदयेनापि बन्धाविरोधात् ॥७३॥

इति द्वितीयप्रश्नत्रयस्य प्रत्युत्तरो जातः ।

शेष रही व्यासी प्रकृतियोंका बन्ध स्वोदयसे भी होता है और परोदयसे भी होता है ॥७३॥

स्व-परोदयसे बँधनेवाली प्रकृतियाँ ८२ ।

आठवें प्रश्नका समाधान—

[1]तित्थयराहारदुअं चउ आउ धुआ य वेइ* चउवण्णं† ।
एयाणं सव्वाणं पयडीणं णिरंतरो बंधो ॥७४॥

।५४।

तृतीयप्रश्नत्रयप्रकृतीर्गाथाचतुष्टयेनाऽऽह—['तित्थयराहारदुअं' इत्यादि ।]

तीर्थंकरत्वं १ आहारकद्विकं २ आयुश्चतुष्कं ४ सप्तचत्वारिंशद् ध्रुवबन्धप्रकृतयः ४७ चेति एकीकृताश्चतुःपञ्चाशत् ५४ । एतासां सर्वासां चतुःपञ्चाशत्प्रकृतीनां निरन्तरो बन्धो भवति । तद्यथा—पञ्चज्ञानावरण ५ नव दर्शनावरण ९ पञ्चान्तराय ५ मिथ्यात्व १ षोडशकषाय १६ भय-जुगुप्सा २ तैजस-कार्मणाऽ २ गुरुलघूपघात २ निर्माण १ वर्णचतुष्कानीति ४७ सप्तचत्वारिंशद् ध्रुवबन्धाः स्युः, एतासां ध्रुवबन्धो भवति । कुतः ? बन्धयोग्यगुणस्थाने नित्यं बन्धोपलम्भात् । एताः ४७ आयुश्चतुष्टयाहारकद्वय-तीर्थंकरैर्युताश्चतुःपञ्चाशत् ५४ । एताश्च बन्धं यान्ति निरन्तरमिति ॥७४॥

ध्रुवबन्धस्य निरन्तरबन्धस्य च को विशेषः ? महान् विशेषो यतः श्लोकौ—

[2]बन्धयोग्यगुणस्थाने याः स्वकारणसन्निधौ ।
सर्वकालं प्रबध्यन्ते ध्रुवबन्धाः भवन्ति ताः ॥१॥
बन्धकालो जघन्योऽपि यासामन्तर्मुहूर्त्तकः ।
बन्धाऽऽसमाप्तितस्तत्र ता निरन्तर-बन्धनाः ॥२॥

तीर्थङ्कर, आहारकद्विक, चारों आयु और ध्रुवबन्धी सैंतालीस प्रकृतियाँ, इन सब चौवन प्रकृतियोंका निरन्तर बन्ध होता है ॥७४॥

निरन्तर बँधनेवाली प्रकृतियाँ ५४ ।

सातवें प्रश्नका समाधान—

[3]संठाणं संघयणं अंतिमदसयं च साइ उज्जोयं ।
इगि विगलिंदिय थावर संढित्थी अरइ सोय अयसं च ॥७५॥
दुब्भग दुस्सरमसुभं सुहुमं साहारणं अपज्जत्तं ।
णिरयदुअमणादेयं असायमथिरं विहायमपसत्थं ॥७६॥
चउतीसं पयडीणं बन्धो णियमेण संतरो भणिओ ।

।३४।

समचतुरस्रसंस्थान-वज्रऋषभनाराचसंहननाभ्यां विना संस्थान-संहननपञ्चकमित्यन्त्यदशकं १० आतपः १ उद्योतः १ एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रियजातिचतुष्कं ४ स्थावरं १ षण्ढस्त्रीवेदौ २ अरतिः १ शोकः १ अयशः-

1. ३, ६३ । 2. ३, ९४-९५ । 3. ३, ९६-९८ ।
*ब चेइ । † ब वण्णा ।

कीर्त्तिः १ दुर्भगः १ दुःस्वरः १ अशुभं १ सूक्ष्मं १ साधारणं १ अपर्याप्तं १ नरकगति-तदानुपूर्वीद्विकं २ अनादेयं १ असातं १ अस्थिरं १ अप्रशस्तविहायोगतिश्चेत्येतासां चतुस्त्रिंशत्प्रकृतीनां ३४ सान्तरो बन्धो भणितः ॥७५-७६॥

को नाम सान्तरं बन्धः ? उक्तञ्च—

[1]बन्धो भूत्वा क्षणं यासामसमाप्तो निवर्तते।
बन्धाऽपूर्त्तेः क्षणेनैताः सान्तरा विनिवेदिताः ॥
[2]अन्तर्मुहूर्त्तमात्रत्वाज्जघन्यस्यापि कर्मणाम्।
सर्वेषां बन्धकालस्य बन्धः सामयिकोऽस्ति नो ॥

अन्तिम पाँच संस्थान, अन्तिम पाँच संहनन, सातावेदनीय, उद्योत, एकेन्द्रियजाति, तीन विकलेन्द्रियजातियाँ, स्थावर, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, अरति, शोक, अयशःकीर्त्ति, दुर्भग, दुःस्वर, अशुभ, सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त, नरकद्विक, अनादेय, असातावेदनीय, अस्थिर और अप्रशस्त-विहायोगति; इन चौंतीस प्रकृतियोंका नियमसे सान्तर बन्ध कहा गया है ॥७५-७६॥

विशेषार्थ—जिसका बन्ध अन्तर-रहित होता है उसे निरन्तरबन्धी प्रकृति कहते हैं और जिसका बन्ध अन्तर-सहित होता है, उसे सान्तरबन्धी प्रकृति कहते हैं।

सान्तर बँधनेवाली प्रकृतियाँ ३४।

नवें प्रश्नका समाधान—

बत्तीस सेसियाणं बंधो समयम्मि उभओ वि ॥७७॥

।३२।

इति पयडीणं बंधोदयोदीरण-सत्ताभेयं समत्तं

कम्मत्थव-चूलिका समत्ता।

शेषाणां द्वात्रिंशत्प्रकृतीनां बन्धः उभयथा सान्तर-निरन्तरो जिनसिद्धान्ते भणितः। तद्यथा—सुरद्विकं २ मनुष्यद्विकं २ औदारिकद्विकं २ वैक्रियिकद्विकं २ प्रशस्तविहायोगतिः १ वज्रवृषभनाराचं १ पर-घातोच्छ्वासौ २ समचतुरस्रसंस्थानं २ पञ्चेन्द्रियजातिः १ त्रस १ बादर १ पर्याप्त १ प्रत्येक १ स्थिर १ शुभ १ सुभग १ सुस्वर १ आदेय १ यशस्कीर्त्तयः १ सातं १ हास्य-रती २ पुंवेदः १ गोत्रद्विकं २ चेति द्वात्रिंशत्प्रकृतयः सप्रतिपक्षे सान्तरा भवन्ति, तस्मिन्नष्टे निरन्तरोदयबन्धा भवन्ति। तत्र सुरद्विकं नरक-तिर्यङ्-मनुष्यद्विकैः मिथ्यादृष्टौ, तिर्यङ्-मनुष्यद्विकाभ्यां सासादने, मनुष्यद्विकेन मिश्रासंयतयोश्च सप्रति-पक्षमिति ज्ञेयम् ॥७७॥

इति तृतीयप्रश्नत्रयस्योत्तरो जातः*।

शेष बची बत्तीस प्रकृतियोंका बन्ध परमागममें उभयरूप अर्थात् सान्तर और निरन्तर कहा गया है ॥७७॥

उभयबन्धी प्रकृतियाँ ३२।

इस प्रकार नवप्रश्नात्मक चूलिका समाप्त हुई।

कर्मस्तव नामक तीसरा अधिकार समाप्त हुआ।

1. सं० पञ्चसं० ३, ६६। 2. ३, १००-१०१।

*इतोऽग्रेऽधस्तनः सन्दर्भ उपलभ्यते—

इति श्रीपञ्चसंग्रहाऽपरनामलघुगोमट्टसारे सिद्धान्तटीकायां कर्मकाण्डे नवप्रश्नोत्तरचूलिका-व्याख्या-तृतीयोऽधिकारः ॥३॥

चतुर्थ-अधिकार

शतक

मंगलाचरण और प्रतिज्ञा—

सयलससिसोमवयणं णिम्मलगत्तं पसत्थणाणधरं ।
पणमिय सिरसा वीरं सुयणाणादो पदं वोच्छं ॥१॥

श्रीवीरेन्दुसुधीभूषान् साधून् सद्गुणधारकान् ।
प्रणिपत्य स्तवं (पदं) वक्ष्ये वीरनाथमुखोद्भवम् ॥

वक्ष्ये अहं वक्ष्यामि । किं तत् ? पदं स्थानं स्थलम्, 'थवं' पाठे वा स्तवं द्वादशाङ्गश्रुतरहस्यम् । कुतः ? श्रुतज्ञानात् । किं कृत्वा ? पूर्वं वीरं शिरसा प्रणम्य । विशिष्टां मां लक्ष्मीं राति ददाति गृह्णातीति वीरः, तं वीरं महावीरं मस्तकेन नमस्कृत्य । कथम्भूतम् ? सम्पूर्णचन्द्रसदृशसौम्यवदनम् । पुनः किंविशिष्टम् ? निर्मलगात्रं प्रस्वेद-मल-मूत्रादिरहितशरीरम् । पुनः किंलक्षणम् ? प्रशस्तज्ञानधरम्—गृहस्थाऽवस्थायां मत्यादिप्रशस्तज्ञानत्रयधारकम्, दीक्षानन्तरं मनःपर्ययज्ञानधारकम्, घातिक्षयानन्तरं केवलज्ञानधारकम् । एवम्भूतं वीरं नत्वा पदं स्तवं वा वक्ष्ये ॥१॥

सम्पूर्ण चन्द्रके समान सौम्य मुख, निर्मल गात्र और प्रशस्त ज्ञानके धारक श्रीवीरभगवान्‌को मस्तक नवा करके प्रणामकर मैं श्रुतज्ञानसे पदका उद्धार करके कहूँगा ॥१॥

[1]णाणोदहिणिस्संदं विण्णाणतिसाहिघायजणणत्थं ।
भवियाण× अमियभूयं जिणवयणरसायणं इणमो ॥२॥

जिनवचनरसायनं इदानीं भो भव्या यूयं श्रृणुत । कथम्भूतं जिनवचनम् ? रसामृतम्—भविकानां भव्यजनानां अमृतभूतं जन्म-जरा-मरणहरम् । पुनः किम्भूतम् ? जिनोदधिनिर्यासम्—ज्ञानसमुद्रस्य निर्यासं सारभूतम् । किमर्थम् ? विज्ञानतृषाभिघातजननार्थम् ॥२॥

यह जिनवचनरूप रसायन श्रुतज्ञानरूप समुद्रका निष्यन्द (निचोड़ या साररूप बिन्दु) है, तथापि भव्य जीवोंकी विशिष्ट ज्ञानकी प्राप्तिरूप तृषा-पिपासाको शान्त करनेके लिए अमृतके समान है ॥२॥

---

1. सं० पञ्चसं० ४, १ ।

× द ब अमय० ।

[मूलगा० १] [1]सुणह इह जीवगुणसण्णिएसु* ठाणेसु सारजुत्ताओ।
वोच्छं कदिवइयाओ गाहाओ दिट्ठिवादाओ[1] ॥३॥

दृष्टिवादाङ्गतः कतिपयगाथाः सारयुक्ताः तत्त्वसहिताः अहं वक्ष्ये। क? स्थानेषु मार्गणादिस्थानेषु। कथम्भूतेषु? जीवगुणसन्निभेषु—जीवानां गुणाः परिणामाः, तत्सदृशस्थानेषु जीवसमास-गुणस्थानक-सन्निभेषु ॥३॥

जीवसमास और गुणस्थान-सम्बन्धी सार-युक्त कुछ गाथाओंको दृष्टिवादसे उद्धार करके मैं कहूँगा, सो हे भव्यजीवो! तुम लोग सावधान होकर सुनो ॥३॥

[मूलगा० २] [2]उवओगा जोगविही जेसु य ठाणेसु जेत्तिया अत्थि।
जं पच्चइओ बंधो हवइ जहा जेसु ठाणेसु[2] ॥४॥

[मूलगा० ३] बंध-उदया† उदीरण‡विधिं च तिण्हं पि तेसि संजोगो।
बंध-विधाणो× य तहा किंचि समासं पवक्खामि[3] ॥५॥

उपयोगा ज्ञान-दर्शनोपयोगाः। योगविधयः औदारिकादिसप्तकाययोगाः, मनो-वचनानामष्टौ; तेषां विधयः विधानानि कर्त्तव्यानि येषु स्थानेषु मार्गणादिस्थानेषु यावन्ति सन्ति, तान् तेषु प्रवक्ष्यामि। य-त्प्रत्ययः बन्धः मिथ्यात्वाद्यास्रवबन्धः येषु स्थानेषु यथा भवति तथा तं तेषु प्रवक्ष्यामि। बन्धोदयोदीरणविधिं मूलोत्तरप्रकृतीनां बन्धविधिं उदयविधानं उदीरणाविधिं चकारात्सत्त्वविधिं तेषु गुणेषु स्थानेषु प्रवक्ष्यामि—तेषां त्रयाणां बन्धोदयोदीरणानां संयोगान् प्रवक्ष्यामि। क? बन्धविधाने बन्धविधौ तथा किञ्चित् समासं इति जीवसमासान् प्रवक्ष्यामि तेषु स्थानेषु ॥४–५॥

[3] ये सन्ति यस्मिन्नुपयोगयोगाः सप्रत्ययास्तान्निगदामि तत्र।
जीवे गुणे वा परिणामतोऽहमेकत्र बन्धादिविधिं च किञ्चित् ॥१॥

जिन जीवसमास या गुणस्थानोंमें जितने योग और उपयोग होते हैं, जिन-जिन स्थानोंमें जिन-जिन प्रत्ययोंके निमित्तसे जिस प्रकार बन्ध होता है; तथा बन्ध, उदय और उदीरणाके जितने विकल्प संभव हैं और उन तीनोंके संयोगरूप जितने भेद हो सकते हैं, उन्हें तथा बन्धके चारों भेदोंका मैं संक्षेपसे कुछ व्याख्यान करूँगा ॥४–५॥

[मूलगा० ४] [4]एइंदिएसु चत्तारि हुंति विगलिंदिएसु छच्चेव।
पंचिंदिएसु एवं चत्तारि हवंति ठाणाणि[4] × ॥६॥

[मूलगा० ५] [5]तिरियगईए चोद्दस हवंति सेसासु जाण दो दो दु।
मग्गणठाणस्सेवं णेयाणि समासठाणाणि[5] ॥७॥

+अथ मार्गणासु जीवसमासाः कथ्यन्ते—तिर्यग्गतौ चतुर्दश जीवसमासा भवन्ति। शेषासु तिसृषु गतिषु द्वौ द्वौ जीवसमासौ भवतः। एवं गतिमार्गणायां जीवसमासा ज्ञातव्याः ॥७॥

जीवसमासके सर्व स्थान चौदह हैं, उनमेंसे एकेन्द्रियोंमें चार स्थान होते हैं। विकलेन्द्रियों-में छह स्थान होते हैं और पंचेन्द्रियोंमें चार स्थान होते हैं। तिर्यग्गतिमें चौदह जीवसमास होते

1. सं० पञ्चस० ४, २। 2. ४, ३। 3. ४, ३। 4. ४, ४। 5. ४, ५।

१. शतक० १। २. शतक० २। ३. शतक० ३। ४. शतक० ४। ५. शतक० ५।

*द -सण्णिहेसु। †ब -उदय। ‡ब -उदीरणा। ×द ब -विधाणे वि। +संस्कृतटीका नोपलभ्यते।

हैं। शेष तीन गतियोंमें दो-दो ही जीवसमास जानना चाहिए। इस प्रकार सर्व मार्गणास्थानोंमें भी जीवसमासस्थानोंको लगा लेना चाहिए ॥६-७॥

अब चौदह मार्गणाओंमें जीवसमासोंको बतलाते हैं—

णिरय-णर-देवगईसुं सण्णी पज्जत्तया अपुण्णा य।
एइंदियाइं चउदस तिरियगईए हवंति सव्वे वि ॥८॥
एइंदिएसु बायर-सुहुमा चउरो अपुण्ण पुण्णा य।
पज्जत्तियरा वियल† सयल‡ सण्णी असण्णिदरा पुण्णियरा ॥९॥
पंचसु थावरकाए बायर सुहुमा अपुण्ण पुण्णा य।
वियले पज्जत्तियरा सयले सण्णियर पुण्णियरा ॥१०॥

नरकगतौ पञ्चेन्द्रियसंज्ञिपर्याप्ताऽपर्याप्तौ द्वौ द्वौ, मनुष्यगत्यां पञ्चेन्द्रियसंज्ञिपर्याप्तौ द्वौ द्वौ, देवगतौ पञ्चेन्द्रियसंज्ञिपर्याप्ताऽपर्याप्तौ द्वौ द्वौ, तिर्यग्गत्यां एकेन्द्रियादिचतुर्दशजीवसमासाः सर्वे १४ भवन्ति ॥८॥

ते के ?

बायर-सुहुमेगिंदिय बि-ति- चउरक्खा असण्णि-सण्णी य।
पज्जत्ताऽपज्जत्ता जीवसमासा चउद्दसा होंति ॥२॥ इति।

१ गतिमार्गणायां जीवसमासाः—

न०	ति०	म०	दे०
२	१४	२	२

इन्द्रियमार्गणायां एकेन्द्रियेषु बादर-सूक्ष्मैकेन्द्रियौ पर्याप्ताऽपर्याप्तौ इति चत्वारः ४। विकले विकलत्रये द्वीन्द्रिये त्रीन्द्रिये चतुरिन्द्रिये च पर्याप्तेतरौ निजपर्याप्ताऽपर्याप्तौ द्वौ द्वौ प्रत्येकं भवतः २, २, २। सकले पञ्चेन्द्रिये संज्ञ्यऽसंज्ञि-पर्याप्ताऽपर्याप्ताश्चत्वारः ४। ॥९॥

२ इन्द्रियमार्गणायां जीवसमासाः—

ए०	द्वी०	त्री०	च०	पं०
४	२	२	२	४

कायमार्गणायां पृथिव्यादिपञ्चसु प्रत्येकं बादर-सूक्ष्मौ पर्याप्ताऽपर्याप्तौ इति चत्वारः स्थावरकाये जीवसमासा भवन्ति। विकले विकलत्रये पर्याप्ताऽपर्याप्ता इति षट्। सकले पञ्चेन्द्रिये संज्ञ्यऽसंज्ञि—पर्याप्ताऽपर्याप्ता इति चत्वारः। एवं दश जीवसमासाः १० त्रसकाये भवन्ति ॥१०॥

३ कायमार्गणायां जीवसमासाः—

पृ०	अ०	ते०	वा०	व०	त्र०
४	४	४	४	४	१०

नरक, मनुष्य और देव इन तीन गतियोंमें संज्ञि-पर्याप्तक और संज्ञि-अपर्याप्तक ये दो-दो जीवसमास होते हैं। तिर्यग्गतिमें एकेन्द्रियको आदि लेकर संज्ञिपंचेन्द्रिय तकके जीवोंकी अपेक्षा सर्व ही चौदह जीवसमास होते हैं (१)। इन्द्रियमार्गणाकी अपेक्षा एकेन्द्रियोंमें बादर-पर्याप्त, बादर-अपर्याप्त, सूक्ष्म-पर्याप्त और सूक्ष्म-अपर्याप्त ये चार जीवसमास होते हैं। विकलेन्द्रियोंमें द्वीन्द्रिय-पर्याप्त, द्वीन्द्रिय-अपर्याप्त; त्रीन्द्रिय-पर्याप्त, त्रीन्द्रिय-अपर्याप्त; चतुरिन्द्रिय-पर्याप्त और चतुरिन्द्रिय-अपर्याप्त ये छह जीवसमास होते हैं। पंचेन्द्रियोंमें असंज्ञि-पर्याप्त, असंज्ञि-अपर्याप्त; संज्ञि-पर्याप्त और संज्ञि-अपर्याप्त ये चार जीवसमास होते हैं (२)। कायमार्गणाकी अपेक्षा पाँचों स्थावरकायोंमेंसे प्रत्येकमें बादर-सूक्ष्म और पर्याप्त-अपर्याप्त; ये चार-चार जीवसमास होते हैं। त्रसजीवोंमेंसे विकलत्रयोंमें प्रत्येकके पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो-दो जीवसमास होते हैं। तथा सकलेन्द्रियोंमें संज्ञी, असंज्ञी तथा उनके पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे दो-दो मिलकर चार जीवसमास होते हैं (३) ॥८-१०॥

---

†ब -वियले। ‡ब सयले।

तिय वचि चउ मणजोए सण्णी पज्जत्तओ दु णायव्वो ।
असच्चमोसवचिए पंच वि वेइंदियाइ पज्जत्ता ॥११॥
ओरालमिस्स-कम्मे सत्ताऽपुण्णा य सण्णिपज्जत्तो ।
ओरालकायजोए पज्जत्ता सत्त णायव्वा ॥१२॥
वेउव्वाहारदुगे सण्णी पज्जत्तओ मुणेयव्वो ।
वेउव्वमिस्सजोए सण्णि-अपज्जत्तओ होइ ॥१३॥

योगमार्गणायां त्रिकवचनयोगेषु चतुर्मनोयोगेषु च पञ्चेन्द्रियसंज्ञिपर्याप्त एक एव ज्ञातव्यः १। असत्यमृषावचि अनुभयवाग्योगे द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिय-संज्ञ्यऽसंज्ञिपर्याप्ताः पञ्च जीवसमासाः भवन्ति ॥११॥

औदारिकमिश्रकाययोगे कार्मणकाययोगे च अपर्याप्ताः सप्त, सयोगिकेवलिनः संज्ञिपर्याप्त एकः, एवमष्टौ ८। सयोगस्य कपाटयुग्मसमुद्घातकाले औदारिकमिश्रकाययोगः, दण्ड-(द्वय-) प्रतरयोः लोकपूरणकाले च कार्मणकाययोग इति। औदारिककाययोगे सप्त पर्याप्ताः ७ ज्ञातव्याः ॥१२॥

वैक्रियिककाययोगे संज्ञिपर्याप्त एकः १। आहारकद्विके संज्ञ्यऽपर्याप्त एक एव १ ज्ञातव्यः। वैक्रियिकमिश्रकाययोगे पञ्चेन्द्रियसंज्ञ्यऽपर्याप्तो भवति १ ॥१३॥

४ योगमार्गणायां	स०	मृ०	उ०	अ०	स०	मृ०	उ०	अ०	औ०	औ०मि०	वै०	वै०मि०	आ०	आ०मि०	का०
जीवसमासाः—	१	१	१	१	१	१	१	५	७	८	१	१	१	१	८

योगमार्गणाकी अपेक्षा असत्यमृषावचनयोगको छोड़कर शेष तीन वचनयोगोंमें और चारों मनोयोगोंमें एक संज्ञिपर्याप्तक जीवसमास जानना चाहिए। असत्यमृषावचनयोगमें द्वीन्द्रियादि पाँच पर्याप्तक जीवसमास होते हैं। औदारिकमिश्रकाययोग और कार्मणकाययोगमें सातों अपर्याप्तक तथा संज्ञिपर्याप्तक ये आठ जीवसमास होते हैं। औदारिककाययोगमें सातों पर्याप्तक जीवसमास जानना चाहिए। वैक्रियिककाययोग, आहारककाययोग और आहारकमिश्रकाययोगमें एक संज्ञिपर्याप्तक जीवसमास जानना चाहिए। वैक्रियिकमिश्रकाययोगमें एक संज्ञिपर्याप्तक जीवसमास होता है ॥११-१३॥

इत्थि-पुरिसेसु णेया सण्णि असण्णी अपुण्ण पुण्णा य ।
संढे कोहाईसु य जीवसमासा हवंति सव्वे वि ॥१४॥

स्त्रीवेदे पुंवेदे च पञ्चेन्द्रियसंज्ञ्यऽसंज्ञिनौ पर्याप्ताऽपर्याप्तौ इति चत्वारः ४। षण्ढवेदे क्रोधकषाये मानकषाये मायाकषाये लोभकषाये च सर्वे चतुर्दश जीवसमासा भवन्ति ॥१४॥

५ वेदमार्गणायां	स्त्री०	पु०	नपुं०
जीवसमासाः-	४	४	१४

६ कषायमार्गणायां	क्रो०	मा०	मा०	लो०
जीवसमासाः-	१४	१४	१४	१४

वेदमार्गणाकी अपेक्षा स्त्रीवेद और पुरुषवेदमें संज्ञी, असंज्ञी, पर्याप्तक और अपर्याप्तक ये चार जीवसमास होते हैं। नपुंसकवेदमें तथा कषायमार्गणाकी अपेक्षा क्रोधादि चारों कषायोंमें सर्व ही जीवसमास होते हैं ॥१४॥

मइ-सुय-अण्णाणेसु य चउदस जीवा सुओहिमइणाणे ।
सण्णी पुण्णापुण्णा विहंग-मण-केवलेसु संपुण्णो ॥१५॥

मति-श्रुताज्ञानद्वये चतुर्दश जीवसमासाः स्युः १४ । श्रुतज्ञाने अवधिज्ञाने मतिज्ञाने च पञ्चेन्द्रिय-संज्ञिपर्याप्ताऽपर्याप्तौ २ । विभंगज्ञाने मनःपर्ययज्ञाने केवलज्ञाने च पञ्चेन्द्रियसंज्ञिपर्याप्तः पूर्णपर्याप्त एक एव १ । केवलज्ञाने तु संज्ञिपर्याप्तसयोगेऽपर्याप्तौ (सयोगे संज्ञिपर्याप्ताऽपर्याप्तौ) द्वौ । अयं विशेषः गोमट्ट-सारेऽस्ति ॥१५॥

ज्ञानमार्गणायां जीवसमासाः—	कुम०	कुश्रु०	विभं०	मति०	श्रु०	अव०	मनः	केव०
	१४	१४	१	२	२	२	१	१

ज्ञानमार्गणाकी अपेक्षा मत्यज्ञान और श्रुताज्ञानमें चौदह ही जीवसमास होते हैं। मति, श्रुत और अवधिज्ञानमें संज्ञिपर्याप्त और अपर्याप्तक ये दो जीवसमास होते हैं। विभंगावधि, मनःपर्यय और केवलज्ञानमें एक संज्ञिपर्याप्तक जीवसमास होता है ॥१५॥

सामाइयाइ-छस्सु य सण्णी पज्जत्तओ मुणेयव्वो ।
अस्संजमे अचक्खू चउदस जीवा हवंति णायव्वा ॥१६॥

चक्खूदंसे छद्धा जीवा चउरिंदियाइ ओहम्मि ।
सण्णी पज्जत्तियरा केवलदंसे य सण्णि-संपुण्णो ॥१७॥

सामायिकादिषु षट्सु पञ्चेन्द्रियसंज्ञी पर्याप्तको मन्तव्यः । सामायिकच्छेदोपस्थापनयोः संज्ञि-पर्याप्ताऽऽहारकाऽपर्याप्तौ द्वौ, अयं तु विशेषः । देशसंयम-परिहारविशुद्ध-सूक्ष्मसाम्परायेषु पञ्चेन्द्रियसंज्ञि-पर्याप्त एकः १ । यथाख्याते तु संज्ञिपर्याप्त-समुद्घातकेवल्यऽपर्याप्तौ द्वौ २, अयमपि विशेषः । असंयमे अचक्षुर्दर्शने च चतुर्दश जीवसमासा ज्ञातव्याः ॥१६॥

८ संयममार्गणायां जीवसमासाः—	सा०	छे०	परि०	सू०	यथा०	देश०	असं०
	१	१	१	१	१	१	१४

चक्षुर्दर्शने चतुरिन्द्रियाऽसंज्ञि-संज्ञि-पर्याप्ताऽपर्याप्ताः षट् ६ । अपर्याप्तकालेऽपि चक्षुर्दर्शनस्य क्षयोप-शमसद्भावात्, शक्त्यपेक्षया वा षड्धा जीवसमासा भवन्ति ६ । अवधिदर्शने पञ्चेन्द्रियसंज्ञिपर्याप्ताऽपर्याप्तौ द्वौ २ । केवलदर्शने संज्ञिसम्पूर्णपर्याप्त एकः । समुद्घातसयोग्यऽपर्याप्तो विशेषः ॥१७॥

९ दर्शनमार्गणायां जीवसमासाः—	चक्षु०	अच०	अव०	केव०
	६	१४	२	२

संयममार्गणाकी अपेक्षा सामायिक आदि पाँच संयम और देशसंयम, इन छहोंमें एक संज्ञिपर्याप्तक जीवसमास जानना चाहिए। असंयम और दर्शनमार्गणाकी अपेक्षा अचक्षुदर्शनमें चौदह ही जीवसमास जानना चाहिए। चक्षुदर्शनमें चतुरिन्द्रियादि छह जीवसमास होते हैं। अवधिदर्शनमें संज्ञिपर्याप्तक और अपर्याप्तक ये दो जीवसमास होते हैं। केवलदर्शनमें एक संज्ञि-पर्याप्तक जीवसमास होता है ॥१६–१७॥

किण्हाइतिए चउदस तेआइतिए य सण्णि दुविहा वि ।
भव्वाभव्वे चउदस उवसमसम्माइ सण्णि-दुविहो वि ॥१८॥

सासणसम्मे सत्त अपज्जत्ता होंति सण्णि-पज्जत्तो ।
मिस्से सण्णी पुण्णो मिच्छे सव्वे वि दोहव्वा ॥१९॥

१द दुवि होदि ।

कृष्णादित्रिके अशुभलेश्यासु तिसृषु प्रत्येकं चतुर्दश जीवसमासाः स्युः १४। तेजोलेश्यादित्रिके पीत-पद्म-शुक्ललेश्यासु तिसृषु प्रत्येकं पञ्चेन्द्रियसंज्ञिपर्याप्ताऽपर्याप्तौ द्वौ द्वौ २। शुक्ललेश्यायां विशेषः—केवल्यऽपर्याप्ताऽपर्याप्ते एवान्सर्भावाद् द्वौ २। भव्याऽभव्ययोः चतुर्दश जीवसमासाः १४। उपशमसम्यक्त्वादिषु त्रिषु पञ्चेन्द्रियसंज्ञिद्विविधः पर्याप्ताऽपर्याप्तौ द्वौ २ भवतः। अत्र विशेषः। को विशेषः? प्रथमोपशमसम्यक्त्वे मरणाभावात्संज्ञिपर्याप्त एक एव २। द्वितीयोपशमसम्यक्त्वे मनुष्यसंज्ञिपर्याप्तदेवासंयतापर्याप्तौ द्वौ २। वेदकसम्यक्त्वे संज्ञिपर्याप्ताऽपर्याप्तौ द्वौ २। अपर्याप्तः कथम्? घर्मानारकस्य भवनत्रयवर्जितदेवस्य भोगभूमिनर-तिरश्चोः अपर्याप्तत्वेऽपि तत्सम्भवात्। क्षायिकसम्यक्त्वे तु जीवसमासौ द्वौ संज्ञिपर्याप्ताऽपर्याप्तौ। संज्ञिपर्याप्तः १, बद्धायुष्कापेक्षया घर्मानारक-भोगभूमिनर-तिर्यग्-वैमानिकदेवाऽपर्याप्तश्चेति १, [एवं] द्वौ २। ॥१८॥

१० लेश्यामार्गणायां जीवसमासाः—	कृ०	नी०	का०	ते०	प०	शु०
	१४	१४	१४	२	२	२

११ भव्यमार्गणायां जीवसमासाः—	भव्य०	अभव्य०
	१४	१४

१२ सम्यक्त्वमार्गणायां जीवसमासाः—	प्रथ०	द्विती०	वे०	क्षा०	सा०	मिश्र	मिथ्या०
	१	२	२	२	८,७,२	१	१४

सासादनसम्यक्त्वे अपर्याप्ताः सप्त भवन्ति, एकः पञ्चेन्द्रियसंज्ञिपर्याप्तो भवति १, एवमष्टौ ८। तद्यथा—बादर एकेन्द्रियापर्याप्तः १, द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियापर्याप्ताः ३, पञ्चेन्द्रिय-तत्संज्ञ्यऽसंज्ञ्यऽपर्याप्तौ द्वौ २, संज्ञिपर्याप्तः एकः १, एवं सप्त ७। द्वितीयोपशमसम्यक्त्वविराधकस्य सासादनत्वप्राप्तिपक्षे च संज्ञिपर्याप्तदेवापर्याप्तावपि द्वौ सासादने ।७।२।८। अत्र द्वितीयोपशमे श्रेणिपरिभ्रष्ट[स्य] निश्चयेन देवगतौ गमनं भवति, तेन देवभवेऽपर्याप्तकाले सास्वादनः प्राप्यते। तेन सास्वादने सप्ताऽपर्याप्ता जीवसमासा भवन्ति ८। अत्र विशेषविचारोऽस्ति। मिश्रे पञ्चेन्द्रियसंज्ञी पूर्णः एकः १। मिथ्यात्वे सर्वे चतुर्दश जीवसमासा ज्ञातव्याः १४ ॥१९॥

लेश्यामार्गणाकी अपेक्षा कृष्णादि तीनों अशुभलेश्याओंमें चौदह-चौदह जीवसमास होते हैं। तेज आदि तीनों शुभलेश्याओंमें संज्ञिपर्याप्तक और अपर्याप्तक ये दो जीवसमास होते हैं। भव्यमार्गणाकी अपेक्षा भव्य और अभव्यके चौदह ही जीवसमास होते हैं। सम्यक्त्वमार्गणाकी अपेक्षा औपशमिकसम्यक्त्व आदि तीनों सम्यग्दर्शनोंमें संज्ञिपर्याप्तक और अपर्याप्तक ये दो-दो जीवसमास होते हैं। सासादनसम्यक्त्वमें विग्रहगतिकी अपेक्षा सातों अपर्याप्तक और संज्ञिपर्याप्तक ये आठ जीवसमास होते हैं। मिश्र अर्थात् सम्यग्मिथ्यात्वमें एक संज्ञिपर्याप्तक जीवसमास होता है। मिथ्यात्वमें सर्व ही जीवसमास जानना चाहिए ॥१८-१९॥

सण्णिम्मि सण्णि-दुविहो इयरे ते वज्ज बारसाहारे।
चउदस जीवा इयरे सत्त अपुण्णा य सण्णि-संपुण्णा ॥२०॥

एवं मग्गणासु जीवसमासा समत्ता।

संज्ञिमार्गणायां संज्ञिजीवे पञ्चेन्द्रियसंज्ञिपर्याप्ताऽपर्याप्तौ द्वौ २। इतरे असंज्ञिजीवे तौ संज्ञ्युक्तपर्याप्तापर्याप्तौ द्वौ वर्जयित्वा अन्ये द्वादश भवन्ति १२। आहारमार्गणायां आहारकजीवे चतुर्दश जीवसमासाः स्युः १४। इतरे अनाहारकजीवे विग्रहगतिमाश्रित्य अपर्याप्ताः सप्त ७, संज्ञिपर्याप्त एकः १, एवमष्टौ ८। सयोगस्य प्रतरद्वये लोकपूरणकाले कार्मणस्य अनाहारकत्वात् संज्ञिपूर्णः एक ॥२०॥

१३ संज्ञिमार्गणायां जीवसमासाः—	सं०	असं०	१४ आहारमार्गणायां जीवसमासाः—	आ०	अना०
	२	१२		१४	८

इति चतुर्दशसु मार्गणासु जीवसमासाः समाप्ताः।

अथ गोमट्टसारे गुणस्थानेषु जीवसमासानाह—

मिच्छे चोद्दस जीवा सासण अयदे पमत्तविरदे य ।
सण्णिदुगं सेसगुणे सण्णीपुण्णो दु खीणो त्ति[1] ॥३॥

मिथ्यादृष्टौ जीवसमासाश्चतुर्दश १४ । सासादनेऽविरते प्रमत्ते चशब्दात्सयोगे च पञ्चेन्द्रियसंज्ञि-पर्याप्तौ द्वौ २ । शेषाष्टगुणस्थानेषु अपिशब्दादयोगे च संज्ञिपर्याप्त एक एव १ ।

गुणस्थानेषु	मि०	सा०	मि०	अ०	दे०	प्र०	अ०	अ०	अ०	सू०	उ०	क्षी०	स०	अ०
जीवसमासाः–	१४	२	१	२	१	२	१	१	१	१	१	१	२	१

इति मार्गणा-गुणस्थानेषु जीवसमासाः समाप्ताः ।

अथ गुणस्थानेषु पर्याप्तीः प्राणांश्चाऽऽह—

पज्जत्ती पाणा वि य सुगमा भाविंदियं ण जोगिम्हि ।
तहि वाचुस्सासाउगकायत्तिगदुगमजोगिणो आऊ[2] ॥४॥

मिथ्यादृगादिक्षीणकषायपर्यन्तेषु षट् पर्याप्तयः ६, दश प्राणाः १० । सयोगिजिने भावेन्द्रियं न, द्रव्येन्द्रियाऽपेक्षया षट् पर्याप्तयः ६, वागुच्छ्वासनिःश्वासाऽऽयुःकायप्राणाश्चत्वारश्च भवन्ति ४ । शेषेन्द्रिय-मनः-प्राणाः षट् न सन्ति, तत्रापि वाग्योगे विश्रान्ते त्रयः ३ । पुनः उच्छ्वास-निःश्वासे विश्रान्ते द्वौ २ । अयोगे आयुःप्राणः एकः १ ।

गुणस्थानेषु पर्याप्तयः प्राणाश्च—

गुण०	मि०	सा०	मि०	अ०	देश०	प्रम०	अप्र०	अ०	अ०	सू०	उप०	क्षी०	सयो०	अयो०
पर्याप्ति	६	६	६	६	६	६	६	६	६	६	६	६	द्र० ६	०
प्राण	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०	४, ३, २	१

अथ गुणस्थानेषु संज्ञाः—

छट्ठो त्ति पढमसण्णा सकज्ज सेसा य कारणवेक्खा ।
पुव्वो पढमणियट्टी सुहुमो त्ति कमेण सेसाओ[3] ॥५॥

मिथ्यादृष्टयादिप्रमत्तान्तं सकार्याः आहार-भय-मैथुन-परिग्रह-संज्ञाश्चतस्रः ४ स्युः । षष्ठे गुणस्थाने आहारसंज्ञा व्युच्छिन्ना, शेषास्तिस्रः अप्रमत्तादिषु कारणास्तित्वाऽपेक्षया अपूर्वकरणान्तं कार्यरहिता भवन्ति ३ । तत्र भयसंज्ञा व्युच्छिन्ना । अनिवृत्तिकरणप्रथमसवेदभागे कार्यरहिते मैथुन-परिग्रहसंज्ञे द्वे स्तः २ । तत्र मैथुनसंज्ञा व्युच्छिन्ना । सूक्ष्मसाम्पराये परिग्रहसंज्ञा व्युच्छिन्ना । उपशान्तादिषु कार्यरहिताऽपि न, कारणा-भावे कार्यस्याभावः ।

गुणस्थानेषु संज्ञाः—

मि०	सा०	मि०	अ०	दे०	प्र०	अ०	अ०	अ०	सू०	उ०	क्षी०	स०	अ०
					१		१	१	१				
४	४	४	४	४	४	३	३	२	१	०	०	०	०

इति गोमट्टसारोक्तविचारः ।

संज्ञिमार्गणाकी अपेक्षा संज्ञिपंचेन्द्रियोंमें संज्ञिपर्याप्तक और अपर्याप्तक ये दो जीवसमास होते हैं । असंज्ञिपंचेन्द्रियोंमें संज्ञिपंचेन्द्रिय-सम्बन्धी दो जीवसमास छोड़कर शेष बारह जीव-समास होते हैं । आहारमार्गणाकी अपेक्षा आहारक जीवोंमें चौदह ही जीवसमास होते हैं । अनाहारकोंमें सातों अपर्याप्तक और एक संज्ञिपर्याप्तक ये आठ जीवसमास होते हैं ॥२०॥

इस प्रकार चौदह मार्गणाओंमें जीवसमासोंका वर्णन समाप्त हुआ ।

---

१. गो० जी० ६९८ । २. गो० जी० ७०० । ३. गो० जी० ७०१ ।

अब जीवसमासस्थानोंमें उपयोगका निरूपण करते हैं—

[मूलगा० ६] [1]एयारसेसु ति त्ति यो दोसु चउक्कं च वारमेकम्मि ।
जीवसमासस्सेदे उवओगविही मुणेयव्वा[1] ॥२१॥

अथ जीवसमासेषु यथासम्भवमुपयोगान् गाथात्रयेणाऽऽह—['एयारसेसु तिण्णि य'इत्यादि ।] एकादशसु जीवसमासेषु त्रय उपयोगाः स्युः ३ । द्वयोर्जीवसमासयोश्चतुष्कं चत्वार उपयोगाः सन्ति ४ । एकस्मिन् जीवसमासे द्वादश उपयोगा भवन्ति ।

जीव०	११	२	१
उप०	३	४	१२

इति जीवसमासेषु एते उपयोगविधयः विधानानि ज्ञातव्याः ॥२१॥

ग्यारह जीवसमासोंमें तीन-तीन उपयोग होते हैं। दो जीवसमासोंमें चार-चार उपयोग होते हैं। एक जीवसमासमें बारह ही उपयोग होते हैं। इस प्रकार जीवसमासोंमें यह उपयोग-विधि जानना चाहिए ॥२१॥

भाष्यगाथाकार-द्वारा उक्त मूलगाथाका स्पष्टीकरण—

[2]मइ-सुअ-अण्णाणाइं अचक्खु एयारसेसु तिण्णेव ।
चक्खूसहिया ते च्चिय चउरक्खे असण्णि-पज्जत्ते ॥२२॥
मइ-सुय-ओहिदुगाइं सण्णि-अपज्जत्तएसु उवओगा ।
सव्वे वि सण्णि-पुण्णे उवओगा जीवठाणेसु ॥२३॥

सूक्ष्म-बादर-एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रियाः पर्याप्ताऽपर्याप्ताः एतेऽष्टौ ८। चतुः-पञ्चेन्द्रियसंज्ञ्यऽसंज्ञिनः अपर्याप्तास्त्रयः ३ एवमेकादशजीवसमासेषु मति-श्रुताज्ञाने द्वे २, अचक्षुर्दर्शनमेकं १ इति त्रयः उपयोगाः ३ भवन्ति । ते त्रयः चक्षुर्दर्शनसहिताः चतुरिन्द्रियपर्याप्ते असंज्ञिपर्याप्ते च द्वयोर्जीवसमासयोः चत्वार उपयोगाः ४ स्युः ॥२२॥

पञ्चेन्द्रियसंज्ञ्यपर्याप्तकजीवेषु मति-श्रुतावधिद्विकं मतिज्ञानं १ श्रुतज्ञानं १ अवधिद्विकं अवधिज्ञान-दर्शनद्वयं २ चकारात् अचक्षुर्दर्शनं १ इति पञ्च उपयोगाः ५। कुमति-कुश्रुतज्ञानद्वयमिति सप्त केचिद् वदन्ति अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियसंज्ञिजीवेषु भवन्तीति विशेषव्याख्येयम्। तन्मिथ्यात्वे तु कुमति-कुश्रुताऽचक्षुर्दर्शन-त्रिकं ज्ञेयमिति । संज्ञिपूर्णे पञ्चेन्द्रियसंज्ञिपर्याप्तेषु जीवेषु सर्वे ज्ञानोपयोगा अष्टौ, दर्शनोपयोगाश्चत्वारः ४ इति द्वादशोपयोगाः १२ स्युः । केवलज्ञान-दर्शनद्वयं विना दशोपयोगा १० इति केचित् । जीवसमासेषु स्थानेषु उपयोगाः कथिताः ॥२३॥

जीवसमासेषु उपयोगाः—

एके०	एके०	एके०	एके०	द्वी०	द्वी०	त्री०	त्री०	चतु०	चतु०	पंचे०	पंचे०	पंचे०	पंचे०
सू०अ०	सू०प०	बा०अ०	बा०प०	अप०	पर्या०	अप०	पर्या०	अप०	पर्या०	असं.अ.	असं.प.	सं.अ.	सं.प.
३	३	३	३	३	३	३	३	३।४	४	३।४	४	३।४।५।७	१२।१०

इति जीवसमासेषु उपयोगाः कथिताः ।

1. सं० पञ्चसं० ४, ६ (पृ० ८१) 2. ४, 'केवलद्वयमतः पर्ययवर्णिता' इत्यादि गद्यभागः (पृ० ७८)।
१. शतक ६ ।
†ब तिण्णि य ।

चतुर्दशमार्गणास्थानेषु उपयोगाः—

गतिमार्गणायां—

न०	ति०	म०	दे०
९	९	१२	९

इन्द्रियमार्गणायां—

ए०	द्वी०	त्री०	च०	पं०
३	३	३	४	१२

कायमार्गणायां—

पृ०	अ०	ते०	वा०	व०	त्र०
३	३	३	३	३	१२

योगमार्गणायां—

मनोयोगे—

स०	मृ०	स०	अ०
१२	१०	१०	१२

वचनयोगे—

स०	मृ०	स०	अ०
१२	१०	१०	१२

काययोगे—

औ०	औ०मि०	वै०	वै०मि०	आ०	आ०मि०	का०
१२	९	९	७	६	६	९

वेदमार्गणायां—

स्त्री०	पु०	नं०
९	१०	९

कषायमार्गणायां—

क्रो०	मा०	माया०	लो०
१०	१०	१०	१०

ज्ञानमार्गणायां—

कु०	कुश्रु०	वि०	म०	श्रु०	अव०	म०	के०
५	५	५	७	७	७	७	२

संयममार्गणायां—

सा०	छे०	प०	सू०	य०	सं०	अ०
७	७	६	७	९	६	९

दर्शनमार्गणायां—

च०	अच०	अव०	के०
१०	१०	७	२

लेश्यामार्गणायां—

कृ०	नी०	का०	ते०	प०	शु०
९	९	९	१०	१०	१२

भव्यमार्गणायां—

भ०	अ०
१०	५

सम्यक्त्वमार्गणायां—

औ०	वे०	क्षा०	सा०	मिश्र	मि०
६	७	९	५	६	५

संज्ञिमार्गणायां—

सं०	अ०
१०	४

आहारमार्गणायां—

आ०	अना०
१२	९

एकेन्द्रियोंके बादर, सूक्ष्म, पर्याप्तक और अपर्याप्तक ये चार; द्वीन्द्रिय और त्रीन्द्रिय-सम्बन्धी पर्याप्तक और अपर्याप्तक ये चार; तथा चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी और संज्ञी अपर्याप्तक ये तीन; इस प्रकार इन ग्यारह जीवसमासोंमें मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान और अचक्षुदर्शन; ये तीन-तीन उपयोग होते हैं। चतुरिन्द्रिय और असंज्ञिपंचेन्द्रियपर्याप्तक इन दो जीवसमासोंमें चक्षुदर्शनसहित उपर्युक्त तीन उपयोग, इस प्रकार चार-चार उपयोग होते हैं। मिथ्यादृष्टि संज्ञिपंचेन्द्रिय अपर्याप्तक जीवोंमें उपर्युक्त चार, तथा सम्यग्दृष्टि संज्ञि अपर्याप्तकोंमें मति, श्रुत और अवधिद्विक ये चार उपयोग होते हैं। संज्ञिपंचेन्द्रिय पर्याप्तकमें सर्व ही अर्थात् बारह ही उपयोग होते हैं। इस प्रकार चौदह जीवसमासोंमें उपयोगोंका वर्णन किया गया ॥२२-२३॥

मार्गणास्थानोंमें उपयोगोंका निरूपण—

[1]केवलदुय मणवज्जं णिरि तिरि देवेसु होंति सेसा दु।
मणुए बारह णेया उवओगा मग्गणस्सेवं ॥२४॥

अथ रचना-रचितमार्गणासु यथासम्भवमुपयोगान् गाथासप्तदशकेनाऽऽह—['केवलदुग मणवज्जं' इत्यादि।] गुणपर्ययवद्वस्तु, तद्-ग्रहणव्यापार उपयोगः। ज्ञानं न वस्तूत्थम्। तथा चोक्तम्—

स्वहेतुजनितोऽप्यर्थः परिच्छेद्यः स्वतो यथा।
तथा ज्ञानं स्वहेतूत्थं परिच्छेदात्मकं स्वतः ॥६॥

[ज्ञानं] न पदार्थाऽऽलोककारणकं, परिच्छेद्यत्वात्; तमोवत्। स उपयोगः ज्ञान-दर्शनभेदाद् द्वेधा। तत्र ज्ञानोपयोगः कुमति-कुश्रुत-विभङ्ग-मति-श्रुतावधि-मनःपर्यय-केवलज्ञानभेदादष्टधा। दर्शनोपयोगः चक्षुर-चक्षुरवधि-केवलदर्शनभेदाच्चतुर्धा। तत्र नरक-तिर्यग्देवगतिषु तिसृषु प्रत्येकं केवलज्ञान-दर्शन-मनःपर्ययत्रय-वर्जिताः शेषा नवोपयोगा ९ भवन्ति। तु पुनः मनुष्यगत्यां द्वादशोपयोगा ज्ञेयाः १२। एवं गतिमार्गणायां ज्ञातव्याः ॥२४॥

1. सं० पञ्चसं० ४, १०। 2. ४, 'गतावनाहारकद्वया' इत्यादि गद्यभागः (पृ० ८०)।

गतिमार्गणाकी अपेक्षा नरक, तिर्यंच और देवगतिमें केवलद्विक और मनःपर्ययज्ञान इन तीनको छोड़कर शेष नौ-नौ उपयोग होते हैं। मनुष्यगतिमें बारह ही उपयोग होते हैं। शेष मार्गणाओंमें उपयोग इस प्रकार ले जाना चाहिए ॥२४॥

बि-ति-एइंदियजीवे अचक्खु मइ सुइ अणाणा† उवओगा।
चउरक्खे ते चक्खूजुत्ता सव्वे वि पंचक्खे ॥२५॥

इन्द्रियमार्गणायां एकेन्द्रिये द्वीन्द्रिये त्रीन्द्रिये च अचक्षुर्दर्शनमेकम् १, मति-श्रुताज्ञानद्विकम् २ इति उपयोगास्त्रयः स्युः ३। चतुरक्षे चतुरिन्द्रिये ते पूर्वोक्तास्त्रयः चक्षुर्दर्शनयुक्ता इति चत्वारः ४। पञ्चाक्षे पञ्चेन्द्रिये सर्वे द्वादशोपयोगाः स्युः १२। उपचारतो द्वादश १०, अन्यथा दश १०। जिनस्योपचारतः पञ्चेन्द्रियत्वमिति ॥२५॥

इन्द्रियमार्गणाकी अपेक्षा एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और त्रीन्द्रिय जीवोंमें अचक्षुदर्शन, मत्यज्ञान और श्रुताज्ञान ये तीन-तीन उपयोग होते हैं। चतुरिन्द्रियजीवोंमें चक्षुदर्शनसहित उक्त तीनों उपयोग, इस प्रकार चार उपयोग होते हैं। पंचेन्द्रियोंमें सर्व ही उपयोग होते हैं ॥२५॥

जिन भगवान्‌के उपचारसे पंचेन्द्रियपना माना गया है इस अपेक्षासे बारह उपयोग कहे हैं। अन्यथा केवलद्विकको छोड़कर शेष दश उपयोग होते हैं।

पंचसु थावरकाए अचक्खु मइ सुअ अणाण‡ उवओगा।
पढमंते मण-वचिए तसकाए उरालएसु सव्वे वि ॥२६॥
मज्झिल्ले मण-वचिए सव्वे वि हवंति केवलदुगूणा।
ओरालमिस्स-कम्मे मणपज्ज-विहंग-चक्खुहीणा ते ॥२७॥
वेउव्वे मणपज्जव-केवलजुगलूणया दु ते चेव।
तम्मिस्से केवलदुग-मणपज्ज-विहंग-चक्खूणा ॥२८॥
केवलदुय-मणपज्जव-अण्णाणतिएहिं होंति ते ऊणा।
आहारजुयलजोए पुरिसे ते केवलदुगूणा ॥२९॥
केवलदुग-मणहीणा इत्थी-संढम्मि ते दु सव्वे वि।
केवलदुगपरिहीणा कोहादिसु होंति णायव्वा ॥३०॥

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायेषु पञ्चसु स्थावरेषु अचक्षुर्दर्शनं मति-श्रुताज्ञानद्वयमिति त्रय उपयोगाः ३। त्रसकाये सर्वे द्वादश उपयोगाः १२। प्रथमान्ते मनो-वचनयोगे सत्याऽनुभयमनो-वचनयोगेषु चतुर्षु प्रत्येकं सर्वे द्वादश उपयोगाः १२। औदारिककाययोगे सर्वे द्वादश १२ उपयोगाः सन्ति ॥२६॥

मध्येषु असत्योभयमनो-वचनयोगेषु चतुर्षु प्रत्येकं केवलज्ञान-दर्शनद्वयोनाः अन्ये सर्वे उपयोगा दश १० भवन्ति। औदारिकमिश्रकाययोगे कार्मणकाययोगे च मनःपर्यय-विभङ्गज्ञान-चक्षुर्दर्शनहीनाः अन्ये ते नव ९ उपयोगाः स्युः ॥२७॥

वैक्रियिककाययोगे मनःपर्यय-केवलज्ञान-दर्शनयुगलोनाः अन्ये नवोपयोगाः ९ स्युः। तन्मिश्रे वैक्रियिकमिश्रकाययोगे केवलदर्शन-ज्ञानद्वय-मनःपर्यय-विभङ्गज्ञान-चक्षुर्दर्शनरहिताः अन्ये सप्त भवन्ति ॥२८॥

आहारकाऽऽहारकमिश्रकाययोगद्वये केवलद्विक-मनःपर्ययज्ञानाऽज्ञानत्रिकोनाः अन्ये षट् ते उपयोगाः आद्यज्ञानत्रय-चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनानि षट् भवन्ति। पुंवेदे ते उपयोगाः केवलज्ञान-दर्शनद्वयोना १० दश ॥२९॥

---

†ब अण्णाण। ‡ब अण्णाण।

स्त्रीवेदे नपुंसकवेदे च केवलज्ञान-दर्शनद्वय-मनःपर्ययरहिताः अन्ये ते उपयोगाः सर्वे ते ६ भवन्ति । क्रोध माने माया[यां] लोभे च केवलज्ञान-दर्शनद्विकपरिहीनाः अन्ये १० उपयोगा भवन्तीति ज्ञातव्याः॥३०॥

कायमार्गणाकी अपेक्षा पाँचों स्थावरकायोंमें अचक्षुदर्शन, मत्यज्ञान और श्रुताज्ञान ये तीन-तीन उपयोग होते हैं। त्रसकायमें सर्व ही उपयोग होते हैं। योगमार्गणाकी अपेक्षा प्रथम और अन्तिम मनोयोग तथा वचनयोगमें और औदारिककाययोगमें सर्व ही उपयोग होते हैं। मध्यके दोनों मनोयोग और वचनयोगमें केवलद्विकको छोड़कर शेष सर्व उपयोग होते हैं। औदारिकमिश्रकाययोग और कार्मणकाययोगमें मनःपर्ययज्ञान, विभंगावधि और चक्षुदर्शन; इन तीनको छोड़कर शेष नौ उपयोग होते हैं। वैक्रियिककाययोगमें मनःपर्ययज्ञान और केवलद्विकको छोड़कर शेष नौ उपयोग होते हैं। वैक्रियिकमिश्रकाययोगमें केवलद्विक, मनःपर्ययज्ञान, विभंगावधि और चक्षुदर्शन इन पाँचको छोड़कर शेष सात उपयोग होते हैं। आहारककाययोग और आहारकमिश्रकाययोगमें केवलद्विक, मनःपर्ययज्ञान और अज्ञानत्रिक, इन छहको छोड़कर शेष छह उपयोग होते हैं। वेदमार्गणाकी अपेक्षा पुरुषवेदमें केवलद्विकको छोड़कर शेष दश उपयोग होते हैं। स्त्रीवेद और नपुंसकवेदमें केवलद्विक और मनःपर्ययज्ञान; इन तीनको छोड़कर शेष सर्व उपयोग होते हैं। कषायमार्गणाकी अपेक्षा क्रोधादि चारों कषायोंमें केवलद्विकको छोड़कर शेष दश-दश उपयोग जानना चाहिए ॥२६-३०॥

अण्णाणतिए होंति य अण्णाणतियं अचक्खु-चक्खूणि ।
सण्णाण-पढमचउरे अण्णाणतिगूण केवलदुगूणा ॥३१॥
केवलणाणम्मि तहा केवलदुगमेव होइ णायव्वं ।
सामाइय-छेय-सुहुमे अण्णाणतिगूण केवलदुगूणा ॥३२॥
दंसण-णाणाइतियं देसे परिहारसंजमे य तहा ।
पंच य सण्णाणाइं दंसणचउरं च जहखाए ॥३३॥
असंजमम्मि णेया मणपज्जव-केवलजुगलएहिं हीणा ते ।
दंसण-आइदुगे खलु केवलजुगलेण ऊणिया सव्वे ॥३४॥
ओहीदंसे केवलदुग अण्णाणतिऊणिया सव्वे ।
केवलदंसे णेयं केवलदुगमेव होइ णियमेण ॥३५॥

अज्ञानत्रिके कुमति-कुश्रुत-विभङ्गज्ञानेषु प्रत्येकं अज्ञानत्रिकं ३ चक्षुरचक्षुर्दर्शनद्वयं २ इति पञ्चोपयोगाः ५ स्युः । सज्ज्ञानप्रथमचतुष्कं मतिज्ञाने श्रुतज्ञाने अवधिज्ञाने मनःपर्ययज्ञाने च अज्ञानत्रिकोन-केवलद्विकोनाः अन्ये सप्तोपयोगाः ७ स्युः ॥३१॥

केवलज्ञाने केवलदर्शन-ज्ञानोपयोगौ ज्ञातव्यौ द्वौ भवतः २ । सामायिकच्छेदोपस्थापन-सूक्ष्मसाम्परायसंयमेषु अज्ञानत्रिक-केवलद्विकोनाः अन्ये सप्त ७ उपयोगाः सन्ति ॥३२॥

देशसंयमे तथा परिहारविशुद्धिसंयमे च चक्षुरादिदर्शनत्रिकं ३, मत्यादिज्ञानत्रिकमिति षडुपयोगा भवन्ति ६ । यथाख्यातसंयमे मतिज्ञानादिसज्ज्ञानपञ्चकं ५, चक्षुरादिदर्शनचतुष्कं ४ इति नवोपयोगाः ९ स्युः ॥३३॥

असंयमे मनःपर्यय-केवलयुगलैर्हीनाः अन्ये ते उपयोगाः ९ स्युः । दर्शनादिद्विके चक्षुरचक्षुर्दर्शनयोः केवलज्ञान-दर्शनयुगलेन रहिताः अन्ये सर्वे दशोपयोगाः १० स्युः ॥३४॥

अवधिदर्शने केवलज्ञान-दर्शनद्विकाऽज्ञानत्रिकोनाः अन्ये सर्वे सप्त ७ । केवलदर्शने केवलदर्शन-ज्ञानद्विकमेव भवतीति ज्ञेयं निश्चयतः ॥३५॥

ज्ञानमार्गणाकी अपेक्षा तीनों अज्ञानोंमें तीनों अज्ञान और चक्षुदर्शन वा अचक्षुदर्शन ये पाँच-पाँच उपयोग होते हैं। प्रथमके चारों सद्ज्ञानोंमें तीन अज्ञान और केवलद्विकके विना शेष सात-सात उपयोग होते हैं। केवलज्ञानमें केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दो उपयोग जानना चाहिए। संयममार्गणाकी अपेक्षा सामायिक, छेदोपस्थापना और सूक्ष्मसाम्परायसंयममें अज्ञानत्रिक और केवलद्विकके विना शेष सात-सात उपयोग होते हैं। परिहारसंयम तथा देशसंयममें आदिके तीन दर्शन और तीन सद्ज्ञान इस प्रकार छह-छह उपयोग होते हैं। यथाख्यातसंयममें पाँचों सद्ज्ञान और चारों दर्शन इस प्रकार नौ उपयोग होते हैं। असंयममें मनःपर्ययज्ञान और केवलद्विकके विना शेष नौ उपयोग होते हैं। दर्शनमार्गणाकी अपेक्षा आदिके दो दर्शनोंमें केवलद्विकके विना शेष दश-दश उपयोग होते हैं। अवधिदर्शनमें केवलद्विक और अज्ञानत्रिकके विना शेष सात उपयोग होते हैं। केवलदर्शनमें नियमसे केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दो उपयोग होते हैं ॥३१-३५॥

किण्हाइतिए णेया मण-केवलजुगलएहिं ऊणा ते।
तेऊ पम्मे भविए केवलदुयवज्जिया दु ते चेव॥३६॥

सुक्काए सव्वे वि य मिच्छा सासण अभविय जीवेसु।
अण्णाणतियमचक्खु चक्खूणि हवंति णायव्वा॥३७॥

दंसण-णाणाइतियं उवसमसम्मम्मि होइ बोहव्वं।
मिस्से ते चिय× मिस्सा अण्णाणतिगूणया खइए॥३८॥

वेदयसम्मे केवलदुअ-अण्णाणतियऊणिया सव्वे।
केवलदुएण रहिया ते चेव हवंति सण्णिम्मि॥३९॥

मइ-सुअअण्णाणाइं अचक्खु-चक्खूणि होंति इयरम्मि।
आहारे ते सव्वे विहंग-मण-चक्खु-ऊणिया इयरे॥४०॥

एवं मग्गणासु उवओगा समत्ता।

कृष्णादित्रिके कृष्ण-नील-कापोतलेश्यासु तिसृषु प्रत्येकं मनःपर्यय-केवलदर्शन-ज्ञानयुगलैरूना ते उपयोगा नव ९। तेजोलेश्यायां पद्मलेश्यायां भव्ये च केवलद्विकवर्जिताः अन्ये ते उपयोगा दश १०। सयोगाऽयोगयोः भव्यव्यपदेशो नास्तीति केवलद्विकं न॥३६॥

शुक्ललेश्यायां सर्वे द्वादशोपयोगाः स्युः १२। मिथ्यात्वरुचिजीवे सासादनसम्यक्त्वे जीवे अभव्यजीवे चाज्ञानत्रिकं चक्षुरचक्षुर्दर्शनद्विकं २ इति पञ्चोपयोगाः ५ ज्ञातव्या भवन्ति॥३७॥

उपशमसम्यक्त्वे चक्षुरादिदर्शनत्रयं ३ मत्यादिज्ञानत्रिकं ३ चेति षडुपयोगा भवन्तीति बोधव्याः ६। मिश्रे ते षड् मिश्रा मति-श्रुतावधिज्ञान-चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनाख्याः मिश्ररूपाः शुभाऽशुभरूपाः षट् उपयोगाः ६ स्युः॥३८॥

वेदकसम्यक्त्वे केवलज्ञान-दर्शनद्वयाऽज्ञानत्रिकोनाः अन्ये सर्वे सप्तोपयोगाः स्युः। संज्ञिजीवे केवलज्ञान-दर्शनद्वयेन रहितास्ते उपयोगाः दश १० भवन्ति। सयोगाऽयोगयोः नोइन्द्रियेन्द्रियज्ञानाभावात् संज्ञ्यऽसंज्ञिव्यपदेशो नास्ति, अतः केवलद्विकं संज्ञिनि न॥३९॥

× ब विय।

इतरस्मिन् असंज्ञिजीवे कुमति-कुश्रुताज्ञानद्विकं चक्षुरचक्षुर्दर्शनद्विकं चेति चत्वार उपयोगाः ४ स्युः। आहारके ते उपयोगाः सर्वे द्वादश भवन्ति १२। इतरस्मिन् अनाहारे विभङ्गज्ञान-मनःपर्ययज्ञान-चक्षुर्दर्शनोनाः अन्ये नवोपयोगाः ९ स्युः। विग्रहगतौ मिथ्यादृष्टि-सासादनासंयतेषु प्रतरद्वये लोकपूरणसमये सयोगिनि अयोगिनि सिद्धे च अनाहार इति। अनाहार इति किम्? शरीराङ्गोपाङ्गनामोदयजनितं शरीर-वचन-चित्तनोकर्मवर्गणा-ग्रहणं आहारः। न आहारः अनाहारः ॥४०॥

इत्येवं मार्गणासु उपयोगाः समाप्ताः।

लेश्यामार्गणाकी अपेक्षा कृष्णादि तीनों अशुभलेश्याओंमें मनःपर्ययज्ञान और केवलद्विकके विना शेष नौ-नौ उपयोग होते हैं। तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और भव्यमार्गणाकी अपेक्षा भव्य-जीवोंमें केवलद्विकके विना शेष दश-दश उपयोग होते हैं। शुक्ललेश्यामें सर्व ही उपयोग होते हैं। अभव्यजीवोंमें तथा सम्यक्त्वमार्गणाकी अपेक्षा मिथ्यात्व और सासादनसम्यक्त्वमें तीनों अज्ञान, चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन ये पाँच-पाँच उपयोग होते हैं, ऐसा जानना चाहिए। औप-शमिकसम्यक्त्वमें आदिके तीन दर्शन और तीन सद्ज्ञान ये छह उपयोग होते हैं। सम्यग्मि-थ्यात्वमें वे ही छह मिश्रित उपयोग होते हैं। क्षायिकसम्यक्त्वमें अज्ञानत्रिकके विना शेष नौ उपयोग होते हैं। वेदकसम्यक्त्वमें केवलद्विक और अज्ञानत्रिकके विना शेष सात उपयोग होते हैं। संज्ञिमार्गणाकी अपेक्षा संज्ञी जीवोंमें केवलद्विकके विना शेष दश उपयोग होते हैं। असंज्ञी जीवोंमें मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान, चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन ये चार उपयोग होते हैं। आहार-मार्गणाकी अपेक्षा आहारक जीवोंमें सर्व ही उपयोग होते हैं। अनाहारक जीवोंमें विभंगावधि, मनःपर्ययज्ञान और चक्षुदर्शनके विना शेष नौ उपयोग होते हैं ॥३९-४०॥

इस प्रकार मार्गणाओंमें उपयोगोंका वर्णन समाप्त हुआ।

अब मूलशतककार जीवसमासोंमें योगोंका वर्णन करते हैं—

[मूलगा०७] [1]णवसु चउक्के एक्के जोगा† एक्को य दोण्णि चोद्दस ते।
तब्भवगएसु एदे भवंतरगएसु कम्मइओ ॥४१॥

अथ जीवसमासेषु यथासम्भवं योगान् गाथात्रयेण दर्शयति—['णवसु चउक्के एक्के' इत्यादि।] नवसु जीवसमासेषु योगः एकः १, चतुर्षु जीवसमासेषु द्वौ योगौ २, एकस्मिन् जीवसमासे चतुर्दश ते योगाः १४। तद्भवगतेषु एते तद्विवक्षितभवप्राप्तेषु एते योगा भवन्ति, भवान्तरगतेषु विग्रहगतौ एकः कार्मणयोगः १।

जीवस०	९	४	१
यो०	१	२	१४।१२

तद्यथा—सूक्ष्म-बादरैकेन्द्रिययोर्द्वयोः पर्याप्तयोः औदारिककाययोग एकः १ सूक्ष्म-बादरैकेन्द्रिय-द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिय-संज्ञ्यऽसंज्ञिषु सप्तसु अपर्याप्तेषु औदारिकमिश्रः एक इति समुदायेन नवसु जीवसमासेषु ९ एको योगः। द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियासंज्ञिषु पर्याप्तेषु चतुर्षु औदारिककाययोगाऽनुभयभाषायोगौ द्वौ भवतः २। पञ्चेन्द्रियसंज्ञिनि पर्याप्ते एकस्मिन् चतुर्दश योगाः १४। केचिदाचार्याः पञ्चदश योगान् कथयन्ति ॥४१॥

---

1. सं० पञ्चसं० ४, १०।

१. शतक० ७। परं तत्र 'चोद्दस' स्थाने 'पन्नरस' पाठः। प्राकृतवृत्तौ मूलगाथायामपि 'पण्णरसा' इति पाठः। सं० पञ्चसंग्रहेऽपि 'समस्ता सन्ति संज्ञिनि' इति पाठः (पृ० ८२, श्लो० १०)

† ब जोगो।

नौ जीवसमासोंमें एक योग होता है, चार जीवसमासोंमें दो योग होते हैं और एक जीवसमासमें चौदह योग होते हैं। तद्भवगत अर्थात् अपने वर्तमान भवके शरीरमें विद्यमान जीवोंमें ये योग जानना चाहिए। किन्तु भवान्तरगत अर्थात् विग्रहगतिवाले जीवोंके केवल एक कार्मणकाययोग होता है ॥४१॥

विशेषार्थ—एकेन्द्रियोंके चार जीवसमास और शेष अपर्याप्तकजीवोंके पाँच जीवसमास इन नौ जीवसमासोंमें सामान्यसे एक काययोग होता है। किन्तु विशेषकी अपेक्षा सूक्ष्म और बादर पर्याप्तक एकेन्द्रिय जीवोंके औदारिककाययोग तथा सूक्ष्म और बादर अपर्याप्तक एकेन्द्रिय-जीवोंके औदारिकमिश्रकाययोग होता है। 'पण्णरस' इस पाठान्तरकी अपेक्षा कुछ आचार्योंके अभिप्रायसे बादर वायुकायिक पर्याप्तकोंके वैक्रियिककाययोग और बादरवायुकायिक अपर्याप्तोंके वैक्रियिकमिश्रकाययोग होता है। शेष द्वीन्द्रियादि सर्व अपर्याप्तक जीवोंके एकमात्र औदारिक-मिश्रकाययोग ही होता है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञिपंचेन्द्रियपर्याप्तक, इन चारों जीवसमासोंके औदारिककाययोग और असत्यमृषावचनयोग, ये दो-दो योग होते हैं। संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तक नामके एक जीवसमासमें चारों मनोयोग, चारों वचनयोग और सातों काययोग, इस प्रकार पन्द्रह योग होते हैं। यहाँ इतना विशेष ज्ञातव्य है कि पर्याप्तकसंज्ञि-पंचेन्द्रियके जो अपर्याप्तकदशोंमें संभव औदारिकमिश्रकाययोग, वैक्रियिकमिश्रकाययोग, आहारक-मिश्रकाययोग और कार्मणकाययोग बतलाये गये हैं, सो सयोगिजिनके केवलिसमुद्घातकी अपेक्षा औदारिकमिश्रकाययोग और कार्मणकाययोग कहा गया है, तथा जो औदारिककाययोगी जीव विक्रिया और आहारकऋद्धिको प्राप्त करते हैं, उनकी अपेक्षा वैक्रियिकमिश्रकाययोग और कार्मण-काययोग बतलाया गया है। अन्यथा मिश्रकाययोग अपर्याप्तकदशामें और कार्मणकाययोग विग्रहगतिमें ही संभव हैं।

अब भाष्यगाथाकार जीवसमासोंमें योगोंका वर्णन करते हैं—

[1]छसु पुण्णेसु* उरालं सत्त अपज्जत्तएसु तम्मिस्सं।
भासा असच्चमोसा चदुसुं बेइंदियाइपुण्णेसुं ॥४२॥
सण्णि-अपज्जत्तेसुं वेउव्वियमिस्सकायजोगो दु।
सण्णी-संपुण्णेसुं चउदस जोया मुणेयव्वा ॥४३॥

अथ नियमगाथाद्वयं कथ्यते—[छसु पुण्णेसु उरालं' इत्यादि।] षट्सु पूर्णेषु औदारिककाययोगः—एकेन्द्रियसूक्ष्म-बादरपर्याप्तौ द्वौ २, द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियपर्याप्तास्त्रयः ३, असंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्ते एकः, इति षण्णां पर्याप्तानां औदारिककाययोगः स्यात्। सप्तऽपर्याप्तेषु तन्मिश्रः—सूक्ष्म-बादरैकेन्द्रिय-द्वि-त्रि-चतुः-पञ्चेन्द्रियसंज्ञ्य-संज्ञिषु अपर्याप्तेषु सप्तविधेषु औदारिकमिश्रकाययोगः स्यात् १। चतुर्षु द्वीन्द्रियादिषु पूर्णेषु असत्यमृषा [भाषा] स्यात्। द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियाऽसंज्ञिजीवपर्याप्तानां चतुर्णां अनुभय-भाषौदारिककाययोगौ द्वौ २ भवतः ॥४२॥

देव-नारकसंज्ञ्यऽपर्याप्तेषु वैक्रियिकमिश्रकाययोगात्, देव-नारकाणां अपर्याप्तकाले वैक्रियिकमिश्र-काययोगात्, मनुष्य-तिर्यगपेक्षया संज्ञिसम्पूर्णेषु पर्याप्तेषु वैक्रियिकमिश्रं विना चतुर्दश १४ योगाः ज्ञातव्याः ॥४३॥

---

1. ४, 'गतावनाहारकद्वया' इत्यादिगद्यभागः। (पृ० ८०)

*द पुण्णे सोरालं।

चतुर्दशमार्गणासु योगरचना—

गतिमार्गणायां—

न०	ति०	म०	दे०
११	११	१३	११

इन्द्रियमार्गणायां—

ए०	द्वी०	त्री०	च०	पं०
३	४	४	४	१५

कायमार्गणायां—

पृ०	अ०	ते०	वा०	व०	त्र०
३	३	३	३	३	१५

योगमार्गणायां—

मनोयोगे—

स०	मृ०	स०	अ०
१	१	१	१

वचनयोगे—

स०	मृ०	स०	अ०
१	१	१	१

काययोगे—

औ०	औ०मि०	वै०	वै०मि०	आ०	आ०मि०	का०
१	१	१	१	१	१	१

वेदमार्गणायां—

स्त्री०	पु०	न०
१३	१५	१३

कषायमार्गणायां—

क्रो०	मा०	माया०	लो०
१५	१५	१५	१५

ज्ञानमार्गणायां—

कुम०	कुश्रु०	वि०	म०	श्रु०	अ०	म०	के०
१३	१३	१०	१५	१५	१५	६	७

संयममार्गणायां—

सा०	छे०	प०	सू०	य०	स०	अ०
११	११	६	६	११	६	१३

दर्शनमार्गणायां—

च०	अ०	अव०	के०
१२	१५	१५	७

लेश्यामार्गणायां—

कृ०	नी०	का०	ते०	प०	शु०
१३	१३	१३	१५	१५	१५

भव्यमार्गणायां—

भ०	अ०
१५	१३

सम्यक्त्वमार्गणायां—

औ०	वे०	क्षा०	सा०	मिश्र०	मि०
१३	१५	१५	१३	१०	१३

संज्ञिमार्गणायां—

सं०	अ०
१५	४

आहारमार्गणायां—

आ०	अना०
१४	१

सूक्ष्म एकेन्द्रिय, और बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञिपंचेन्द्रिय इन छह पर्याप्तक जीवसमासोंमेंसे आदिके दो जीवसमासोंमें केवल एक औदारिककाययोग होता है, और शेष चार पर्याप्तक जीवसमासोंमें औदारिककाययोग और असत्यमृषावचनयोग ये दो योग होते हैं। सातों अपर्याप्तक जीवसमासोंमें यथासंभव औदारिकमिश्रकाययोग, वैक्रियिकमिश्र-काययोग और आहारकमिश्रकाययोग होता है। असत्यमृषावचनयोग द्वीन्द्रियादि चार पर्याप्तक जीवसमासोंमें होता है। संज्ञिपंचेन्द्रिय-अपर्याप्तक जीवोंमें वैक्रियिकमिश्रकाययोग भी होता है। संज्ञिपंचेन्द्रिय-पर्याप्तक जीवोंमें कार्मणकाययोगको छोड़कर शेष चौदह योग जानना चाहिए ॥४२-४३॥

अब मार्गणाओंमें योगोंका निरूपण करते हैं—

ओरालाहारदुए वज्जिय सेसा दु णिरय-देवेसु।
वेउव्वाहारदुगूणा तिरिए मणुए वेउव्वदुगहीणा ॥४४॥

अथ मार्गणासु यथासंभवं रचनायां रचितयोगान् गाथैकादशकेनाऽऽह—['ओरालाहारदुए' इत्यादि।] नरकगत्यां देवगत्यां च औदारिकौदारिकमिश्राऽऽहारकाऽऽहारकमिश्रान् चतुरो योगान् वर्जयित्वा शेषा एकादश योगाः ११ स्युः। तिर्यग्गतौ वैक्रियिकवैक्रियिकमिश्राऽऽहारकाऽऽहारकमिश्रैरूनाः अन्ये एकादश योगाः। मनुष्यगतौ वैक्रियिक-तन्मिश्रद्वयहीनाः शेषाः त्रयोदश १३ योगा भवन्ति ॥४४॥

गतिमार्गणाकी अपेक्षा नारकी और देवोंमें औदारिकद्विक अर्थात् औदारिककाययोग, औदारिकमिश्रकाययोग और आहारकद्विक अर्थात् अहारककाययोग, आहारकमिश्रकाययोग इन चार योगोंको छोड़कर शेष ग्यारह-ग्यारह योग होते हैं। तिर्यञ्चोंमें वैक्रियिकद्विक अर्थात् वैक्रियिक-काययोग और वैक्रियिकमिश्रकाययोग तथा आहारकद्विक, इन चार योगोंको छोड़कर शेष ग्यारह योग होते हैं। मनुष्योंमें वैक्रियिकद्विकको छोड़कर शेष तेरह योग होते हैं ॥४४॥

कम्मोरालदुगाइं जोगा एइंदियम्मि वियलेसु ।
वयणंतजोयसहिया ते च्चिय पंचिंदिए सव्वे ॥४५॥

एकेन्द्रिये कार्मणकौदारिकद्विकमिति त्रयो योगाः ३ । विकलत्रये द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियेषु त्रिषु ते त्रयः वचनान्त्यानुभयभाषासहिताश्चत्वारः ४ योगाः । पञ्चेन्द्रिये सर्वे पञ्चदश योगा नानाजीवापेक्षया भवन्ति ॥४५॥

इन्द्रियमार्गणाकी अपेक्षा एकेन्द्रियोंमें कार्मणकाययोग और औदारिकद्विक ये तीन योग होते हैं। विकलेन्द्रियोंमें अन्तिम वचनयोग अर्थात् असत्यमृषावचनयोग-सहित उपर्युक्त तीन योग, इस प्रकार चार योग होते हैं। पंचेन्द्रियोंमें सर्व योग होते हैं ॥४५॥

कम्मोरालदुगाइं थावरकाएसु होंति पंचेसु ।
तसकाएसु य सव्वे सगो सगो होइ जोएसु ॥४६॥

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिस्थावरकायेषु पञ्चसु कार्मणः १ औदारिकौदारिकमिश्रौ द्वौ २ इति त्रयो योगाः ३ । त्रसकायेषु सर्वेषु पञ्चदश योगाः १५ । योगेषु पञ्चदशसु सत्यादिषु स्वकः स्वको भवति, सत्यमनोयोगे सत्यमनोयोगः १ इत्यादि सर्वत्र ज्ञेयम् ॥४६॥

कायमार्गणाकी अपेक्षा पाँचों स्थावरकायिकोंमें कार्मणकाययोग और औदारिकद्विक ये तीन योग होते हैं, तथा त्रसकायिकजीवोंमें सभी योग होते हैं। योगमार्गणाकी अपेक्षा स्व-स्वयोगवाले जीवोंके स्व-स्वयोग होता है। अर्थात् सत्यमनोयोगियोंके सत्यमनोयोग, असत्यमनोयोगियोंके असत्यमनोयोग इत्यादि ॥४६॥

पुरिसे सव्वे जोगा इत्थी-संढम्मि आहारदुगूणा ।
कोहाईसु य सव्वे मइ-सुय-ओहीसु होंति सव्वे वि ॥४७॥
मइ-सुअअण्णाणेसुं आहारदुगूणया दु ते सव्वे ।
अपुण्णजोगरहिया आहारदुगूणया य विभंगे ॥४८॥
केवलजुयले मण-वचि पढमंतोरालजुगलकम्मक्खा ।
मण-सुहुमे परिहारे देसे ओराल मण-वचि-चउक्का ॥४९॥

पुंवेदे सर्वे योगाः १५ । स्त्रीवेदे षण्ढवेदे च आहारकद्विकोनास्त्रयोदश १३ । क्रोधे माने मायायां लोभे च सर्वे योगाः १५ । मति-श्रुतावधिज्ञानेषु सर्वे पञ्चदश १५ योगा भवन्ति ॥४७॥

मति-श्रुताज्ञानयोः द्वयोः आहारकद्विकोनाः ते सर्वे त्रयोदश योगाः स्युः १३ । विभङ्गज्ञाने औदारिकमिश्र-वैक्रियिकमिश्र-कार्मणकापर्याप्तयोगत्रयरहिताः आहारकद्विकोनाश्चान्येऽष्टौ मनो-वचनयोगाः औदारिक वैक्रियिककाययोगौ द्वौ एवं दश योगाः १० ॥४८॥

केवल-युगले इति केवलज्ञाने केवलदर्शने च प्रथमान्तमनो-वचनं सत्यानुभयमनो-वचनचतुष्कं ४ औदारिक-तन्मिश्र-कार्मणाख्याश्च इति सप्त योगाः ७ । मनःपर्ययज्ञाने सूक्ष्मसाम्परायसंयमे परिहारविशुद्धिसंयमे देशसंयमे च औदारिककाययोगः १, सत्यादिमनोयोगचतुष्कं ४ सत्यादिवचनयोगचतुष्कं ४ इत्येवं नव ९ योगाः स्युः ॥४९॥

वेदमार्गणाकी अपेक्षा पुरुषवेदियोंके सभी योग होते है। स्त्रीवेदी और नपुंकवेदी जीवोंके आहारकद्विकको छोड़कर शेष तेरह योग होते हैं। कषायमार्गणाकी अपेक्षा क्रोधादि चारों कषायवाले जीवोंके सभी योग पाये जाते हैं। ज्ञानमार्गणाकी अपेक्षा मति, श्रुत और अवधिज्ञानी

जीवोंके सर्व ही योग होते हैं। मत्यज्ञानी और श्रुताज्ञानी जीवोंके आहारकद्विकको छोड़कर शेष तेरह-तेरह योग होते हैं। विभंगज्ञानियोंके अपर्याप्तककाल-सम्बन्धी औदारिकमिश्र, वैक्रियिकमिश्र और कार्मणकाययोग ये तीन योग तथा आहारकद्विक इनके विना शेष दश योग होते हैं। केवल-युगल अर्थात् केवलज्ञान और केवलदर्शनवाले जीवोंके प्रथम और अन्तिम मनोयोग एवं वचन-योग, तथा औदारिकयुगल और कार्मणकाययोग ये सात-सात योग होते हैं। मनःपर्ययज्ञान, सूक्ष्मसाम्परायसंयम, परिहारविशुद्धिसंयम और संयमासंयमवाले जीवोंके मनोयोगचतुष्क, वचनयोगचतुष्क और औदारिककाययोग ये नौ-नौ योग होते हैं ॥४७–४६॥

आहारदुगोराला मण-वचि-चउरा य सामाइय-छेदे।
कम्मोरालदुगाइं मण-वचि-चउरा य जहखाए ॥५०॥

सामायिक-च्छेदोपस्थापनयोः आहारकद्वयौदारिककाययोगास्त्रयः ३ मनोयोगाश्चत्वारः ४ वचन-योगाश्चत्वारः ४ इत्येकादश योगाः ११। यथाख्याते कार्मणकौदारिक-तन्मिश्रकाययोगास्त्रयः ३ मनो-वचनयोगाः अष्टौ ८ एवं एकादश ११ योगाः ॥५०॥

संयममार्गणाकी अपेक्षा सामायिकसंयम और छेदोपस्थापनासंयमवाले जीवोंके चारों मनोयोग, चारों वचनयोग, आहारकद्विक और औदारिककाययोग ये ग्यारह-ग्यारह योग होते हैं। यथाख्यातसंयमवाले जीवोंके चारों मनोयोग, चारों वचनयोग, औदारिकद्विक और कार्मण-काययोग ये ग्यारह योग होते हैं ॥५०॥

किण्हाइ-तिआऽसंजम अभव्व जीवेसु आहारदुगूणा।
तेआइतियाऽचक्खू ओही भव्वेसु होंति सव्वे वि ॥५१॥
चक्खूदंसे जोगा मिस्सतिगं वज्ज होंति सेसा दु।
उवसम-मिच्छा-सादे आहारदुगूणया णेया ॥५२॥
वेदय-खइए सव्वे मिस्से मिस्सतिगाहारदुगहीणा।
सण्णियजीवे णेया सव्वे जोया जिणेहिं णिद्दिट्ठा ॥५३॥
इयरे कम्मोरालियदुगवयणंतिल्लया होंति।
आहारे कम्मूणा अणहारे कम्मए व जोगो दु ॥५४॥

एवं मग्गणासु जोगा समत्ता।

कृष्ण-नील-कापोतलेश्यात्रिके असंयमे अभव्यजीवे च आहारकद्विकोना अन्ये त्रयोदश १३ योगाः। पीत-पद्म-शुक्ललेश्यात्रिके अचक्षुर्दर्शने अवधिदर्शने भव्यजीवे च सर्वे पञ्चदश योगाः १५ भवन्ति ॥५१॥

चक्षुर्दर्शने मिश्रत्रिकं औदारिक-वैक्रियिकमिश्रकार्मणकत्रिकं वर्जयित्वा शेषाः द्वादश योगाः १२ स्युः। औपशमिकसम्यक्त्वे मिथ्यादृष्टौ सासादने आहारकद्विकोनाः अन्ये त्रयोदश योगाः १३ ज्ञेयाः ॥५२॥

वेदकसम्यग्दृष्टौ क्षायिकसम्यग्दृष्टौ च सर्वे पञ्चदश योगाः १५ ज्ञेयाः। मिश्रे मिश्रत्रिकाऽऽहारक-द्विकहीनाः अन्ये योगाः १०। संज्ञिजीवे सर्वे पञ्चदश १५ योगाः ज्ञेयाः जिनैर्निर्दिष्टाः कथिताः ॥५३॥

इतरस्मिन् असंज्ञिजीवे कार्मणकौदारिक-तन्मिश्रानुभयवचनयोगाश्चत्वारः ४। आहारके कार्मणकोना अन्ये योगाश्चतुर्दश १४। अनाहारे कार्मणक एको योगो भवति ॥५४॥

इति मार्गणासु योगाः समाप्ताः।

लेश्यामार्गणाकी अपेक्षा कृष्णादि तीन लेश्यावालोंके, तथा असंयमी और अभव्य जीवोंके आहारकद्विकको छोड़कर शेष तेरह-तेरह योग होते हैं। तेजोलेश्यादि तीन लेश्यावालोंके, अचक्षुदर्शनी, अवधिदर्शनी और भव्यजीवोंमें सर्व ही योग पाये जाते हैं। चक्षुदर्शनी जीवोंमें अपर्याप्तकाल-सम्बन्धी तीनों मिश्रयोगोंको छोड़कर शेष बारह योग पाये जाते हैं। सम्यक्त्वमार्गणाकी अपेक्षा उपशमसम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोंके आहारकद्विकको छोड़कर शेष तेरह-तेरह योग जानना चाहिए। वेदकसम्यग्दृष्टि और क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीवोंमें सभी योग पाये जाते हैं। मिश्र अर्थात् सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवोंमें अपर्याप्तककाल-सम्बन्धी मिश्रत्रिक और आहारकद्विकको छोड़कर शेष दश योग पाये जाते हैं। संज्ञिमार्गणाकी अपेक्षा संज्ञी जीवोंमें सभी योग जानना चाहिए, ऐसा जिन भगवान्‌ने उपदेश दिया है। असंज्ञी जीवोंमें कार्मणकाययोग, औदारिकद्विक और अन्तिम वचनयोग ये चार योग होते हैं। आहारमार्गणाकी अपेक्षा आहारक जीवोंमें कार्मणकाययोगको छोड़कर शेष चौदह योग पाये जाते हैं। अनाहारक जीवोंमें एकमात्र कार्मणकाययोग ही पाया जाता है ॥५१-५४॥

मार्गणाओंमें योगोंका वर्णन समाप्त हुआ।

[मूलगा० ८] उवओगा जोगविही मग्गण-जीवेसु[1] वण्णिया एदे।
एत्तो गुणेहिं सह परिणदाणि ठाणाणि मे सुणह ॥५५॥

[मूलगा० ९] *मिच्छा सासण मिस्सो अविरदसम्मो य देसविरदो य।
णव संजए य एवं चउदस गुणणाम †ठाणाणि[2] ॥५६॥

मार्गणासु जीवसमासेषु च उपयोगा वर्णिताः, योगविधयश्च वर्णिताः। इतः परं गुणैः सह परिणतानि गुणस्थानकैः सह परिणमितानि मिश्राणि युक्तानि मार्गणस्थानानि गतीन्द्रिय-काय-योगादीनि इमानि वक्ष्यमाणानि भो भव्या यूयं शृणुत ॥५५॥

मिथ्यादृष्टिः १ सासादनः २ मिश्रः ३ अविरतसम्यग्दृष्टिः ४ देशविरतश्च ५ प्रमत्ता ६ प्रमत्ता ७ पूर्वकरणा ८ निवृत्तिकरण ९ सूक्ष्मसाम्परायो १० पशान्त ११ क्षीणकषाय १२ सयोगाऽ १३ योगसंयता इति नव। एवं चतुर्दश गुणस्थाननामधेयानि गुणस्थाननामानि ॥५६॥

चतुर्दशमार्गणास्थानेषु गुणस्थानरचनेयम्–

गतिमार्गणायां–				इन्द्रियमार्गणायां–					कायमार्गणायां–						योगमार्गणायां–		मनोयोगे–	
न०	ति०	म०	दे०	ए०	द्वी०	त्री०	च०	पं०	पृ०	अ०	ते०	वा०	व०	त्र०	स०	मृ०	स०	अ०
४	५	१४	४	१	१	१	१	१४	१	१	१	१	१	१४	१३	१२	१२	१३
				२	२	२	२		२	२			२					

वचनयोगे–				काययोगे–							वेदमार्गणायां–		
स०	मृ०	स०	अ०	औ०	औ०मि०	वै०	वै०मि०	आ०	आ०मि०	का०	स्त्री०	पु०	न०
१३	१२	१२	१३	१३	४	४	३	१	१	४	९	९	९

कषायमार्गणायां–				ज्ञानमार्गणायां–								संयममार्गणायां–						
क्रो०	मा०	माया०	लो०	कुम०	कुश्रु०	वि०	म०	श्रु०	अ०	म०	के०	सा०	छे०	प०	सू०	य०	सं०	अ०
९	९	९	१०	२	२	२	९	९	९	७	२	४	४	२	१	४	१	४

1. शतक० ८। परं तत्र मग्गण-जीवेसु' स्थाने 'जीवसमासेसु' इति पाठः। प्राकृतवृत्तावप्ययं पाठः। २. शतक० ९।

* ब च्छो। † ब घेयाणि।

दर्शनमार्गणायां—

च०	अच०	अव०	के०
१२	१२	९	२

लेश्यामार्गणायां—

कृ०	नी०	का०	ते०	प०	शु०
४	४	४	७	७	१३

भव्यमार्गणायां—

भ०	अ०
१२	१

सम्यक्त्वमार्गणायां—

औ०	वे०	क्षा०	सा०	मिश्र०	मि०
८	४	११	१	१	१

संज्ञिमार्गणायां—

सं०	अ०
१२	२

आहारमार्गणायां—

आ०	अना०
१३	५

इस प्रकार मार्गणा और जीवसमासोंमें यह उपयोग और योगविधिका वर्णन किया है। अब इससे आगे गुणोंसे परिणत इन स्थानोंको कहता हूँ सो सुनो। मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरतसम्यक्त्व और देशविरत, तथा इससे आगे संयतोंके नौ गुणस्थान इस प्रकार सार्थक नामवाले चौदह गुणस्थान होते हैं ॥५५-५६॥

मार्गणाओंमें गुणस्थानोंका निरूपण—

[मूलगा०१०] [1]सुर-णारएसु चत्तारि होंति तिरिएसु जाण पंचेव।
मणुयगईए वि तहा चोद्दस गुणणामधेयाणि ॥५७॥
[2]मिच्छाई चत्तारि य सुर-णिरए पंच होंति तिरिएसु।
मणुयगईए वि तहा चोद्दस गुणणामधेयाणि ॥५८॥

अथ मार्गणास्थानेषु रचितगुणस्थानानि गाथाचतुर्दशकेन प्ररूपयति—देवगत्यां नरकगत्यां च मिथ्यादृष्ट्याऽऽदीनि चत्वारि गुणस्थानानि ४, तिर्यग्गतौ मिथ्यादीनि पञ्च गुणस्थानानि त्वं जानीहि ५। मनुष्यगतौ मिथ्यादृगाऽऽद्ययोगान्तानि चतुर्दश गुणस्थानानि भवन्तीति जानीहि त्वं भव्य मन्यस्व ॥५७-५८॥

गतिमार्गणाकी अपेक्षा देव और नरकगतिमें मिथ्यात्वको आदि लेकर चार गुणस्थान होते हैं। तिर्यंचोंमें मिथ्यात्व आदि पाँच गुणस्थान होते हैं। तथा मनुष्यगतिमें चौदह ही गुणस्थान होते हैं ॥५७-५८॥

मिच्छा सादा दोण्णि य इगि-वियले होंति ताणि णायव्वा।
पंचिंदियम्मि चोद्दस भूदयहरिएसु दोण्णि पढमाणि ॥५९॥
तेऊ-वाऊकाए मिच्छं तसकाए चोद्दस हवंति।
मण-वचि-पढमंतेसुं ओराले चेव जोगंता ॥६०॥
खीणंता मज्झिल्ले मिच्छाइ चयारि वेउव्वे।
तम्मिस्से मिस्सूणा हारदुगे पमत्त एगो दु ॥६१॥
ओरालमिस्स-कम्मे मिच्छा सासण अजइ सजोगा य।
कोहाइतिय तिवेदे मिच्छाई णवय दस लोहे ॥६२॥

1. सं० पञ्चसं० ४, ६। (पृ० ७५)। 2. ४, 'नारकसुधाशिकयोश्चत्वार्याद्यानि' इत्यादि गद्यभागः (पृ० ७६)।

१. शतक० १०।

एकेन्द्रिये विकलत्रये च मिथ्या-सासादने द्वे भवतः २। तदेकेन्द्रिय-विकलत्रयाणां पर्याप्तकाले एकं मिथ्यात्वम् १। तेषां केषाञ्चिद् अपर्याप्तकाले उत्पत्तिसमये सासादनं सम्भवति। पञ्चेन्द्रिये तानि सर्वाणि गुणस्थानानि चतुर्दश १४ ज्ञातव्यानि भवन्ति। भूदकहरितेषु पृथ्वीकायिके अप्कायिके वनस्पतिकायिके च मिथ्यात्वसासादनगुणस्थाने द्वे २ भवतः ॥५९॥

तेजस्कायिके वायुकायिके च मिथ्यात्वमेकम् १। तयोरेकं कथम्? सासादनस्थो जीवो मृत्वा तेजो-वायुकायिकयोर्मध्ये न उत्पद्यते, इति हेतोः। त्रसकायिके मिथ्यात्वादीनि चतुर्दश १४ गुणस्थानानि भवन्ति। मनो-वचनप्रथमान्तेषु सत्यानुभयमनो-वचनचतुष्के औदारिककाययोगे च मिथ्यात्वाऽऽदीनि सयोगान्तानि त्रयोदश गुणस्थानानि स्युः ॥६०॥

मध्यमेषु असत्योभयमनो-वचनयोगेषु चतुर्षु संज्ञिमिथ्यादृष्ट्याद्यादीनि क्षीणकषायान्तानि द्वादश १२। वैक्रियिककाययोगे मिथ्यात्वादीनि चत्वारि ४। तन्मिश्रयोगे देवता-नारकाऽपर्याप्तानां मिश्रोनानि मिथ्यात्व-सासादनाविरतानि त्रीणि ३। आहारके संज्ञिपर्याप्तप्रमत्त एकं षष्ठगुणस्थानम् १। आहारकमिश्रे संज्ञ्यऽ-पर्याप्तषष्ठगुणस्थानमेकम् १ ॥६१॥

औदारिकमिश्रकाययोगे मिथ्यात्व-सासादन-पुंवेदोदयाऽसंयतकपाटसमुद्घातसयोगगुणस्थानानि चत्वारि ४। उक्तञ्च—

मिच्छे सासणसम्मे पुंवेदयदे कवाटजोगिम्हि।
णर-तिरिये वि य दोण्णि वि होंति त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं[1] ॥७॥

कार्मणकाययोगे मिथ्यात्व-सासादनाऽविरतगुणस्थानत्रयं चतुर्गतिविग्रहकालसंयुक्तं प्रतरयोर्लोकपूरण-कालसंयुक्तं सयोगगुणस्थानञ्चेति चत्वारि ४। उक्तञ्च—

योगिन्यौदारिको दण्डे मिश्रो योगः कपाटके।
कार्मणो जायते तत्र प्रतरे लोकपूरणे[2] ॥८॥

क्रोधे माने मायायां च, नपुंसकवेदे स्त्रीवेदे पुंवेदे च मिथ्यात्वादीन्यनिवृत्तिकरणपर्यन्तानि नव ९। अत्र किञ्चिद्विशेषः—षण्ढवेदः स्थावर-कायमिथ्यादृष्ट्याद्यनिवृत्तिकरणप्रथमसवेदभागान्तं भवति। स्त्रीवेद-पुंवेदौ संज्ञ्यऽसंज्ञिमिथ्यादृष्ट्याद्यनिवृत्तिकरणस्वस्वसवेदभागपर्यन्तं भवतः। क्रोध-मान-मायाः मिथ्यादृष्ट्याद्य-निवृत्तिकरण-द्वि-त्रि-चतुर्भागान्तं भवन्ति। लोभे संज्वलनलोभापेक्षया मिथ्यात्वाऽऽदीनि सूक्ष्मसाम्पराया-न्तानि दश १० भवन्ति ॥६२॥

इन्द्रियमार्गणाकी अपेक्षा एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीवोंमें मिथ्यात्व और सासादन ये दो गुणस्थान होते हैं। यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है कि उक्त जीवोंमें सासादनगुणस्थान निवृत्त्य-पर्याप्तक-दशामें ही संभव है, अन्यत्र नहीं। पंचेन्द्रियोंमें चौदह ही गुणस्थान होते हैं। काय-मार्गणाकी अपेक्षा पृथिवीकायिक, जलकायिक और वनस्पतिकायिक जीवोंमें आदिके दो गुणस्थान होते हैं। तेजस्कायिक और वायुकायिक जीवोंमें मिथ्यात्व गुणस्थान होता है और त्रसकायिक जीवोंमें चौदह ही गुणस्थान होते हैं। योगमार्गणाकी अपेक्षा प्रथम और अन्तिम मनोयोग और वचनयोगमें तथा औदारिककाययोगमें सयोगिकेवली तकके तेरह गुणस्थान होते हैं। मध्यके दोनों मनोयोगों और वचनयोगोंमें क्षीणकषायतकके बारह गुणस्थान होते हैं। वैक्रियिककाय-योगमें मिथ्यात्व आदि चार गुणस्थान होते हैं। वैक्रियिकमिश्रकाययोगमें मिश्रगुणस्थानको छोड़-कर आदिके तीन गुणस्थान होते हैं। आहारककाययोग और आहारकमिश्रकाययोगमें एक

1. गो० जी० ६८०।
2. सं० पञ्चसं० ४, १४ (पृ० ८३)

प्रमत्तसंयत गुणस्थान होता है। औदारिकमिश्रकाययोग और कार्मणकाययोगमें मिथ्यात्व, सासादन, असंयत और सयोगकेवली ये चार-चार गुणस्थान होते हैं। वेदमार्गणाकी अपेक्षा तीनों वेदोंमें तथा कषायमार्गणाकी अपेक्षा क्रोधादि तीन कषायोंमें मिथ्यात्व आदि नौ गुणस्थान होते हैं। लोभकषायमें आदिके दश गुणस्थान होते हैं ॥५९-६२॥

पढमा दोऽण्णाणतिए णाणतिए णव दु अविरयाई ।
सत्त पमत्ताइ मणे केवलजुयलम्मि अंतिमा दोण्णि ॥६३॥

अज्ञानत्रिके कुमति-कुश्रुत-विभङ्गज्ञानेषु प्रत्येकं मिथ्यात्वसासादनप्रथमद्वयं स्यात् । ज्ञानत्रिके मति-श्रुतावधिज्ञानेषु त्रिषु प्रत्येकं अविरतादीनि क्षीणकषायान्तानि नव ९ स्युः । मनःपर्ययज्ञाने प्रमत्तादीनि क्षीणकषायान्तानि सप्त ७ । केवलज्ञाने केवलदर्शने च सयोगायोगान्तिमद्वयं २ भवति ॥६३॥

ज्ञानमार्गणाकी अपेक्षा अज्ञानत्रिक अर्थात् कुमति, कुश्रुत और विभंगज्ञानवाले जीवोंके आदिके दो गुणस्थान होते हैं। ज्ञानत्रिक अर्थात् मति, श्रुत और अवधिज्ञानवाले जीवोंमें असंयत-सम्यग्दृष्टिको आदि लेकर नौ गुणस्थान होते हैं। मनःपर्ययज्ञानवाले जीवोंके प्रमत्तसंयतको आदि लेकर सात गुणस्थान होते हैं। केवलयुगल अर्थात् केवलज्ञान और केवलदर्शनवाले जीवोंके अन्तिम दो गुणस्थान होते हैं ॥६३॥

सामाइय-छेदेसुं पमत्तयाईणि होंति चत्तारि ।
जहखाए संताई सुहुमे देसम्मि सुहुम देसा य ॥६४॥
असंजमम्मि चउरो मिच्छाइ दुवालस हवंति ।
चक्खु अचक्खू य तहा परिहारे दो पमत्ताई ॥६५॥
अजयाई खीणंता ओहीदंसे हवंति णव चेव ।
किण्हाइतिए चउरो मिच्छाई तेर सुक्काए ॥६६॥
तेऊ पम्मासु तहा मिच्छाई अप्पमत्तंता ।
खीणंता भव्वम्मि य अभव्वे मिच्छमेयं तु ॥६७॥

सामायिक-च्छेदोपस्थापनयोः प्रमत्ताद्यनिवृत्तिकरणान्तानि चत्वारि ४ भवन्ति । यथाख्याते उपशान्ताद्ययोगान्तानि चत्वारि ४ । सूक्ष्मसाम्परायसंयमे सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानमेकम् १ । देशसंयमे देशसंयमं पञ्चमं गुणस्थानं भवति ॥६४॥

असंयमे मिथ्यादृगादीनि चत्वारि ४ । चक्षुरचक्षुर्दर्शनद्वये मिथ्यादृष्ट्याऽऽदीनि क्षीणकषायान्तानि द्वादश १२ । परिहारविशुद्धिसंयमे प्रमत्ताप्रमत्तद्वयं २ भवति ॥६५॥

अवधिदर्शने असंयतादीनि क्षीणकषायान्तानि नव ९ भवन्ति । कृष्णादित्रिके स्थावरकायमिथ्यादृष्ट्याऽऽद्यसंयतान्तानि [चत्वारि ४] भवन्ति । शुक्ललेश्यायां संज्ञिपर्याप्तमिथ्यादृष्ट्यादिसयोगान्तानि त्रयोदश गुणस्थानानि १३ भवन्ति ॥६६॥

तेजोलेश्यायां पद्मलेश्यायां च संज्ञिमिथ्यादृष्ट्याद्यप्रमत्तान्तानि गुणस्थानानि सप्त ७ । भव्ये स्थावरकायमिथ्यादृष्ट्यादीनि क्षीणकषायान्तानि द्वादश १२ । सयोगायोगयोर्भव्यव्यपदेशो नास्तीति । अभव्ये मिथ्यात्वमेकम् १ ॥६७॥

संयममार्गणाकी अपेक्षा सामायिक और छेदोपस्थापना संयमवाले जीवोंके प्रमत्तसंयत आदि चार गुणस्थान होते हैं। यथाख्यातसंयमवाले जीवोंके उपशान्तकषाय आदि चार गुणस्थान होते हैं। सूक्ष्मसाम्परायसंयमवालोंके एक सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान और देशसंयमवालोंके

एक देशविरतगुणस्थान होता है। असंयमी जीवोंके मिथ्यात्व आदि चार गुणस्थान होते हैं। परिहार विशुद्धिसंयमवालोंके प्रमत्तसंयत आदि दो गुणस्थान होते हैं। दर्शनमार्गणाकी अपेक्षा चक्षुदर्शनी और अचक्षुदर्शनी जीवोंके मिथ्यात्व आदि बारह गुणस्थान होते हैं। अवधिदर्शनी जीवोंके असंयतसम्यग्दृष्टिको आदि लेकर क्षीणकषायतकके नौ गुणस्थान होते हैं। लेश्यामार्गणाकी अपेक्षा कृष्णादि तीन लेश्यावाले जीवोंके मिथ्यात्वादि चार गुणस्थान होते हैं। शुक्ललेश्यावालोंके मिथ्यात्वादि तेरह गुणस्थान होते हैं। तथा तेज और पद्मलेश्यावालोंके मिथ्यात्वको आदि लेकर अप्रमत्तसंयतान्त सात गुणस्थान होते हैं। भव्यमार्गणाकी अपेक्षा भव्यजीवोंके क्षीणकषायान्त बारह गुणस्थान होते हैं। अभव्य जीवोंके तो एकमात्र मिथ्यात्वगुणस्थान होता है ॥६४-६७॥

अट्ठेयारह चउरो अविरयाईणि होंति ठाणाणि।
उवसम-खय-मिस्सम्मि य मिच्छाइतियम्मि एय तण्णामं ॥६८॥

प्रथमोपशमसम्यक्त्वे असंयताद्यप्रमत्तान्तानि चत्वारि ४। द्वितीयोपशमसम्यक्त्वे असंयताद्युपशान्तकषायान्तानि गुणस्थानान्यष्टौ ८। कुतः? 'बिदियउवसमसम्मत्तं अविरदसम्मादि-संतमोहो त्ति'[1]। अप्रमत्ते द्वितीयोपशमसम्यक्त्वं समुत्पाद्योपर्युपशान्तकषायान्तं गत्वाऽधोऽवतरणेऽसंयतान्तमपि तत्सम्भवात्। क्षायिकसम्यक्त्वे असंयताद्ययोगान्तानि एकादश ११। सिद्धेषु तत्सम्भवति। क्षयोपशमे वेदकसम्यक्त्वे अविरताद्यप्रमत्तान्तानि चत्वारि ४। मिथ्यात्वादित्रिके मिथ्यादृष्टौ सासादने मिश्रे च स्व-स्वनाम्ना स्व-स्वगुणस्थानं भवति ॥६८॥

सम्यक्त्वमार्गणाकी अपेक्षा उपशमसम्यक्त्वी जीवोंके अविरतसम्यक्त्व आदि आठ गुणस्थान होते हैं। क्षायिकसम्यक्त्वी जीवोंके अविरतसम्यक्त्व आदि ग्यारह गुणस्थान होते हैं। क्षयोपशमसम्यक्त्वी जीवोंके अविरतसम्यक्त्व आदि चार गुणस्थान होते हैं। मिथ्यात्वादित्रिकमें तत्तन्नामक एक एक ही गुणस्थान होता है अर्थात् मिथ्यादृष्टियोंके पहला मिथ्यात्वगुणस्थान, सासादनसम्यग्दृष्टियोंके सासादननामक दूसरा गुणस्थान और सम्यग्मिथ्यादृष्टियोंके सम्यग्मिथ्यात्व नामक तीसरा गुणस्थान होता है ॥६८॥

मिच्छाई खीणंता सण्णिम्मि हवंति बार† ठाणाणि।
असण्णियम्मि जीवे दोण्णि य मिच्छाइ बोहव्वा ॥६९॥

संज्ञिजीवे संज्ञिमिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकषायान्तानि दश गुणस्थानानि भवन्ति १०। असंज्ञिजीवे मिथ्यात्व-सासादनगुणस्थानद्वयं ज्ञातव्यम् ॥६९॥

संज्ञिमार्गणाकी अपेक्षा संज्ञी जीवोंके मिथ्यात्वादि क्षीणकषायान्त बारह गुणस्थान होते हैं। असंज्ञी जीवोंमें मिथ्यात्वादि दो गुणस्थान जानना चाहिए ॥६९॥

मिच्छाइ-सजोयंता आहारे होंति तह अणाहारे।
मिच्छा साद अविरदा अजोइ* जोई य णायव्वा ॥७०॥

एवं मग्गणासु गुणट्ठाणा समत्ता

आहारके मिथ्यादृष्ट्यादिसयोगान्तानि त्रयोदश १३ भवन्ति। अनाहारके मिथ्यादृष्टि-सासादनाऽसंयताऽयोग-सयोगगुणस्थानानि पञ्च भवन्ति बोधव्यानि ५। कुतः? स अनाहारकः चतुर्गतिविग्रहकाले

1. गो० जी० ६९५।

†द बारस ठाणं। * ब अजोअ।

मिथ्यादृष्टि-सासादनाऽविरतगुणस्थाने भवति। सयोगस्य प्रतरलोकपूरणकाले कार्मणावसरे च भवति। अयोगि-सिद्धयोश्चानाहारो ज्ञातव्यः ॥७०॥ [तथा चोक्तम्—]

विग्गहगइमावण्णा समुग्घाया केवली अयोगिजिणा।
सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारया जीवा[1] ॥६॥

इति मार्गणासु यथासम्भवं गुणस्थानानि समाप्तानि।

आहारमार्गणाकी अपेक्षा आहारक जीवोंके मिथ्यात्वादि सयोगिकेवल्यन्त तेरह गुणस्थान होते हैं। तथा अनाहारक जीवोंके मिथ्यात्व, सासादन, अविरतसम्यक्त्व, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली ये पाँच गुणस्थान जानना चाहिए ॥७०॥

इस प्रकार मार्गणाओंमें गुणस्थानोंका निरूपण समाप्त हुआ।

अब गुणस्थानोंमें उपयोगोंका वर्णन करते हैं—

[मूलगा०११] [1]दोण्हं पंच य छच्चेव दोसु एक्कम्मि होंति वामिस्सा।
सत्तुवओगा सत्तसु दो चेव य दोसु ठाणेसु[2] ॥७१॥

५।५।६।६।६।७।७।७।७।७।७।७।२।२।

अथ गुणस्थानेषु यथासम्भवमुपयोगान् गाथात्रयेण दर्शयति—['दोण्हं पंच य छच्चेव' इत्यादि। मिथ्यात्व-सासादनयोर्द्वयोः उपयोगाः पञ्च ५। ततः अविरत-देशविरतयोः द्वयोः षडुपयोगाः ६। एकस्मिन् मिश्रे मिश्ररूपाः षडुपयोगाः ६। सप्तसु प्रमत्तादिषु सप्त उपयोगाः ७। सयोगयोर्द्वयोः गुणस्थानयोः द्वावुपयोगौ २ भवतः ॥७१॥

गुणस्थानेषु सामान्येन उपयोगाः—

गु०	मि०	सा०	मि०	सा०	दे०	प्र०	अ०	अ०	अ०	सू०	उ०	क्षी०	स०	अयो०
उप०	५	५	६	६	६	७	७	७	७	७	७	७	२	२

मिथ्यादृष्टि और सासादन इन दो गुणस्थानोंमें तीनों अज्ञान और चक्षुदर्शन तथा अचक्षुदर्शन ये पाँच-पाँच उपयोग होते हैं। अविरत और देशविरत इन दो गुणस्थानोंमें आदिके तीनों ज्ञान और आदिके तीनों दर्शन इस प्रकार छह-छह उपयोग होते हैं। एक तीसरे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानमें उक्त छहों मिश्रित उपयोग होते हैं। अर्थात् मत्यज्ञान मतिज्ञानसे मिश्रित होता है, इसी प्रकार शेष भी मिश्रित उपयोग जानना चाहिए। प्रमत्तविरतसे लेकर क्षीणकषायान्त सात गुणस्थानोंमें आदिके चार ज्ञान और आदिके तीन दर्शन इस प्रकार सात-सात उपयोग होते हैं। सयोगिकेवली और अयोगिकेवली इन दो गुणस्थानोंमें केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दो उपयोग होते हैं ॥७१॥

अब उक्त मूलगाथाके इसी अर्थको दो भाष्यगाथाओंके द्वारा स्पष्ट करते हैं—

[2]अण्णाणतियं‡ दोसुं† सम्मामिच्छे तमेव मिस्सं तु।
णाणाइतियं जुयले सत्तसु मणपज्जएण तं चेव ॥७२॥

---

1. सं पञ्चसं० ४, ११। 2. ४, 'तत्राज्ञानत्रय' इत्यादिगद्यभागः (पृ० ८२)।

१. प्रा०पञ्चसं० १, ११७। गो० जी० ६६५। २. शतक० ११।

‡द ब एयं। †द ब जोगो।

दंसणआइदुअं दुसु दससु तं ओहिदंसणाजुत्तं ।
केवलदंसण-णाणा उवओगा दोसु य गुणेसु ॥७३॥

३	३	३	३	३	४	४	४	४	४	४	४	सजोगाजोगाणं २।२
२	२	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	

इति गुणट्ठाणेसु उवओगा समत्ता।

गुणस्थानेषु उपयोगाः न्यस्ताः । [तान्] गाथाद्वयेन विशेषयति-मिथ्यादृष्टौ सासादने च अज्ञानत्रिकं कुमति-कुश्रुत-विभङ्गज्ञानोपयोगास्त्रयः । सम्यग्मिथ्यात्वे मिश्रे त एव मिश्ररूपज्ञानोपयोगास्त्रयः ३ । ततो युगले असंयमे देशे च ज्ञानादित्रयं सुमति-सुश्रुतावधिज्ञानोपयोगास्त्रयः ३ । ततः प्रमत्तादि-क्षीणकषायान्तेषु सप्तगुणस्थानेषु मनःपर्ययेण सहिताः त एव त्रयः, इति चतुर्ज्ञानोपयोगाः ४ स्युः । मिथ्यात्व-सासादनयोर्द्वयो दर्शनाद्यं द्विकं चक्षुरचक्षुर्दर्शनोपयोगौ द्वौ २ । ततः दशसु मिश्रादि-क्षीणकषायान्तेषु तदेवावधिदर्शन-युक्तं चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनोपयोगास्त्रयः भवन्ति । द्वयोः सयोगाऽयोगयोः केवलदर्शनं १ केवलज्ञानं च द्वौ उपयोगौ भवतः २। २। ॥७२–७३॥

गुणस्थानेषु विशेषेण उपयोगाः—

गु०	मि०	सा०	मि०	अ०	दे०	प्र०	अ०	अ०	अ०	सू०	उ०	क्षी०	स०	अयो०
ज्ञानो०	३	३	३	३	३	४	४	४	४	४	४	४	१	१
दर्शनो०	२	२	३	३	३	३	३	३	३	३	३	३	१	१

इति गुणस्थानेषु उपयोगा दर्शिताः ।

आदिके दो गुणस्थानोंमें तीनों अज्ञान होते हैं। सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानमें तीनों अज्ञान तीनों सद्-ज्ञानोंसे मिश्रित होते हैं। चौथे और पाँचवें इन दो गुणस्थानोंमें मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञानोपयोग होते हैं। छठेसे लेकर बारहवें गुणस्थान तक सात गुणस्थानोंमें मनः-पर्ययज्ञानके साथ उक्त तीनों ज्ञानोपयोग होते हैं। आदिके दो गुणस्थानोमें आदिके दो दर्शनो-पयोग होते हैं। तीसरेसे लेकर बारहवें तक दश गुणस्थानोंमें अवधिदर्शनसे युक्त आदिके दोनों दर्शनोपयोग होते हैं। तेरहवें और चौदहवें इन दो गुणस्थानोंमें केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दो-दो उपयोग होते हैं ॥७२–७३॥

अब गुणस्थानोंमें योगोंका वर्णन करते हैं—

[मूलगा०१२] [1]तिसु तेरेगे दस णव सत्तसु इक्कम्हि हुंति एक्कारा ।
इक्कम्हि सत्त जोगा अजोयठाणं हवइ सुण्णं[1] ॥७४॥

१३।१३।१०।१३।९।११।९।९।९।९।९।९।७।०।

अथ गुणस्थानेषु यथासम्भवं योगान् गाथात्रयेण दर्शयति—['तिसु तेरे एगे दस' इत्यादि ।] त्रिषु त्रयोदश १३, एकस्मिन् दश १०, सप्तसु नव ९, एकस्मिन् एकादश ११ भवन्ति । एकस्मिन् सप्त-योगाः ७ । अयोगिस्थानं शून्यं भवेत् ॥७४॥

---

1. ४, १२-१३ ।

१. शतके । एतद्गाथास्थाने इमे द्वे गाथे उपलभ्येते—

तिसु तेरस एगे दस नव जोगा होंति सत्तसु गुणेसु ।
एक्कारस य पमत्ते सत्त सजोगे अजोगिक्के ॥१२॥
तेरस चउसु दसेगे पंचसु नव दोसु होंति एगारा ।
एगम्मि सत्त जोगा अजोगिठाणं हवइ एगं ॥१३॥

गुणस्थानेषु योगाः—

मि०	सा०	मि०	अ०	दे०	प्र०	अ०	अ०	अ०	सू०	उ०	क्षी०	स०	अयो०
१३	१३	१०	१३	९	११	९	९	९	९	९	९	७	०

इति गुणस्थानेषु योगा निरूपिताः ।

मिथ्यात्व, सासादन और अविरतसम्यक्त्व इन तीन गुणस्थानोंमें तेरह-तेरह योग होते हैं। एक सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानमें दश योग होते हैं। छठे गुणस्थानको छोड़कर पाँचवेंसे बारहवें तक सात गुणस्थानोंमें नौ-नौ योग होते हैं। एक प्रमत्तसंयत नामक छठे गुणस्थानमें ग्यारह योग होते हैं। एक सयोगिकेवली नामक तेरहवें गुणस्थानमें सात योग होते हैं और अयोगिकेवली नामक एक चौदहवाँ गुणस्थान योग-रहित होता है ॥७४॥

अब उक्त मूलगाथाके अर्थका दो भाष्यगाथाओंसे स्पष्टीकरण करते हैं—

[1]आहारदुगूणा तिसु वेउव्वोराल मण-वचि चउका ।
मिस्से वेउव्वूणा सत्तसु आहारदुयजुया छट्ठे ॥७५॥
भासा-मणजोआणं असच्चमोसा य सच्चजोगा य ।
[2]ओरालजुयल-कम्मा सत्तेदे होंति जोगिम्मि ॥७६॥

इति गुणस्थानेषु चतुर्दशसु योगाः दर्शिताः ॥

मिथ्यात्व-सासादनाऽसंयमगुणस्थानेषु त्रिषु आहारकाऽऽहारकमिश्रद्विकोना अन्ये त्रयोदश योगाः १३ । मिश्रे वैक्रियिकौदारिककाययोगौ २, सत्यासत्योभयानुभयमनो-वचनयोगाः अष्टौ, एवं दश १० । अप्रमत्ताऽपूर्वकरणाऽनिवृत्तिकरण-सूक्ष्मसाम्परायोपशान्त-क्षीणकषाय-देशविरतगुणस्थानेषु सप्तसु वैक्रियि[कद्वि]कोना औदारिककाययोगः १, मनो-वचनयोगाः अष्टौ ८; एवं नव योगाः ९ भवन्ति । षष्ठे प्रमत्ते पूर्वोक्ताः नव ९, आहारकद्विकयुक्ता एकादश ११ ॥७५॥

सयोगिनि गुणस्थाने भाषा-मनोयोगानां मध्ये असत्यमृषायोगौ मुक्त्वा अन्ये अनुभयमनो-वचनयोगौ २, सत्यमनो-वचनयोगौ २, औदारिकौदारिकमिश्र-कार्मणकयोगास्त्रयः ३, इत्येते सप्त योगाः सयोगिकेवलिनि भवन्ति ॥७६॥

इति गुणस्थानेषु योगा दर्शिताः ।

पहले, दूसरे और चौथे इन तीन गुणस्थानोंमें आहारकद्विकके विना शेष तेरह योग होते हैं। तीसरे मिश्रगुणस्थानमें चारों मनोयोग, चारों वचनयोग, औदारिककाययोग और वैक्रियिककाययोग ये दश योग होते हैं। इन दश योगोंमेंसे वैक्रियिककाययोगको छोड़कर शेष नौ योग छठे गुणस्थानके सिवाय शेष सात गुणस्थानोंमें होते हैं। छठे गुणस्थानमें आहारकद्विकयुक्त उपर्युक्त नौ योग अर्थात् ग्यारह योग होते हैं। सयोगिकेवलीमें भाषा और मनोयोगके असत्यमृषा और सत्ययोगरूप चार भेद, तथा औदारिकद्विक और कार्मणकाययोग ये तीन; इस प्रकार कुल सात योग होते हैं ॥७५–७६॥

इस प्रकार चौदह गुणस्थानोंमें योगोंका निरूपण किया ।

---

1. सं० पञ्चसं० ४, 'मिथ्यादृक्सासनाव्रतेषु' इत्यादिगद्यभागः (पृ० ८३) । 2. ४, १४ ।